PS-02

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

भारतीय राजनीतिक विचारक

पाठ्यक्रम अभिकल्प समिति

अध्यक्ष

प्रो. (डॉ.) नरेश दाधीच
कुलपति
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय ,
कोटा (राजस्थान)

संयोजक /सदस्य

संयोजक

डॉ. अशोक शर्मा
सह-आचार्य, राजनीति विज्ञान विभाग
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,कोटा

सदस्य

1. **प्रोफेसर (डॉ.) एम. पी. दुबे**
   अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग
   इलाहबाद विश्वविद्यालय,इलाहबाद
2. **डॉ. लीला राम गुर्जर**
   सह- आचार्य, राजनीति विज्ञान विभाग
   वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा
3. **प्रोफेसर (डॉ.) अरुण चतुर्वेदी**
   सेवानिवृत आचार्य
   मोहनलाल सुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर
4. **डॉ. मंजू सिंह**
   सहायक आचार्य, राजनीति विज्ञान विभाग
   राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
5. **प्रोफेसर अनाम जैतली**
   आचार्य, राजनीति विज्ञान विभाग
   वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा
6. **डॉ. फूल सिंह गुर्जर**
   व्याख्याता, राजनीति विज्ञान विभाग
   राजकीय महाविद्यालय, झालावाड़
7. **प्रोफेसर (डॉ.) एस. एन. जैन**
   आचार्य, राजनीति विज्ञान विभाग
   राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
8. **डॉ. उमेश शर्मा**
   व्याख्याता, राजनीति विज्ञान विभाग
   राजकीय एम. एस.जे. महाविद्यालय, भरतपुर

संपादन तथा पाठ लेखन

संपादक

प्रोफेसर (डॉ.) अनाम जैतली
आचार्य, राजनीति विज्ञान विभाग
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

डॉ. लीला राम गुर्जर
सह- आचार्य, राजनीति विज्ञान विभाग
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

डॉ. अशोक शर्मा
सह-आचार्य, राजनीति विज्ञान विभाग
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

पाठ-लेखक		इकाई संख्या
• **प्रोफेसर (डॉ.) अनाम जैतली** आचार्य, राजनीति विज्ञान विभाग **वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा**	–	1
• **डॉ. फूल सिंह गुर्जर** व्याख्याता, राजनीति विज्ञान विभाग **राजकीय महाविद्यालय, झालावाड़**	–	2,14
• **डॉ. अनिल सक्सेना** व्याख्याता, राजनीति विज्ञान विभाग **राजकीय एम. एस. जे. महाविद्यालय, भरतपुर**	–	3
• **डॉ. अलका अग्रवाल** व्याख्याता, राजनीति विज्ञान विभाग **राजकीय एम. एस. जे. महाविद्यालय, भरतपुर**	–	4
• **प्रोफेसर (डॉ.) बी. आर. पुरोहित** से. नि. आचार्य, राजनीति विज्ञान विभाग **मोहनलाल सुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर**	–	5
• **डॉ. लता चंदोला** व्याख्याता, राजनीति विज्ञान विभाग **बी. डी.के. कॉलेज, आगरा**	–	6,8
• **डॉ. दीप्तिमा शुक्ला**	–	7

व्याख्याता, राजनीति विज्ञान विभाग
कानोडिया महिला महाविद्यालय, जयपुर

- **डॉ. हुकमराम सुथार** – 9
  व्याख्याता, राजनीति विज्ञान विभाग
  राजकीय महिला महाविद्यालय,बाड़मेर
- **डॉ. शिखा अग्रवाल** – 10
  व्याख्याता, राजनीति विज्ञान विभाग
  जे. बी. शाह महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय,झुंझुंनू
- **प्रो. (डॉ.) एस. एन. जैन** – 11,13
  आचार्य, राजनीति विज्ञान विभाग
  राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
- **प्रो. (डॉ.) नरेश दाधीच** – 12
  कुलपति
  वर्धमान महावीर विश्वविद्यालय, कोटा
- **डॉ. राधाकिशन** – 15,16
  व्याख्याता, राजनीति विज्ञान विभाग
  राजकीय महाविद्यालय, सांभर

अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

प्रो. नरेश दाधीच	**प्रो. एम. के. घड़ोलिया**	**योगेन्द्र गोयल**
कुलपति	निदेशक	प्रभारी
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,कोटा	**संकाय विभाग**	**पाठ्यक्रम सामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग**

पाठ्यक्रम उत्पादन

योगेन्द्र गोयल
सहायक उत्पादन अधिकारी
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

उत्पादन -पुनः मुद्रण: अगस्त, 2012 **ISBN: 13/978-81-8496-089-1**

इस सामग्री के किसी भी अंश की वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में अथवा मिमियोग्राफी (चक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यत्र पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है ।

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,कोटा (राजस्थान)

अनुक्रमणिका

इकाई-1:	प्राचीन भारतीय चिंतन: प्रमुख वैचारिक आयाम	7–18
इकाई-2:	मनु	19–36
इकाई-3:	कौटिल्य	37–57
इकाई-4:	शुक्र	58–85
इकाई-5:	सामाजिक - सांस्कृतिक पुनरुत्थान एवं राष्ट्रवाद	86–102
इकाई-6:	राममोहन रॉय	103–121
इकाई-7:	महर्षि दयानंद सरस्वती	122–145
इकाई-8:	गोपाल कृष्ण गोखले	146–161
इकाई-9:	लोकमान्य बालगंगाधर तिलक	162–197
इकाई-10:	विवेकानन्द	198–211
इकाई-11:	सामाजिक - राजनीतिक परिवर्तन के विविध वैचारिक आधार	212–225
इकाई-12:	महात्मा गाँधी	226–241
इकाई-13:	जवाहरलाल नेहरू	242–256
इकाई-14:	भीमराव अंबेडकर	257–277
इकाई-15:	मानवेंद्र नाथ रॉय (एम. एन. रॉय)	278–296
इकाई-16:	जयप्रकाश नारायण	297–313

प्रस्तावना

राजनीति विज्ञान के इस पाठ्यक्रम में आप भारतीय चिंतन की प्रमुख धाराओं का अध्ययन करेंगे । प्राचीन काल के विचारकों में कौटिल्य, मनु तथा शुक्र आपके ध्यान का केन्द्र होंगे जबकि आधुनिक काल के विचारकों में राजा राजराममोहन रॉय, दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द, बाल गंगाधर तिलक, गोपालकृष्ण गोखले, महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू, एम. एन. रॉय तथा जयप्रकाश नारायण प्रमुख रूप से आपके अध्ययन की विषय - वस्तु का प्रतिपादन करेंगे । उपरोक्त चिंतकों के संदर्भ में ही भारतीय चिंतनधारा सतत प्रवाही एवं प्रभावी रही है।

भारतीय राजनीति चिंतन व्यापक भारतीय चिंतन एवं मनीषा का अनुगामी है । अपनी मूल प्रकृति में भारतीय चिंतन कोरा बुद्धि-विलास नहीं बल्कि अनुभूति की गहनतम स्थितियों से उपजा वह अस्तित्व - कारण है जो व्यक्ति को व्यक्ति बनाता है । इस अर्थ में वह मूलत आध्यात्मिक व नैतिक है । आपने इस रूप में भारतीय चिंतन चेतना की सतत साधना व उसके आधार पर 'श्रेयस' संधान को समर्पित है । यह साधना एवं संधान वस्तुत कालातीत और सनातन है।

भारतीय राजनीतिक चिंतन में आध्यात्मिकता और धर्म का सतत समावेश प्रकट होता है। 'व्यक्ति क्या है' और वह 'क्या होने चाहिये'- ये दोनों प्रसंगराजनीतिक चिंतक धारा को उसका अभीष्ट प्रवाह उपलब्ध कराते हैं । अतएव, पुनरुत्थानवादी संकल्पनाएँ भी उनके अधीन रही हैं और राष्ट्रवादी अभिव्यंजनाएं भी । चाहे लोकमान्य तिलक हों या महात्मा गाँधी धर्म और अध्यात्म राजनीतिक चिंतन में सतत विद्यमान दिखाई देता है । भारत में उदारवादी विचारक भी विशुद्ध व्यक्तिवादी नहीं वरन समष्टिवादी प्रकट होते हैं ।

हमें विश्वास है कि आप भारतीय राजनीतिक चिंतक विषयक प्रस्तुत इकाइयों के अध्ययन के दौरान भारतीय भावधारा का यथेष्ट अनुभव एवं अनुशीलन कर सकेंगे । भारतीयता के मूल स्वर एवं उनकी सांदर्भिक प्रस्तुत इन इकाईयों में पर्याप्त रूप से संग्रहीत हैं जो आपको विशिष्ट वैचारिक संदर्भ के साथ- साथ पशर्व कारकों तथा नियामक परिप्रेक्ष्यों से भी भलीभांति परिचित कराएंगी । इन दिनों के योग से ही भारतीय राजनीतिक चिंतन चरितार्थ होता है ।

इकाई-1

प्राचीन भारतीय चिंतन : प्रमुख वैचारिक आयाम

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 'प्राचीन' क्या?

1.3 भारतीयता का अभिप्राय

1.4 भारतीय चिंतन के प्रमुख आयाम

1.4.1 धर्म और अध्यात्म

1.4.2 भारतीय दर्शन का स्वरूप

1.4.3 भारतीय जीवन शैली तथा उसमें निहित जीवन-मूल्य

1.4.4 जीवन और ज्ञान की समग्रता

1.5 भारतीय चिंतन के राजनीतिक निहितार्थ

1.5.1 राजनीतिक चिंतन में संस्कृति और अध्यात्म की पूर्व-भूमिका

1.5.2 राजनीतिक चिंतन जीवन-समग्रता का अनुगामी

1.5.3 एवं लोक-सम्प्रभुता का प्रबल आग्रह

1.5.4 राजनीति का साधनात्मक मूल्य

1.6 सारांश

1.7 संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

1.8 अभ्यास प्रश्न

1.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप जान पायेंगे-

- प्राचीन भारतीय चिंतन के आयामों से परिचय
- उसके पार्श्व कारकों (धर्म, दर्शन, ज्ञान, जीवन आदि) का अभिज्ञान
- भारतीय चिंतन के राजनीतिक निहितार्थो का' अनावरण
- राजनीति की साधनात्मकता का बोध, तथा
- जीवन-उत्कर्षकारी राजनीतिक अभिव्यंजनाओं का निरूपण।

1.1 प्रस्तावना

'प्राचीन' भारतीय चिंतन और उसके आयाम परवर्ती भारतीय -धारा में बुनियादी महत्व के हैं। वहाँ प्रकट विचार संकेत तथा ज्ञान-धाराएँ बाद के वैचारिक क्रम भी यथावत् रहीं। जब यह क्रम टूटा तो न केवल वैचारिक परम्परा की श्रृंखला टूटी बल्कि व्यक्ति, समाज और संस्कृति-सभ्यता के विकास क्रम भी टूट चले। भारत में पूर्व मध्यकाल का लगभग 400-500 वर्षो का

चिंतन, कर्म, मनन और अनुशीलन की दृष्टि से प्राय: 'अन्धकार युग का सा आभास देता। चिंतन के अविरल प्रवाह ने फिर सभ्यता-संस्कृति तथा समाज-व्यक्ति का उत्थान दिखाया जो मुगलकाल में भक्ति, कला-साहित्य विमर्श में प्रचुरता से दिखाई दिया। आधुनिक काल में धर्म से फिर, आत्म-विद्या से जुड़ाव, मूल्यों की प्रधानता तथा सामाजिक-राजनीतिक सगठन की साध्य से मूल्यवत्ता आदि ने और अधिक उत्कर्षकारी जीवन-प्रसंग संयोजित किये, उस समय वस्तुत: 'आत्मा की पुनर्खोज' चरितार्थ हुई। इस ऐतिहासिक प्रसंग में यह कहा जा सकता है कि प्राचीन चिंतन के आयाम भारत को उसकी अस्मिता और अस्तित्वगत विशेषताएँ देते हैं। इनका विच्छेद भारत को विस्मृति और अचेतना देकर भारतीय समाज के लिये अपकर्षकारी सिद्ध होता है। मूल्यों की पुन: 'संस्कृति और अध्यात्म का पुनरावर्तन तथा श्रेयस् प्राप्ति का पुन: संकल्प भारत को सही अर्थो 'आधुनिक' बनाता है।

इस इकाई में प्राचीन भारतीय चिंतन के वैचारिक आयामों का संधान किया जाएगा। इसमें मूल स्वर 'प्राचीनता' से पुन: जुड़ाव का है क्योंकि ये वैचारिक आयाम भारत को उसकी प्रामाणिक अर्थवत्ता प्रदन करते हैं। ये आयाम भारतीय अस्मिता व अस्तित्व का हैं। कौटिल्य, मनु, व्यास और अन्य 'कथित प्राचीन' विचारक उन विचारों और चिंतन-प्रक्रिया का करते हैं जो परवर्ती काल में बारम्बार मुखरित होती है। 'सम्भवामि युगे-युगे' जीवन की इसी का संधान करता है। यह अकारण ही नहीं है कि प्राचीन वैचारिक प्रसंगों और महाभारत तथा गीता की आधुनिक काल में भी अभिनव टीकाएं और प्रतिपादन प्रस्तुत किए गए। गाँधीजी समेत अनेक विचारकों ने इन प्राचीन प्रसंगों को यथाक्रम पुनरूद्घाटित किया। यह सिलसिला बरकरार रहा।

1.2 'प्राचीन' क्या?

यदि भारतीय चिंतन-धारा में प्राचीन सतत् विद्यमान है और वह भी है और तत्काल आधुनिक भी तो क्या उसे 'प्राचीन' कहना प्रासंगिक है? क्या 'प्राचीन' खण्डित स्वरूप में कभी भी आधुनिक कहा जा सकता है ?

भारत में काल की अवधारणा पश्चिम की भांति 'एक रेखीय' नहीं बल्कि 'चक्रीय' है। एकरेखीय समय(काल) तो 'प्राचीन', 'मध्य' और 'आधुनिक' हो सकता है परन्तु चक्रीय में तो काल की बारम्बार पुनरावृत्ति होती रहती है। काल कभी खण्डित, पुरातन और बदली प्रकृति का नहीं होता। वह तो सदैव एक, सतत, अविच्छिन्न और पुनरावर्तक होता है। वह पुनर्नवा है (बारम्बार अपने आप नया होता रहता है)। अत: पश्चिम की खण्डित और युगीन काल-चेतना उस पर लग हो ही नहीं सकती।

भारतीय मनीषा में काल शाश्वत है और कालातीत प्रकृति के साथ उसका साम्य है। अतएव, काल न तो 'प्राचीन' है और न 'आधुनिक'। वह तो बारम्बार एक सूत्र में बंधा हुआ सतत प्रकट होता रहता है। वह सूत्र है शाश्वतता, सनातनता और स्थायित्व का सूत्र। प्लेटो के शब्दों में काल " शाश्वतता की परिवर्तनशील छवि है।" इस अर्थ में शाश्वत तत्व प्रधान है और काल मात्र उसकी अनुकृति। ऐसी स्थिति में 'प्राचीन' तत्काल 'आधुनिक' है और 'आधुनिक' अपनी

मूल प्रकृति में 'प्राचीन'। 'प्राचीन' भी नहीं, बल्कि सतत प्रभावी और अक्षुण्ण। भारतीय धारा इस प्रवृत्ति का सजीव उदाहरण है।

1.3 भारतीयता का अभिप्राय

भारत यद्यपि दक्षिण एशिया में स्थित एक देश-विशेष है। भौगोलिक रूप से पाकिस्तान, बंगलादेश, श्रीलंका, नेपाल तथा चीन उसके पड़ोसी देश हैं। भारत का एक गौरवशाली इतिहास है, एक स्वर्णिम संस्कृति है, उसकी शानदार और व्यवहारशील लोकतांत्रिक प्रणाली है। वहाँ बहुजातीयता तथा बहुधार्मिकता का बोलबाला है और वहाँ अनेकानेक विभूतियाँ बारम्बार अवतरित होकर अपनी देय भूमिकाओं का प्रभावी निर्वाह करती आई हैं। ये सब यद्यपि वास्तविकताएँ हैं और इस कारण भारत की प्रामाणिक परिचायक भी परन्तु भारत की भारतीयता इन वास्तविकताओं से सर्वथा अछूती है। उसको तो कुछ सुनिश्चित गुणधर्मिता से ही जाना समझा जा सकता है।

भारतीयता अपने मूल रूप में सनातनता है यानि वह सब कुछ जो सतत प्रवाही और प्रभावी है। भारतीयता की सनातनता में सब रंग और छवियाँ एकसाथ खिलती-खेलती दिखाई देती हैं। कहीं कोई विरोधाभास नहीं। आदर्श और यथार्थ एक साथ हैं, धर्म और विज्ञान समस्थलीय हैं और राजा और महर्षि 'राजर्षि' रूप में एकसाथ प्रकट होते हैं। विवेक और कर्म परस्पर मिल कर कर्म-कौशल का योग चरितार्थ करते हैं। योग स्वयं वियोग से जुड़ कर 'योग' बनता है और इस प्रकार आभासित विरोधाभासों का भारतीयता के तट पर 'संगम' और 'समागम' होता है। हर तत्व बेतरतीब दिखाई देता है पर होता नहीं। जो होता है वह और बहुत कुछ होने की संभावनाएँ छोड़ जाता है। इन संभावनाओं की सतत साधना ही जीवन है और उसकी सद्भावी पराकाष्ठा जीवन का उत्कर्षशील सत्य - "पूर्णमद पूर्णमिदम्।"

भारतीयता के ये तत्व भारतीय चिंतनधारा में सदा प्रभावी रहे हैं। इसी कारण कौटिल्य शक्तिवाद और सामर्थ्य-निपुणता के बावजूद कभी मेक्यावेली नहीं हो सका। महाभारत जय-विजय का वास्तविक चित्रण करते हुए भी अपने मूल कलेवर में सब भूतों को आत्मसात करने (सर्वभूतात्मवाद) का संकल्प परिपूर्ण कर सका और स्वयं शक्ति सर्वदा नीति और शील का वरण करते हुए दिखाई देती रही। प्राचीन-चिंतन काल के ये तत्त्व आधुनिक काल-चिंतन को भी अनुप्राणित करते रहे। इसीलिए आधुनिक भारतीय दर्शन में 'यथार्थवादी आदर्शवाद ' (Realist Idealism) का प्रासंगिक समावेश हुआ और एक दूसरे संदर्भ में एकात्मवादी बहुलवाद (Intergral Pluralim) का प्रवर्तन भी। आभासित विरोधाभासियो का सम्मिलन और सदभावी रूपांतरण भारतीयता का एक नैसर्गिक तत्त्व है। इसीलिए भारत में परम्परा पश्चिम की 'ट्रेडिशन' नहीं बल्कि अपना रूप-विधान और गुणधर्म लगातार बदलने और 'पुनर्नवा' होने का एक सतत प्रवाही प्रसंग है। वास्तव में जो प्रवाही है वह सतत प्रवाहशील रहता है और ठोस पारिस्थितिक कारणों से अक्सर टूटता है, क्षणभंगुर हो जाता है।

बोध प्रश्न - 1

1. 'प्राचीनता' और 'भारतीयता ' कैसे परस्पर जुड़े हुए हैं ?

उत्तर : ……

……

1.4 भारतीय चिंतन के प्रमुख आयाम

इकाई के इस खण्ड में आपको भारतीय चिंतन के प्रमुख आयामों का परिचय दिया जाएगा। ये वो आयाम हैं जो भारतीय चिंतन को सदैव अनुप्राणित-अनुप्रेरित करते रहे हैं। इनके क्रम में ही भारतीय चिंतन स्थायी है, नितान्त भारतीय है और सार्वत्रिक चेतना का परिचायक भी।

1.4.1 धर्म और अध्यात्म

भारतीय मनीषा में धर्म की धारणा प्राय: कुछ सुनिश्चित नैतिक सिद्धांतों के रूप में की जाती रही है।' ये वो नैतिक सिद्धांत हैं जो व्यक्ति और समाज को आधार उपलब्ध कराते हैं। 'धृ' धातु से प्रकट धर्म वह तत्त्व है जो तत्त्वतः "धारण करता है" (धारयति इति धर्म:)। अतएव व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि वह ज्ञान और कर्म दोनों स्तरों पर धर्म अपनाए। वैयक्तिक धर्मपरायणता सकल रूप से धर्म की सामाजिकता का निर्वाह करती है। श्रीमद्भगवद्गीता में धर्म का रहस्य हृदय की नैतिक विवेचना में निहित बताया गया है (धर्मस्य 'तत्त्वम् निहितम गुहायाम)। गीता के अनुसार धर्म न केवल नैतिक सिद्धांतों का जीवनपरक संधान है बल्कि वह जीवन व्यवहार का नियामक भी है। इस रूप में धर्म सार्वत्रिक है और जहाँ धर्म है वहीं विजय है (यतो धर्मस् ततो जय:)। जीवन की सार्थकता धर्म से ही साकार होती है।

भारतीय चिंतन में धर्म तत्व और उसका सार सतत् विचारणीय रहा है। जीवन-मूल्यों, सृजनधर्मिता, जीवन के उत्कर्ष, साध्य-साधन सम्पन्नता, लोकनीति के, दण्ड-विधानों आदि के संदर्भ में धर्म-व्याख्याओं ने भारतीय चिंतन को नित नए आयाम किये हैं। इस संदर्भ में 'प्राचीन' और 'आधुनिक' चिंतन में कहीं कोई भेद नहीं है। जहाँ अर्थशास्त्र का लौकिक पक्ष धर्म से अनुप्राणित है वहीं तिलक, विवेकानन्द, गाँधी जैसे विचारक भी अपने-अपने वैचारिक संदर्भो में धर्म का अनुशीलन करते रहे हैं।

अध्यात्म विद्या की भारतीय परम्परा काफी समृद्ध रही है। भारत' में ज्ञानी उसे माना जाता है जो वास्तव में आत्म-ज्ञानी है। आत्मज्ञान से अन्तर्दृष्टि प्रदीप्त होती है "ज्ञानी की यह प्रतिमा न पुस्तकों के बोझ से दबे हुए शास्त्री की है न उपकरणों से लैस की। यह प्रतिमा है आत्म-साक्षात्कार तक पहुँचे हुए जीवनमुता पुरूष की जिसका ज्ञान सामग्री पर निर्भर नहीं करता, न भौतिक न सामाजिक।"[4] इसी परम्परा को जीवंत करते हुए महात्मा बुद्ध ने अपने अन्त समय में व्याकुल अपने भाई-मित्र और शिष्य आनन्द को सलाह दी थी : "अप्प दीपो भव" (अपना दीप अपने आप बनो)।

अध्यात्म विद्या सरल अर्थों में अपने आप के संज्ञान और तदुपरांत आत्म-सिद्धि की साधना है। यह साधना जीवन पर्यन्त चलती रहती है। इस साधना प्रक्रिया में अनन्त के

आत्मोत्कर्ष के अनुरूप सीमित अनुभव्यता का समायोजन होता हैं[5] अर्थात् इन्द्रियजन्य अनुभवों का सतत अतिक्रमण, उनसे आगे सतत यात्रा और उस क्रम में विभिन्न अनुभव सोपानों को पाते और छोडते हुए परमार्थ का उत्तरोत्तर स्पष्ट होता संज्ञान। आत्म-ज्ञान और आत्म-सिद्धि कोई घटना या उपलब्धि नहीं बल्कि एक अनन्तिम वृत्ति है जो साधक को साधना से लगातार जोड़े रखती है। अभीष्ट परमार्थ या अंतिम यथार्थ है और उसकी ओर सतत प्रयाण जीवन का संकल्प। व्यक्ति की चेतना इस प्रयाण का माध्यम है और उत्तरोत्तर बढ़ते हुए स्वयं वैयक्तिक चेतना का भी अतिक्रमण करना होता है ताकि सर्वचेतना से जुड़ा जा सके। स्वयं सर्वचेतना अरूप, अव्यक्त तथा अनुपमेय होती है। यह कभी न समाप्त होने का यात्रा-क्रम व्यक्ति का सतत परिमार्जन और परिष्कार करता है। इससे सम्पन्न व्यक्ति आत्म-बोध से प्रकाशित और सतत उत्कर्षशील होता है। अपने आप से पहचान का दायरा बढ़ते-बढ़ते उसे यथार्थ के बेहद करीब तो लाता है परन्तु जितनी नजदीकी होती है उतना ही यह महसूस होता जाता है कि मंजिले अभी और हैं, आसमान की और थाह पानी है, और अधिक ऊँची उड़ान अभी बाकी है। जीवन इस सतत साधना को समर्पित रहता है, वह। चुक जाता है पर साधना फिर भी शेष रह जाती है।

यथार्थ के इस संधान से स्वयं जीवन और अस्तित्व का जुड़ा होता है। दोनों एक-दूसरे को थामे-पकड़े बढ़ते जाते हैं। इसीलिए भारत में आदर्श और यथार्थ के बीच कहीं कोई द्वन्द्व नहीं है। भारत में यथार्थवादी आदर्शवाद[6] (रिएलिस्ट आइडिएलिज्म) और व्यवहारशील आदर्शवाद' (प्रैगमैटिक आईडिएलिज़्म) की संकल्पनाएँ होती आई हैं। जैसे बहती नदी में नौकायन दो चप्पुओं के सहारे किया जाता है उसी प्रकार जीवन-वैतरणी पार करने के लिये आदर्श और यथार्थ दो चप्पू बन कर चरितार्थ होते हैं। उनके सहारे-जीवन नैया ठिकाने लगाई जाती है।

भारतीय चिंतन क्रम में अध्यात्मवादी संवेग सदैव उपस्थित रहे हैं। महाभारत, अर्थशास्त्र या मनुसंहिता आत्म-ज्ञानी संवेदनशीलता का प्रतिनिधित्व करते हैं। लौकिक उपलब्धि महत्वपूर्ण है परन्तु व्यापक जीवन-सत्य में वह आत्मक्रमोन्नित ही रहती है, उसको लांघना ही होता है ताकि आत्म चेतना से प्रकट यथार्थ-बोध व्यक्ति को उसके मूल अस्तित्व-कारण से जोड़ सके। केवल तभी सांसारिक या लौकिक उपलब्धियाँ सहायक हो सकती है। अन्यथा वे दुर्लध्य अवरोध बन कर स्वयं चेतना-यात्रा को ही भंग कर देंगी। उनके प्रति सचेत आग्रह अपरिहार्य है। इसी चेतना को आधार बनाकर गाँधीजी ने स्वयं राजनीति के आध्यात्मीकरण पर बल दिया ताकि उससे जन-चेतना और तदन्तर जनोत्कर्ष चरितार्थ हो सके।

1.4.2 भारतीय दर्शन का स्वरूप

भारत में दर्शन सिर्फ 'फिलॉसफी' नहीं है क्योंकि फिलॉसफी मूलत: बुद्धि-व्यापार और तार्किक-निर्मितियों की एक सुव्यवस्थित व्यवस्था मात्र ही है। 'फिलॉसफी' के विषय में प्रसिद्ध भारतीय दार्शनिक के.सी. भट्टाचार्य का यह आकलन विचारणीय है कि "..... तर्क और ज्ञानमीमांसा समेत फिलॉसफी न केवल वास्तविक ज्ञान हीं नहीं है बल्कि वह तो शब्दत: चिंतन भी नहीं है; फिर भी उसकी विषय-वस्तु को विश्वासपूर्ण ऐसा सत्य माना जाता है जैसे इस सत्य

के सहारे पूर्ण सत्य जाना जा सकता है"। [8] आधुनिक पाश्चात्य फिलॉसफी को तीन विकट कमियों से ग्रस्त माना जाता है- 1. उसमें अन्तर्निहित रूप से तत्त्व मीमांसा के विरोध की प्रवृत्ति विद्यमान है; 2. वह प्रबल रूप से एनेलिसिस (विश्लेषण) को समर्पित हैं, 'सिन्थेसिस' (संश्लेषण) को नहीं और 3. फिलॉसफी का व्यावहारिक जीवन से सम्बन्ध टूट सा गया है।

भारत में 'फिलॉसफी' वास्तव में दर्शन है-उसमे 'देखना' प्रमुख है। देखते समय बोलना जरूरी नहीं होता, इसलिए 'दर्शन' देखने के क्रम में छवियाँ और संकल्पनाएँ तो सुझा सकता है पर उन सब का संवेग दर्शन को और सूक्ष्म दर्शना-क्षमता से युक्त कराना होता है जिससे दृष्टि अंतत: सजीव अन्तर्दृष्टि बन सके। इस अन्तर्दृष्टि से उपजे प्रसंग बाद दर्शन को अन्तर्दृष्टि से समायोजित करते हैं। भारत में दर्शन पर्यवेक्षण आधारित तार्किक दृष्टि नहीं बल्कि अन्तर्दृष्टि युक्त समझ से बाह्य को आभ्यन्तर विषय बनाने की विधा है ताकि समूची दर्शन-प्रक्रिया अंतर्ज्ञान को संयोजित कर सके।[9]

फिर दर्शन तत्काल दृश्य और द्रष्टा से संयुक्त होता है। दृश्य-दर्शन और द्रष्टा तीनों में द्रष्टा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि द्रष्टा स्थायी है जबकि दृश्य और दर्शन परस्पर अवलम्बित और उस कारण सतत परिर्वतनशील। द्रष्टा-भाव का स्थायित्व दृश्य और उसके दर्शन का आधार बनता है। द्रष्टा की अन्तश्चेतना दर्शन को उसकी अर्थवत्ता प्रदान करती है। भारतीय दर्शन में सत्य की निर्मिति नहीं होती, उसका केवल संघान होता है क्योंकि वह तो स्वयं उपस्थित होता है। दार्शनिक प्रयास तो केवल उस अविद्या का आवरण हटाने का उपक्रम करता है जो कि त्रुटि और संशय का कारण बनता है।

"भारत में दर्शन का पारसमणि जीवन है..... विज्ञान, धर्म तथा कला में परिव्याप्त समस्त गतिविधियाँ इस अनुभूति को समर्पित हैं कि ब्रह्माण्ड न केवल एक विचार है बल्कि उसमें अंततः सोचने और होने, ज्ञान और अस्तित्व (जीवन) में कोई भेद नहीं है..... (इस अनुभूति से सम्पन्न द्रष्टा या दार्शनिक) 'सब' के रूप में स्वयं की परमानुभूति खोजता है और 'सब' को स्वयं में प्रतिबिम्बित पाता है। "[10]

ऐसा देखने-समझने के बाद लगातार देखते रहना जरूरी नहीं रह जाता। दर्शन के बाद आँखें मूंदनी भी होती हैं ताकि फिर से दृश्य पर 'नई नजर डाली जा सके और द्रष्टा-भाव को और प्रगाढ़ किया जा सके।

1.4.3 भारतीय जीवन शैली तथा उसमें निहित जीवन-मूल्य

भारतीय जीवन-शैली अपनी संस्कृति के व्यापक परिवेश में सृष्टि की विविधता और उस विविधता में एकता परिलक्षित करती है। भारत में अनेक मत, विश्वास, मान्यताएँ सामाजिक-सांस्कृतिक समूह इत्यादि एक साथ जीवन-यापन करते आए हैं। इस क्रम में उनमें मत-मतान्तर, संघर्ष-सामंजस्य इत्यादि एक साथ चरितार्थ होते रहे हैं पर अंतत: समाज की सावयिक एकता ही चरितार्थ होती आई है। भारतीय जीवन अपने क्रम में सतत सनातनता खोजता है और रास्ते की हर रूकावट का इस क्रम में अतिक्रमण करता है। समाज व्यक्ति से बडा है पर बडे में छोटा। दायरा अपने आप आ जाता है। 'बड़े' के लिए 'छोटा' मिटने को तैयार रहता है तो 'बड़ा' 'छोटे'

को में मिलाकर उसके तत्वों को पुनसंयोजित कर लेता है। व्यक्ति परिवार के लिए, परिवार ग्राम के, ग्राम-शहर के लिए, शहर राज्य के लिए और राज्य राष्ट्र के लिए तत्पर है पर उतना ही सच यह भी है कि राष्ट्र सभी को समेकित करता है, वह 'सब' बन कर ही 'एक' और 'अभिन्न' हो सकता है। भारत की यह समरसता उसको हमेशा उसकी उत्तरजीविता देती आई है।

भारतीय चिंतन में ये जीवन-मूल्य बारम्बार प्रकट और पुन: अभिव्यक्त होते आए है। श्री अरविन्द प्रणीत 'जटिल साम्प्रदायिक स्वतंत्रता' तथा महात्मा गाँधी द्वारा प्रतिपादित 'अस्तित्व' का सामुद्रिक वृत्त' रूप इन्हीं मूल्यों और सामाजिक आदर्शों को समर्पित है।

आनन्द कुमारस्वामी जीवन, कला, सृजनधर्मिता तथा सौन्दर्य।सिद्धांत प्रतिपादनों में इन्हीं जीवनशैलियों आदर्शों तथा मानकों के पक्षधर थे। उनके राष्ट्रीय आदर्शवाद' विषयक लेख इन्हीं मूल्यों के संधान का उदाहरण हैं।

1.4.4 जीवन और ज्ञान की समग्रता

भारत में जीवन और ज्ञान दोनों परस्पर परिपूरक हैं और ' व्यावहारिक और तात्विक अन्तरावलम्बन व्याप्त है। इन अन्तरावलम्बनों को निम्न क्रम में प्रस्तुत जा सकता है:

(i) ज्ञान से समग्र जीवन ओर उसकी नियामक सहज एकात्मक मिलती है।

(ii) ज्ञान से कर्म प्रकाशित होता है और कर्म से कर्तव्य निर्धारित है।

(iii) कर्तव्य से संसार के उतार-चढ़ाव से परित्राण मिलता है।।

(iv) जीवन के उतार-चढ़ाव से परित्राण सार्वभौमिक भाव उपलब्ध है जो जीवन को और अधिक उन्नत करता है; तथा

(v) भक्ति कर्म और ज्ञान दोनों समोन्नत करती है। उससे सार्वभौमिक भाव और परिपुष्ट तथा स्थायी बनता है।

भारत में भगवद्गीता और उसके पुनरावर्ती भाष्य लगातार ज्ञान, कर्म और भक्ति की त्रयी उद्घाटित करते आए हैं। हर भाष्य यद्यपि इनमें से किसी एक की प्रधानता प्रकट करता रहा है परन्तु सत्य तो यह हे कि ये तीनों एक साथ ही चरितार्थ हो सकते हैं। गीता तीनों को आत्मसात करके ही योगशास्त्र का दर्जा उपलब्ध कर पाता है।[11]

बोध प्रश्न- 2

1. भारतीय चिंतनधारा में धर्म और अध्यात्म क्यों महत्वपूर्ण हैं?

उत्तर : .....

.....

1.5 भारतीय चिंतन के राजनीतिक निहितार्थ

पिछले खण्ड में आपने भारतीय चिंतन के विविध आयामों से परिचय प्राप्त किया। आपको यह ज्ञात हुआ कि भारतीय चिंतन मूलत: धार्मिक और आध्यात्मिक है। धर्म और आध्यात्म मिल कर व्यक्ति को उसकी आत्म-चेतना और कर्त्तव्य- बोध कराते हैं और इस क्रम

में जीवन अपने आत्म-तत्त्व से परिपुष्ट होता है, उसे उसका अभीष्ट अस्तित्व- कारण उपलब्ध हो पाता है। दर्शन से जीवन को 'एक ' और 'सब ' में सदभाव स्थापित करने की क्षमता मिलती है। अन्तर्दृष्टि बढ़ कर विश्व-दृष्टि हो जाती है। धर्म, अध्यात्म और दर्शन मिल कर जीवन को ज्ञान, कर्म और भक्ति से सराबोर करते हैं। गीता में वर्णित और उससे उद्घाटित यह त्रयी जीवन को और सम्पन्न बनाती है, उसे उसका अस्तित्व-कारण उपलब्ध कराती है। इस खण्ड में जीवन में उपलब्ध सम्पन्नता के उन राजनीतिक निहितार्थों का निरूपण किया जाएगा जो भारतीय चिंतन धारा और उसके सांस्कृतिक-राजनीतिक मानकों को सदैव आलोकित-विश्लेषित करते आए हैं।

1.5.1 राजनीतिक चिंतन में संस्कृति और अध्यात्म की पूर्व- भूमिका

भारत में राजनीतिक चिंतन और राजनीतिक विमर्श अपने आप में स्वतंत्र नहीं बल्कि सांस्कृतिक नियामकों के अधीन चरितार्थ होता है। जीवन के मननशील और वैचारिक प्रेरक तत्त्व उसके दैंनदिन क्रियात्मक पक्षों को निर्देशित करते हैं: राजनीति अपने आप में यथोष्ट नहीं, वह 'अच्छाई की राजनीति ' बन कर ही अपनी सार्थकता पाती है; संस्कृति से व्यक्ति और समाज अपने संस्कार और आधार-व्यवहार पाते है और इस कारण वह राजनीति को उसकी परिचालनात्मक ऊर्जा और संवेग प्रदान करती. है।[12]

अध्यात्म की दृष्टि से संस्कृति और जीवन अपने अस्तित्व और यथार्थ के समीप आते है। उससे विवेक और ज्ञान की वैयक्तिक और सामाजिक प्रतिष्ठा संभव हो पाती हैं। जो जानता है वहीं कुछ कर सकता है। 'जानना' अध्यात्म और संस्कृति से सम्पन्न होता है जबकि 'कुछ करना' सामाजिक-राजनीतिक संगठन और नेतृत्व से चरितार्थ होता है। इस दृष्टि से 'जान कर करना' ही कर्म की प्रामाणिकता का परिचायक है। जो जानते हैं वही कुछ कर सकते है। इसीलिए 'राजर्षि' भारत में प्रतिष्ठित रहे और 'महात्मा' आत्माओं का नायकत्व कर सके।

वास्तव में ज्ञान की वास्तविकता से प्रकट तत्वमीमांसा- सिद्धांत भारत में सामाजिक संगठन के 'प्रथम सिद्धांत' रहे हैं और वास्तविक सामाजिक-राजनीतिक संगठन प्रसंग उनकी अनुकृति के 'द्वितीयक सिद्धांत'[13] इसीलिए भारतीय जीवन- प्रसंगों में कर्म प्रधान नहीं बल्कि अनुगामी है। प्रधानता विवेक ओर सद्बुद्धि को प्राप्त है। जीवन संग्राम में ' योगेश्वर कृष्ण सारथी हैं और अर्जुन धनुर्धारी। धनुष वहीं और उसी दिशा में चलेगा जहाँ सारथी रथ पहुँचाएगा। तभी 'कुरूक्षेत्र' ' धर्मक्षेत्र' बन सकेगा।

1.5.2 राजनीतिक चिंतन जीवन-समग्रता का अनुगामी

भारत में राजनीतिक चिंतन जीवन की व्यापक प्रक्रियाओं और! मूल्य-व्यवस्थाओं से अंतरंग है। राजनीतिक चिंतन के पार्श्व में आध्यात्मिक चेतना सतत क्रियाशील रही है। भारतीय संस्कृति का मूल मंत्र है: "आत्मानं विद्धि" (अपने को पहचानो)। अपने से पहचान यह भाव मुखरित करती है कि एक चेतना समाज मे व्यक्ति की विविध भूमिकाओं और भाव-भूमियों को तत्काल आवलोकित करती है। व्यक्ति केवल 'आणविक व्यक्तिवाद' से आरोपित नहीं रह सकता।

वह केवल परिवार तक ही सीमित नहीं। उसका कर्म-क्षेत्र स्थानिक नहीं, सार्वत्रिक है। अनेक भाव, अनुभाव, प्रेरणाएँ और प्रभाव उसके वास्तविक जीवन को सहज प्रभावित करते हैं जो किसी भौगोलिक सीमा से नहीं बंधे हैं। यदि ऐसा होता तो संस्कृतियों का अन्तरावलम्बन'[14] हो ही नहीं सकता था।

जीवन-समग्र है क्योंकि जीवन प्रसंग विविधतायुक्त हैं। व्यक्ति एक साथ ही नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक, व्यावसायिक, कलात्मक-सृजन धर्मी भूमिकाएं निभाता है। ये भूमिकाएँ परिवार, समाज, राज्य, व्यापक विश्व बल्कि समस्त सृष्टि-प्रक्रिया को सम्बोधित होती हैं। वह ये सब सांस्कृतिक चेतना की ऊर्जा से संभव कर पाता है। उसका शिष्टाचार समूचे परिवेश को समर्पित है और वह पारिवेश प्रभावों से बारम्बार सृजित-घटित भी होता है। "वसुधैव कुटुम्बकं" सिर्फ प्रियोक्ति नहीं बल्कि जीवन की अपरिहार्यता सिद्ध होती है। अपने आप को बार-बाए पहचानते हुए वह लगातार इन व्यापक जीवन-दायित्वों का वरण और परिष्कार करता है। उसका उन्नयन सिर्फ उसका नहीं 'सब' का उन्नयन संभव करता है। 'आत्मानं विद्धि' से सत् (सत्य), चित (चेतना) और आनन्द (आल्हाद, प्रसन्नता, आनन्द) तो उपलब्ध होता ही है, साथ ही अस्तित्व की व्यापकता और उसके प्रति सहज समर्पण भाव भी पैदा होता है। समग्र-जीवन प्राथमिक है और विशिष्ट जीवन-प्रसंग (यथा व्यक्तिगत गतिविधियाँ, सांस्कृतिक-सामाजिक प्राथमिकताएँ, राजनीतिक रूझान) उसके अनुगामी।

यदि जीवन समग्र है और चेतना अखण्ड तो राजनीतिक चिंतन ' में यह समग्रता प्रतिबिम्बित हुए बिना रह नहीं सकती। भारतीय चिंतन इस प्रवृति का सार्थक उदाहरण प्रस्तुत करता है। प्राचीन वाड्मय के व्यापक क्रम में अर्थशास्त्र जहाँ राजव्यवस्था' के एक अभिनव विज्ञान का अभ्युदय' करता है वहीं कौटिल्य प्रणीत अर्थशास्त्र के संकलन एवं प्रतिपादन संहिताओं की विधा पर संरचित होते हुए न केवल महाभारत की राजधर्म अवधारणा को उत्तरोत्तर दक्षता देते हैं बल्कि उनसे मनु, याज्ञवल्क्य तथा स्वयं भीष्म के राजनीतिक विचारों को एक नया परिप्रेक्ष्य उपलब्ध होता है।[15] एक अन्य आकलन के अनुसार 'प्राचीन' भारतीय राजनीतिक परम्परा दो सिद्धांतों के यथोचित मिलन को चरितार्थ करती है- विवेक तथा शक्ति। मित्र-वरूण ब्रह्म-क्षत्र तथा धर्म व नीति के युग्म इस मिलन एवं संगम को चरितार्थ करते है। भारत में धर्म पश्चिम के प्राकृतिक कानून का यथेष्ट संभावित समानार्थक है जबकि नीति साधनों के नियोजन की ऐसी व्यवस्था की परिचायक है जिसके अन्तर्गत शक्ति का प्रयोग संभव हो पाता हैं। किसी गुणी प्रशासन में बल का नियमन बोधगम्य नीति से और नीति का नियमन नैतिक तर्कसंगति से माना जाता था। प्रबल आग्रह यह था कि सच्चरित्र व उच्चतर विवेक सम्पन्न लोग ही कानून निर्माता और प्रशासक हो सकते हैं। राज्य के लिए नैतिक व आध्यात्मिक विवेक की जीवन्त परम्परा अपरिहार्य है।[16]

1.5.3 ऋत एवं लोक-सम्प्रभुता का प्रबल आग्रह

ऋत-सम्प्रभुता का विचार विश्वनाथ प्रसाद वर्मा ने प्रतिपादित किया है।[17] अपने व्यापकतर अर्थ में ऋत उन व्यापक आदर्शो और नैतिक अभिव्यंजनाओ का सार है जो व्यक्तियों

को स्वत : प्रवर्तित नियमबद्धता के आधीन कराते हुए उन्हें आत्मानुशासन से संकीर्न्ताओं के प्ररित्याग उगैर मानवतावाद के वरण की प्रेरणा देता है। इस अवस्था में पहुँच कर व्यक्ति 'अपने' और। 'दूसरों' के विरोधाभास से बचते हैं और सर्वहितकारी भावों को प्रश्रय देते हैं। इसकी उपलब्धि से मानवता का समग्र संसाधन होता है, व्यक्तियों के लिये सन्मार्ग प्रशस्त हो जाता है और मनुष्य व प्रकृति सहचर बन जाते हैं।

ऋत का यह व्यापक भाव सम्प्रभुता से जुड़ कर उसका अभिभावी सांस्कृतिक-नैतिक परिवेश निर्मित करता है। ऋत्-सम्प्रभुता का अभिप्राय यह है कि राज्य-विशेष की जनता अपने आपको सम्प्रभुता सम्पन्न मानकर मानवता की उपेक्षा न करे। ऋत्-सम्प्रभुता आत्म-मर्यादा और आत्मानुशासन को सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना का परिप्रेक्ष्य उपलब्ध कराती है जिससे राजनीतिक कार्यप्रणाली भी सहज अभिप्रेरित होती है। विशिष्ट राजनीतिक संदर्भ में ऋत-सम्प्रभुता लोक-सम्प्रभुता तथा संवैधानिक सम्प्रभुता की पूर्वगामी स्थिति है। फिर भी, उसमें तथा लोक एवं संवैधानिक सम्प्रभुताओं में कार्य-कारण सम्बन्ध (Causal Relationships) व्यक्त हैं।[18] ऋत-सम्प्रभुता के नैतिक एवं एकीकरण भाव से लोक-सम्प्रभुता प्रबल चेतना प्राप्त करती है और नीतियुक्त एकताकारी जन-चेतना संवैधानिक सम्प्रभुता को समुचित प्रभाव तथा प्रवाह देती है। इन तीनों के पारस्परिक समायोजन से राज्य अपनी साधनपरकता का भाव उपलब्ध करते हैं।

1.5.4 राजनीति का साधनात्मक मूल्य

भारतीय चिंतन परम्परा में राजनीति साध्य नहीं बल्कि साध्य के साधन की प्रणाली के रूप में अवस्थित है। अत: उसका मूल्य साधनात्मक है। भारत में लौकिक शक्ति आध्यात्मिक सत्ता के अधीन मानी जाती रही है। कर्म महत्वपूर्ण है परन्तु वह विवेक और मनन के निर्देशन में संचालित है। इसीलिए शक्ति से सामाजिक संगठन बनता है, सामाजिक संगठन सांस्कृतिक व्यवस्था से परिपुष्ट होते हुए उससे आबद्ध रहता है, स्वयं सांस्कृतिक चेतना वैश्विक या ब्रह्माण्ड-चेतना से अनुप्राणित है और इस रूप में वह व्यक्ति चेतना में उसी प्रकार प्रतिबिम्बित होती है जैसे एक ओस कण में समूचा सूर्य। चेतना की इस भावधारा में राजनीति स्वत: चालित नहीं बल्कि उस सांस्कृतिक सत्ता के अधीन पाई जाती है जो व्यक्ति की समूची क्रियाशीलता को परिभाषित, परिचालित और परिमार्जित करती है। व्यक्ति की जीवन-साधना के विविध तात्कालिक प्रसंगों में राजनीतिक प्रसंग एक अंग मात्र हैं, समूची शरीर-प्रणाली नहीं और चेतना की नियामक प्राण-ऊर्जा तो बिल्कुल नहीं।

आधुनिक काल में यह साधनात्मकता विलुप्त नहीं होती। आनन्द कुमारस्वामी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महात्मा गाँधी के विशिष्ट चिंतन क्रमों में वह यथेष्ट मुखरित होती है। इस अर्थ में राजनीति की साधनात्मकता सतत् विद्यमान है। वह पहले भी थी, आज भी है और आगे भी रहेगी। वह इतिहास का प्रसंग है और भारत में इतिहास ' 'ऐसा ही होता आया है' ' का भाव प्रस्तुत करता है।

1.6 सारांश

इस इकाई में आपने प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन के प्रमुख आयाम देखे-समझे-परखे। आपको यह ज्ञात हुआ कि धर्म-अध्यात्म, दर्शन, जीवन-मूल्य आदि भारतीय राजनीतिक चिंतन के प्रेरक-नियामक तत्त्व हैं। राजनीतिक चिंतन व कर्म में सारकृतिक कारकों की नियामक भूमिका है। वह राजनीति को उसका कार्य-कारणतत्व व औचित्य प्रदान करती है। राजनीति जीवन-साधना का एक सोपान है। उसका साधनात्मक मूल्य सदा प्रभावी रहा है। ऋत-सम्प्रभुता लोक व संवैधानिक सम्प्रभुता को सम्पन्न करती है। उससे मानवतावाद तथा राज्य की साधनात्मकता परिपुष्ट होते हैं।

भारतीय चिंतन के ये क्रम सतत् हैं। 'प्राचीन' व 'आधुनिक' चिंतन धाराएँ सकल रूप से उनका यथेष्ट निर्वाह करती आई हैं। चेतना की साधना के ये अनुगामी तत्त्व रहे हैं।

1.7 संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. काल और उसकी शाश्वत प्रकृति के लिए देखें, एन.जी.दामले "इंटेलेक्चुअल ऑटोबायोग्राफी और दि फेथ ऑफ एन आइडिएलिस्ट", राजधाकृष्णन और म्यूरहेड(सं.) कंटेम्पोरेरी इंडियन फिलॉसफी,
2. गोविन्द चन्द्र पाण्डे ने समय की सातत्यता और उसकी वर्तमान के क्रम में पूर्णता की संकल्पना की है। यह संकल्पना उनके कृतित्त्व में सदैव विद्यमान रही है। देखें पांडे की कृतियाँ फाउन्डेशन्स ऑफ इंडियन कल्चर (दो खण्डों में) बुक्स एण्ड बुक्स, नई दिल्ली, 1984 तथा भारतीय परम्परा फै स्वर, नेशनल पब्लिशिंग हाउसख, दिल्ली, 1981।
3. गोविन्द चन्द्र पांडे, फाउन्डेशन्स ऑफ इंडियन कल्चर-स्पिरिचुअल विजन एण्ड सिम्बॉलिक फॉर्मस इन एन्श्येंट इंडिया (खण्ड-I) एन .1
4. पांडे, भारतीय परम्परा के मूल स्वर, एन. 2, पृष्ठ 27
5. भगवान दास "आत्म-विद्या' ऑर दि साइन्स ऑफ दि सेल्फ" राधाकृष्णन तथा म्यूरहेड (स) एन.1, पृ. 208
6. रिएलिस्ट आइडिएलिज्म के विस्तार के लिये देखें इसी पर आधारित हीरालाल हालदार का लेख राधाकृष्णन व म्यूरहेड(सं) कृति में, एन.1 पृ.सं.317-334
7. 'प्रेगमैटिक आइडिएलिज्म विषयक लेख ए.आर. वाडिया का, एन.1 पृं.स. 621-642
8. के.सी.भट्टाचार्य, "दि कॉन्सेप्ट ऑफ फिलॉसफी", राधाकृष्णन व म्यूरहेड(सं.) कृति में, एन1, पृष्ठ 106।
9. डी.एम.दत्ता, "नॉलेज, रिएलिटी एण्ड दि अननोन", एन.1 पृ.स. 289-292
10. वी.सुब्रमण्य अय्यर "मैन्स इंटरेस्ट इन फिलॉसफी" एन.1, पृ.सं.616-17
11. गोविन्द चन्द्र पांडे,एन.3 पृ॰सं. 146-152
12. संस्कृति विषयक इस चर्चा के लिए देखें अनाम जैतली, इंडियाज पोलिटिकल कल्चर - इन सर्च ऑफ फ्रेमवर्क, आलेख पब्लिशर्स, जयपुर, 1990, विशेषत: प्रथम अध्याय।
13. ए.के.सरन, 'दि वेस्टर्न इम्पैक्ट, सेमिनार, नं. 64 (दिसम्बर, 1964), पृ.26

14. भगवत शरण उपाध्याय, भारतीय संस्कृति के स्रोत, पीपल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1973, विशिष्ट उद्धरण अनाम जैतली द्वारा उद्धृत, एन.12, पृ.सं. 120-21
15. यू. एन. घोषाल. ए हिस्टरी ऑफ इंडियन पोलिटिकल आईडियाज़ ऑक्सफोर्ड, 1966, पृ0. 155
16. 16.गोविन्द चन्द्र पांडे, ' 'पोलिटिकल ऑर्डर एण्ड आइडियाज "फाउन्डेशन्स ऑफ इंडियन कल्चर(खण्ड-II) एन. 2, पृ. 262 - 264
17. विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, ऋत्-सम्प्रभुतावाद: वेद का विराट ' दर्शन ' (परिशिष्ठ-2), वैदिक राजनीतिशास्त्र से उद्धृत।
18. वही, पृ. 259

1.8 अभ्यास प्रश्न

1. प्राचीन भारतीय चिंतन के प्रमुख आयाम क्या हैं ? विवेचना कीजिए।
2. भारतीय चिंतन के राजनीतिक निहितार्थ स्पष्ट कीजिए। क्या ये निहितार्थ भारतीय चिंतन में सतत प्रभावी हैं?
3. राजनीति का साधनात्मक मूल्य ' पर एक टिप्पणी लिखिए।
4. भारतीय चिंतन में क्या प्राचीन वस्तुत: प्राचीन है? स्पष्ट- कीजिए।
5. भारतीय चिंतन में निहित भारतीयता से क्या अभिप्राय है?

1.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. गोविन्द चन्द्र पांडे : फाउन्डेशन ऑफ इंडियन कल्चर (खण्ड - 1,2), बुक्स एण्ड बुक्स, दिल्ली, 1984
2. यू.एन.घोषाल : ए हिस्टरी ऑफ इंडियन पोलिटिकल आईडियाज़ ऑक्सफोर्ड, 1966।
3. वी.पी.वर्मा : स्टडीज इन हिन्दू पोलिटिकल थॉट एण्ड इट्स मेटाफिजिकल फाउन्डेशन,मोतीलाल बनरसीदास, वाराणसी, एन.डी.
4. अनाम जेतली तथा ब्रजमोहन शर्मा : राजनीति विज्ञान के मूल सिद्धांत, राजनीति विज्ञान विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर,1982(विशेषत: अध्याय 5,6,7,8,9)।

इकाई-2

मनु

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 जीवन परिचय

2.3 मनुस्मृति का काल एवं विषय-वस्तु

2.4 सामाजिक विचार

- 2.4.1 वर्ण व्यवस्था
- 2.4.2 आश्रम व्यवस्था
- 2.4.3 स्त्री

2.5 राजनीतिक विचार

- 2.5.1 राज्य की उत्पत्ति
- 2.5.2 राज्य का सप्तांग सिद्धान्त
- 2.5.3 राज्य का कार्यक्षेत्र
- 2.5.4 राजा के कर्तव्य
- 2.5.5 शासन व्यवस्था
- 2.5.6 दण्ड एवं अपराध

2.6 कर व्यवस्था

2.7 परराष्ट्र सम्बन्ध

- 2.7.1 मण्डल सिद्धान्त
- 2.7.2 षड्गुण्य नीति
- 2.7.3 उपाय
- 2.7.4 युद्ध

2.8 मनु और कौटिल्य

2.9 सारांश

2.10 अभ्यास प्रश्न

2.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप समझ सकेंगे-

- मनु का जीवनवृत्त तथा कृतित्व
- मुनस्मृति का रचनाकाल तथा विषय-वस्तु
- मनु के सामाजिक विचार
- राज्य का उद्भव, कार्य तथा उसकी आरंभिक स्थिति
- प्राचीन भारत में राजतंत्र की अवधारणा के विभिन्न पहलुओं की व्याख्या

- दण्ड व अपराध जैसी महत्त्वपूर्ण अवधारणाएँ
- प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की परम्परा में मनु के योगदान की व्याख्या, एवं
- मनु और कौटिल्य के विचारों का तुलनात्मक मूल्यांकन।

2.1 प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तक मनु के विचारों को जानने का आधार मनुस्मृति है। इसमें सृष्टि की उत्पत्ति से लेकर व्यक्ति, समाज एवं राज्य के विविध कार्यो एवं दायित्वों का विशद विवेचन किया गया है। प्रस्तुत अध्याय में हम मनु के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक विचारों को जानेगें। मनु ने पूरे समाज को चार वर्णो में विभाजित कर जन्म के आधार पर प्रत्येक वर्ण के नियम-निषेध तय किये हैं। मनु की आश्रम व्यवस्था व्यक्ति के जीवन को आयु के आधार पर विभाजित कर तद्नुरूप दायित्व का निर्धारण करती हैं। मनुस्मृति में स्त्री-पुरूष सम्बन्धों पर भी विस्तार से प्रकाश डाला गया हैं। लेकिन जन्म एवं लिंग आधारित मनु की समाज व्यवस्था में स्त्रियों एवं शूद्रों को निम्नतम पायदान पर रखा गया हैं।

इस अध्याय में हम मनु के राजनीतिक विचारों की चर्चा करेंगे। मनु ने राज्य की उत्पत्ति से लेकर राजा के कार्य दायित्व, शासन एवं न्याय के स्वरूप प्रकिया का प्रतिपादन किया हैं। मनु का शासक दैवीय शक्ति सम्पन्न होते हुये भी धर्म एवं दण्ड शक्ति के अधीन है। मनु के राज्य एवं राजा का स्वरूप जनकल्याणकारी एवं नैतिक मूल्यों से युक्त है। मनु ने राज्य के सप्तांग सिद्धान्त द्वारा राज्य के प्रमुख अंगों का ही विवेक-सम्मत विवेचन नही किया बल्कि परराष्ट्र सम्बन्धों के लिये भी सार्थक परामर्श दिया गया है। इस सम्बन्ध में दिया गया मण्डल एवं षड्गुण्य सिद्धान्त एक सफल एवं सशक्त राज्य की कल्पना का यथार्थ मार्ग बताता है जो आधुनिक काल में भी कूटनीतिक दृष्टि से उतना ही प्रासंगिक है। मनु द्वारा प्रतिपादित कर व्यवस्था राज्य एवं व्यक्ति के आर्थिक लाभ की कामना पर आधारित है। इसी संदर्भ में हम प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन के पण्डित कौटिल्य एवं मनु के विचारों का संक्षेप में तुलनात्मक अध्ययन करेगें।

इस अध्ययन के बाद हम जान पायेगें कि भारतीय राजनीतिक चिंतन के परम्परा अति प्राचीन है। इसकी महत्ता व प्रासंगिकता को समझने के लिये हमें पश्चिमी राजनीतिक चिंतन को कसौटी नही बनाकर इसका स्वतंत्र अध्ययन एवं मूल्यांकन किया जाना चाहिए। इसी में इस अध्याय की भी उपादेयता नीहित हैं।

2.2 जीवन परिचय

मनु के जीवन काल के विषय में ऐतिहासिक प्रमाण का अभाव है। इसलिये मनु के जीवन काल को जानने के लिए प्रतीकात्मक तथ्यों का अधिक सहारा लिया गया है। मनु एक ऐतिहासिक पुरूष थे। जिनके नाम के साथ धार्मिक दृष्टि से प्रामाणित सामग्री जुड़ती चली गई। प्रश्न यह है कि मनुस्मृति को उन्होंने स्वयं लिखा या यह प्राचीन भारतीय मनीषियों के चिन्तन का संग्रहण मात्र है, जिसे मनु के साथ जोड़कर प्रामाणिकता का आवरण पहनाया गया है। पौराणिक परम्परा में मनु को प्रथम विधिवेत्ता माना गया है। अन्य विधि संग्रहों के मध्य मतभेद की दशा ' मनुस्मृति को प्राथमिकता दी गई है। मनु

कौन था? इसका जन्म कब हुआ और सृष्टि का निर्माण कैसे हुआ ' इन प्रश्नों का उत्तर जानने के लिए प्राचीन ग्रन्थों में मनु के बारें में दो तरह की कथाएँ प्रचलित है: -

I. जब सम्पूर्ण विश्व महाप्रलय के आवेग में ध्वस्त होकर जलप्लावित हो गया था, तो मनु ही शेष रहे, जिन्होंने नये सिरे से मानव समाज की रचना की।

II. महाभारत के शान्ति पर्व के अनुसार, आरम्भ में यह संसार, बर्बरता, अराजकता तथा अन्धकार में लीन था। कोई नियम, कानून या संगठन नहीं था। ऐसी अन्धकारमयी असुरक्षित स्थिति से संस्थापक माना गया है।

2.3 मनु स्मृति का काल एवं विषय वस्तु

मनु के समस्त विचारों का आधार मनुस्मृति है। लेकिन मनु के जीवन काल के विषय में मतभेद होने के कारण यह कहना कठिन है कि मनुस्मृति की रचना कब हुई। मनुस्मृति में ऐसे श्लोक व विचार हैं, जो अति प्राचीनतम स्मृति है यहां तक कि महाभारत में भी कई स्थानों पर मनु का जिक्र आता है। इस प्रकार मनु के श्लोकों का मूल अति प्राचीन होने के बावजूद समय बीतने के साथ उनमें वृद्धि होती रही और अन्त में उन्हें मनुस्मृति के रूप में पुन: संग्रहित कर लिया गया। जो बहुत बाद की रचना है। विद्वानों ने इसके रचनाकाल को लेकर मतभेद है जैसे। बी.ए.सालेटोर ने इसकी रचनाकाल 1900 से 1800 ई.पूर्व माना है। मैक्समूलर ने इसे चौथी शताब्दी के बाद की रचना माना है। जबकि ब्हुलर का मत है कि ईसा के पश्चात् दूसरी शताब्दी में मनुस्मृति निश्चित रूप से अस्तित्व में थी। के.पी.एस. जायसवाल तथा पी.बी. काणे ने भी ब्हुलर के मत का समर्थन किया है। उल्लेखनीय है कि भारत में मनुस्मृति का सर्वप्रथम मुद्रण 1813 ई. में कलकत्ता में हुआ।

वर्तमान मनुस्मृति में 12 अध्याय 2694 श्लोक है, जो सरल एवं प्रवाह शैली में रचित है। इसका व्याकरण अधिकांशत: पाणिनि सम्मत है। भाषा एवं सिद्धान्तों दृष्टि से मनुस्मृति एवं कौटिल्य के अर्थशास्त्र में बहुत समानता है। मनुस्मृति में वर्णित मुख्य निम्न है:-

1. संसार की उत्पत्ति।
2. जाति कर्मादि संस्कार विधि और ब्रह्मचर्य
3. पंच महा यज्ञ, नित्य श्राद्ध विधि
4. स्नातक (गृहस्थ) के नियम
5. भक्ष्य तथा अभक्ष्य पदार्थ
6. वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम
7. व्यवहार के मुकदमों का निर्णय, कर ग्रहण आदि राजधर्म।
8. साक्षियों से प्रश्न विधि
9. स्त्री तथा पुरूष के धर्म सम्बन्धी विधि, सम्पत्ति का विभाजन
10. आपत्ति काल के कर्त्तव्य, धर्म
11. पाप की निवृत्ति के लिए प्रायश्चित आदि
12. मोक्षप्रद आत्मज्ञान, नैतिक मूल्य

इस प्रकार मनुस्मृति की उपरोक्त अध्याय योजना में मानव जीवन के अधिकांश पक्षों को शामिल करते हुए उनके नियमन के लिए आचार संहिता प्रस्तुत की गई है, जो तत्कालीन परिस्थितियों एवं जीवन मूल्यों पर आधारित है। यही संहिता इसके बाद की समाज व्यवस्था और मूल्यों के नियमन का आधार बनी है।

2.4 सामाजिक विचार

मनुस्मृति के राजनैतिक विचार की तुलना में सामाजिक विचार को अधिक ख्याति प्राप्त हुई है। इसमें समाजिक संगठनों के सिद्धात, विभिन्न वर्णो के कर्त्तव्यों तथा सामाजिक व्यवस्था के संबंध में राज्य के दायित्वों आदि की सविस्तार विवेचना की गई है। मनु के अनुसार जो व्यक्ति वर्ण, धर्म और आश्रम व्यवस्था के अनुसार जीवन व्यतीत करेगा वही जीवन में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

2.4.1 वर्ण व्यवस्था

मनुस्मृति में धर्म और कर्म के आधार पर समाज क्रो चार वर्गो में बांटा गया है और इन चार वर्गो को वर्ण का नाम दिया गया है। ये वर्ण इस प्रकार हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इन चारों वर्णो की उत्पत्ति ब्रह्मा द्वारा की गई है। ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, उदर से वैश्य और पैरों से शूद्र का जन्म हुआ है। मनुस्मृति में इन चारों वर्णो का स्थान एवं कर्म जन्मानुसार निर्धारित है, जैसे ब्राह्मण का जन्म ब्रह्मा के मुख से होने के कारण वह वेदों का ज्ञाता है। अत: उसका कर्त्तव्य पढना- पढना, यज्ञ कराना. दान देना, दान लेना है। जहां एक ओर मनु ब्राह्मणों को समाज में सर्वोच्च स्थान देता है वही दूसरी ओर ब्राह्मणों से अपने स्थान के अनुरूप व्यवहार की अपेक्षा भी करता है, ताकि उनके व्यवहार और कर्मो में निरंकुशता या स्वेच्छाचारिता जन्म ना ले सके।

क्षत्रिय का जन्म ब्रह्मा की बाहों से होने के कारण यह ताकत का प्रतीक है, अत: क्षत्रिय का मुख्य दायित्व प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना और विषयों में आसक्ति नहीं रखना आदि है। मनु इस बात पर भी बल देता है कि क्षत्रिय अपनी ताकत के आधार पर अपने अधिकारों का दुरूपयोग ना करें।

वैश्य का प्रमुख दायित्व राज्य की आर्थिक व्यवस्था का संचालन व विकास है। इसके अलावा पशुओं की देखभाल, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार करना, ब्याज लेना तथा कृषि कार्य करना भी उसके दायित्वों मे शामिल है।

शूद्र का जन्म ब्रह्मा के पैरों से होने के कारण इनका कार्य शेष तीनों वर्णो की सेवा करना है। मनु की वर्ण व्यवस्था में शूद्रों का स्थान निम्नतम है। इनके लिए वेदों का अध्ययन भी गम्भीर अपराध माना गया है।

उपर्युक्त चारों वर्णो से मिलकर समाज का निर्माण हुआ है। इन वर्णो के पृथक्-पृथक् विशेषीकृत कार्य होने के बावजूद भी मनु ने एक-दूसरे की निर्भरता पर बल दिया है। मनु के अनुसार, इनमें से किसी एक वर्ण के बिना समाज व्यवस्था को चलाना संभव नहीं है। लेकिन

मनु की इस वर्ण व्यवस्था का कमजोर पक्ष यह है कि यह जन्म पर आधारित विशेषाधिकारों एवं निर्योग्यताओं का प्रतिपादन करती है।

2.4.2 आश्रम व्यवस्था

मनुस्मृति के अनुसार मानव जीवन को चार आश्रमों में बांटा गया है। चार आश्रम हैं - ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम एवं संन्यास आश्रम।

(i) **ब्रह्मचर्य आश्रम -** इस आश्रम का समय जन्म से 25 वर्ष तक है।। इसमें बालक गुरू के साथ रहकर अध्ययन करता है। इस अवस्था में बालक का शारीरिक, बौद्धिक तथा मानसिक विकास होता है। बालक के बौद्धिक विकास के लिए वेदाध्ययन, यज्ञ करना और शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कराना आदि शामिल है। ब्रह्मचर्य की व्यवस्था स्त्रियों और शूद्रों के लिए वर्जित थी

(ii) **गृहस्थ आश्रम -** प्रथम आश्रम के उपरांत मानव अपनी. प्राकृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति एवं वंश परम्परा को बनाये रखने के लिए गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता है। व्यक्ति विवाहोपरांत गृहस्थ हो जाता है और संतानोत्पत्ति द्वारा पूर्वजों के ऋण से तथा यज्ञ आदि करके देवों के ऋण से मुक्ति पाता है। मनुस्मृति में एक गृहस्थ' के लिए धन संचयन तथा स्त्रियों के प्रति अत्यधिक आसक्ति को सम्मान का नाश करने वाला माना गया है।

(iii) **वानप्रस्थ आश्रम -** गृहस्थ के द्वारा लगभग 5० वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने पर वह वानप्रस्थ आश्रम में प्रविष्ट होता है। मनु के अनुसार इस आश्रम में व्यक्ति का कार्यक्षेत्र परिवार न होकर सम्पूर्ण समाज होता है। उसे अब मान-अपगान, शीत-ताप, सुख-दुःख आदि के प्रति विरक्ति भाव अपनाना चाहिए तथा मानव मात्र के प्रति मित्र भाव एवं दया भाव बनाए रखना चाहिए।

(iv) **संन्यास आश्रम -** मनुस्मृति में मानव जीवन के अन्तिम चतुर्थाश को संन्यास आश्रम के रूप में स्वीकार किया है। मनु का मानना है कि संन्यास आश्रम में प्रवेश से पूर्व व्यक्ति को देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृ ऋण से मुक्त हो जाना चाहिए, अन्यथा वह नरकगामी होता है। वेदों के विधिपूर्वक अध्ययन और पुत्र रत्न की प्राप्ति के उपरांत ही संन्यास आश्रम के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति संभव है।

इस व्यवस्था को बनाए रखना राज्य का कर्त्तव्य हैं. जब भी यह व्यवस्था खण्डित होगी समाज मे बिखराव तथा टकराव आयेगा मानव को भी अपने आश्रम के अनुरूप कर्म करके सहयोग करना चाहिए। इस प्रकार आश्रम व्यवस्था व्यक्ति की आयु के अनुसार उसके कार्यो एवं दायित्वों का विभाजन कर धर्म, अर्थ, काम और अन्त में सर्वोच्च लक्ष्य मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करती है, लेकिन इस व्यवस्था की यह कमजोरी है कि सभी वर्णो को समान रूप से आश्रम का उपभोग करने की इजाजत मनुस्मृति नहीं देती।

2.4.3 स्त्री

मनु के अनुसार, किसी भी स्त्री को घर में कोई काम स्वाधीन होकर नहीं करना चाहिए। उसे बाल्यकाल में पिता, युवावस्था में पति तथा वृद्धावस्था में पुत्र के नियंत्रण व संरक्षण में रहना चाहिए। ईश्वर ने ही स्त्रियों की प्रवृत्ति में कुछ ऐसे दुर्गुणों का सृजन कर दिया है कि उन्हें स्वतंत्र छोड़ दिया गया तो वे व्यभिचार जैसे दोषों में लिप्त हो जाएगी, अत: को अत्यन्त ध्यानपूर्वक उन पर नियंत्रण रखना चाहिए। मनु ने स्त्री स्वतंत्रता का विरोध किया है, परन्तु स्त्री का पुत्री, पत्नी और माता के रूप में उचित सम्मान करने की बात भी कही। मनु का यह कथन बड़ा प्रसिद्ध है " जहां नारियों की पूजा की जाती है, वहां देवता वास करते हैं। " मनु ने स्त्री स्वतंत्रता पर ही नियंत्रण नहीं लगाया अपितु पुरूषों के दायित्वों का भी निर्धारण किया है। यदि विवाह योग्य लड़की का विवाह पिता नहीं करता है तो पिता निन्दा योग्य तथा अपराधी माना जायेगा। पिता की मृत्यु उपरांत माता का ध्यान न रखने वाला पुत्र भी निन्दा योग्य है। धार्मिक अनुष्ठान में स्त्री-पुरूष दोनों की भागीदारी का समान महत्व है। स्त्रीधन पर उसी के अधिकार की बात कही है। स्त्री के संबंध में मनुस्मृति अपने युग की मानसिकता का प्रतिनिधित्व करती है, जहां स्त्री एक व्यक्ति न होकर पूर्णत : पुरूष के अधीन है। मनुस्मृति ने स्त्रियों की हीनता का वैधानीकरण करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

बोध प्रश्न - 1

प्रश्न 1. मनुस्मृति की विषय वस्तु क्या हैं

उत्तर ……

……

2.5 राजनीतिक विचार

मनु के प्रमुख राजनीतिक विचारों को हम निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत समझने का प्रयास करेंगे: -

2.5.1 राज्य की उत्पत्ति :- मनुस्मृति के सातवें अध्याय में राजधर्म का प्रतिपादन करते हुए मनु ने लिखा है कि आदिकाल में राजा (राज्य) के न होने से चारों ओर अराजक तथा अशान्त स्थिति थी। बलवानों के डर से प्रजा इधर-उधर भाग कर जीवन यापन कर रही थी। इस बर्बर, अराजक स्थिति से सबकी रक्षार्थ ब्रह्मा ने राजा की सृष्टि की। ईश्वर ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरूण, चन्द्रमा, और कुबेर का सारभूत नित्य अंश लेकर राजा की सृष्टि की हैं। इन्द्र जैसे श्रेष्ठ देवताओं के अंश से उत्पन्न राजा सब प्राणियों में पराक्रमी और श्रेष्ठ होता हैं। वह बालक भी हो तो भी उसका कोई अनादर नहीं कर सकता, क्योंकि वह मानवरूप में देवता है। अर्थात् राज्य एवं राजा की दैवीय शक्ति का मनु ने समर्थन किया है।

2.5.2 सप्तांग सिद्धान्त :- मनुस्मृति में राज्य के लिए सप्तांग सिद्धान्त दिया है। मनुस्मृति के 9वें अध्याय में राज्य के निम्न सात अंग बताए गए है :- (i) स्वामी (राजा) (ii) मंत्री

(iii) पुर (किला, परकोटा आदि से सुरक्षित राजधानी) (iv) राष्ट्र (v) कोष (vi) दण्ड (vii) मित्र। ये सात राजप्रवृत्तियाँ है।

I **स्वामी (राजा) :-** मनु ने राजा के लिए स्वामी शब्द का प्रयोग किया है, जिसका तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण व्यवस्था में राजा को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। मनु के अनुसार, राजा के बिना राज्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। राजा को नैतिक गुणों, प्रशासनिक क्षमता तथा दायित्वों के प्रति निष्ठा से युक्त होना चाहिए।

II **मन्त्री :-** मनु का मत है कि राज्य-कार्य योग्य और कुशल मंत्रियों के बिना नहीं चलाया जा सकता। अत: राजा के द्वारा सुयोग्य मन्त्रियों से परामर्श प्राप्त करते हुए ही राज्य कार्य किया जाना चाहिए। मनु ने मन्त्रियों के लिए आवश्यक गुणों ' योग्यताओं का भी विस्तार से वर्णन किया है। जैसे मंत्री को कुलीन, शास्त्रज्ञाता, विद्वान, शूरवीर, विश्वसनीय कर्मठ आदि गुणों से सम्पन्न होना चाहिए।

III **पुर :-** पुर का अर्थ किला, परकोटा या राजधानी है। मनु का है कि पुर पूर्णतया सुरक्षित हो तथा उसमें रक्षा एवं भरण-पोषण की सनुचित व्यवस्था होनी चाहिए। मनु ने पुर की कई श्रेणियों यथा:- धन्व दुर्ग, महि दुर्ग, जल दुर्ग, वष्क्ष दुर्ग मनुष्य दुर्ग एवं गिरि दुर्ग का उल्लेख किया है।इसमें गिरि दुर्ग को श्रेष्ठ बताया गया हैं अत: राजा को इसे प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए।विभिन्न दुर्गो की संरचना एवं विशेषताओं भी वर्णन किया गया हैं।

IV **राज्य:-** राज्य के अंगो में एक अंग के रूप में मनु द्वारा राज्य का उल्लेख भ्रम उत्पन्न करता है। वास्तव में मनु ने राज्य शब्द का प्रयोग जनपद के अर्थ में किया है। यहां राज्य का तात्पर्य है - राज्य की भूमि तथा उसमें निवास करने वाली जनता।

V **कोष:-** मनु के अनुसार कोष राज्य का अनिवार्य तथा अति महत्वपूर्ण अंग है। कोष के अभाव में राजा, प्रजा की सुरक्षा तथा उनके कल्याण की विभिन्न योजनाओं को पूरा नहीं कर सकेगा। इसलिए राजा के पास समुचित मात्रा में कोष होना।

VI **दण्ड :-** दण्ड का आशय राज्य की रक्षा करने वाली शक्ति अर्थात सेना से है। मनु ने सेना के अनेक अंगो यथा हस्ति सेना, रथ सेना, अश्व सेना, जल सेना पदाति सेना का उल्लेख किया है। मनु ने राज्य को परामर्श दिया है कि वह सेना के समस्त " को मजबूत बनाकर राज्य की रक्षा की उचित व्यवस्था करे।

VII **मित्र :-** मित्र का अर्थ है-अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक राज्य अन्य राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध। राज्य को अपनी रक्षा तथा अन्य उद्देश्यों की के लिए अन्य राज्यों से मैत्रीपूर्ण संबंध बनाने चाहिए। ये मित्र ऐसे होने चाहिए जो विपत्ति पर साथ दे सकें। राज्य के इन सातों अंगों में पूर्ण समन्वय आवश्यक है। एक प्रवृत्ति जी विनाश सम्पूर्ण राज्य व्यवस्था के विनाश का कारण बन सकता है, अर्थात् उपरोक्त ' तत्वों का सशक्त एवं सामन्जस्य पूर्ण अस्तित्व राज्य की ताकत का आधार है।

2.5.3 राज्य का कार्य क्षेत्र - मनुस्मृति का मत है कि राज्य का क्षेत्र व्यापक है। राज्य पुलिस कार्य ही नहीं करता, अपितु यह समाज की रक्षा एवं कल्याण भी करता है। इसके

अलावा आन्तरिक और बाह्य आक्रमण से रक्षा तथा शक्तिशाली से कमजोर की रक्षा करना भी राज्य का दायित्व है। मनु का मानना था कि राज्य की र 'मत्सय न्याय' से प्रजा की रक्षा हेतु हुई है। राज्य मानव से वर्ण-धर्म एवं आश्रम-धर्म का पालन कराता है। मनु के अनुसार राज्य का कार्य सुरक्षा-व्यवस्था तक ही सीमित न होकर लोक कल्याणकारी भी है।

2.5.4 राजा के कर्त्तव्य - मनु राजा के दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त के समर्थक होने के बावजूद राजा की निरंकुश सत्ता के समर्थक नहीं है। राजा विधि तथा धार्मिक नियमों के अधीन है। वह (राजा) धार्मिक दण्ड को क्रियान्वित करने का साधन मात्र है। वास्तविक राजा तो धर्म का विधान है। एक ओर तो राजा को देवत्व का अंश मानकर उसके का पालन करने को प्रजा का धर्म कहा गया है, वहीं दूसरी ओर राजा द्वारा धर्म - विरुद्ध कार्य करने पर सिंहासन च्युत करना या मार डालना भी उचित ठहरा कर मनु ने राजा (राज्य) को निरंकुशवादी होने से बचाया है। इन दोनों विपरीत धारणाओं के पीछे मूलरूप से दो विचार -रहे होंगे - (i) भारतीय चिन्तकों ने वर्ण तथा आश्रम व्यवस्था को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए व आने वाले कालों में सामाजिक अव्यवस्थाएँ पैदा न हो, इसलिए राजा को देवत्व प्रदान किया ताकि प्रजा उसकी आज्ञाओं का पालन करती रहे। यह धारणा सामान्य जन के लिए बतायी गयी है। (ii) परन्तु बुराइयों से ग्रस्त या धर्म विरूद्ध कार्यो में लिप्त राजा या मंत्री का स्वत: ही नाश या मृत्यु हो जायेगी, यह धमकी भी दी गई है।

राजा को राजधर्म का पालन करते हुए शत्रुओं से प्रजा-प्राण तथा सम्पत्ति की रक्षा करनी चाहिए। उसे गाँवों और नगरों की सुव्यवस्था के लिए योग्य, अनुभवी, ईमानदार, लगनशील, विद्वान तथा कर्मचारियों का आदर-सत्कार करना चाहिए। अयोग्य, भ्रष्ट, लापरवाह, रिश्वतखोर, देशद्रोही कर्मचारियों को पदमुक्त कर उनको निजी सम्पत्ति से वंचित कर देश निकाला दे देना चाहिए। राजा को शासन व्यवस्था के सुचारू संचालन के लिए योग्य, अनुभवी मंत्रियों की नियुक्ति करनी चाहिए। अपने निकटस्थ मंत्रियों के साथ अच्छा बर्ताव करना चाहिए, परन्तु समय-समय पर अपने गुप्तचरों से मंत्रियों के इरादों एवं व्यवहार की जानकारी भी लेते रहना चाहिए। मनु के अनुसार, राजा अविश्वासी पर विश्वास न करे, विश्वासी पर भी अधिक विश्वास न करे, बगुले के समान अर्थ चिन्तन करे, सिंह के समान पराक्रम दिखाये, भेड़िये के समान शत्रु का नाश करे और खरगोश के समान शत्रु के घेरे से निकल जाए।

शत्रुओं के आक्रमण से रक्षा के लिए ऐसे दुर्ग का निर्माण करना चाहिए जो पहाड़ी पर निर्मित हो, जहां से शत्रु पर वार कर जीता जा सके। दुर्ग को अस्त्र-शस्त्रों, धन-धान्य, वाहन, ब्राह्मणों, कारीगरों, यंत्रों तथा चारा-पानी से भरपूर रखना चाहिए, क्योंकि युद्ध में इन चीजों की कमी सैनिक शक्ति का पतन करती है। पूरे साज-सामानों से सुसज्जित राज्य को उचित अवसर देख कर युद्ध भी करना चाहिए। युद्ध का नेतृत्व राजा को स्वयं करना चाहिए। मनु के अनुसार जो वीर युद्ध में शत्रु को पराजित करता है, वह पृथ्वी के सुखों को भोगता है और जो युद्ध भूमि

में वीरगति को प्राप्त होता है, वह स्वर्ग में जाता है। युद्ध में वीरगति को प्राप्त राजा का गुणगान चारों दिशओं में होता है। जो युद्धस्थल से भागकर जान बचता है, वह कायर कहलाता है।

मनु के अनुसार, राजा को वृद्धों, अंधों, विधवाओं, अनाथों एवं असहायों की सहायता करनी चाहिये तथा उद्योग या व्यवसाय द्वारा दीन-हीन, क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों की समय-समय पर सहायता करनी चाहिए।

एक राजा को हमेशा चुस्त-दुरूस्त रहने के लिए कुछ नियमों का पालन करना चाहिये जैसे - प्रात: स्नान, ध्यान, अध्ययन, पूजा। इसके बाद न्याय, जनता की शिकायतों का निवारण, मंत्रियों से मंत्रणा, विदेशों में स्थित दूतों और गुप्तचरों के साथ वार्तालाप, सेनापति से सेना संबंधी जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। मध्यान्ह् तथा रात्रि में राजा की दिनचर्या इस प्रकार निर्धारित की गई है :- व्यायाम, स्नान, आराम और निवास। सेना और युद्ध सामग्री का निरीक्षण, सांय प्रार्थना, गुप्त परामर्श तथा संगीत और अन्त में सोना। ये राजा को नियमित दिनचर्या होनी चाहिए।

मनुस्मृति के अनुसार राजा बालक ही क्यों न हो, उसका अपमान नहीं करना चाहिए। मनु के इस कथन से कुछ विचारकों ने यह अर्थ लगा लिया कि राजा पूर्ण स्वतंत्र है। उसकी आज्ञाओं का पालन मानव-कर्त्तव्य है। प्रश्न यह है कि क्या राजा निरंकुश है ?जबकि मनु और याज्ञवल्कय ने राजा को धर्म के अधीन रखा है। राजा को हमेशा प्रजापालन, व रक्षार्थ तैयार रहना चाहिये। मनु ने धर्म और दण्ड को ही राजा कहा है। इन दोनों प्रसंगों से समझ में आता है कि मनु ने सर्वप्रथम तो राजा को निरंकुश सत्ता प्रदान की। इससे असीमित शक्ति का दुरूपयोग होने लगा। फिर असीमित शक्ति को नियंत्रित करने के लिए धर्म और दण्ड की स्थापना कर राजा को इसके अधीन कर दिया। इस प्रकार मनुस्मृति में दो विरोधी मत दिखाई देते है - एक असीमित राजतंत्र का और दूसरा सीमित राजतंत्र का।

2.5.5 शासन व्यवस्था

मनु के अनुसार शासन का मुख्य प्रयोजन - धर्म, अर्थ, और काम की प्राप्ति में साधक बनना है। अत: राजा को अपने मंत्रियों की सहायता से इन उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु प्रयासरत रहना चाहिये। मनु की दृष्टि में राजा (शासन) को अप्राप्त भूमि और धनादि को प्राप्त करना चाहिये। जो कुछ भी प्राप्त हो गया, उसकी रक्षा करना, जो रक्षित है उसमें विभिन्न प्रकार से बढ़ोत्तरी. करना और जो कुछ भी बढ़ोत्तरी हो, उसे सुपात्रों में बांट देना चाहिए। राजा को पितातुल्य पालन करना चाहिए।

मनुस्मृति में बताया गया है कि सरल कार्य भी अकेले व्यक्ति के कठिन होता है। अतएव राज्य जैसा महान फल प्रदान करने वाला कार्य अकेले राजा से कैसे हो सकता है' इसलिए राजा को उच्चकुलीन, शास्त्रज्ञाता, विद्वान, शूरवीर, शस्त्र चलाने में न निपुण, आलस्य रहित, कर्मठ, विश्वसनीय व्यक्तियों को महत्वपूर्ण कार्यो में सलाह लेने के लिए मन्त्री नियुक्त करने चाहिए। योग्य मंत्रियों की नियुक्ति के उपरान्त राजा को पहाड या एकान्त वास में मंत्रियों

से मंत्रणा करनी चाहिये। मंत्रणा के समय राजा को ध्यान देना होगा कि जड, मूक, बहरे, वृद्ध, स्त्री, मलेच्छ रोगी और अंगहीन को मंत्रणा भवन से हटवा दे, क्योंकि ये सब मंत्रणा का भेदन करने वाले होते है। मध्याह्न या आधी रात को मानसिक खेद तथा शारीरिक खिन्नता से मुक्त राजा को अपने मंत्रियों के साथ मंत्रणा करनी चाहिये।

मनु के अनुसार राजकार्य को सम्पन्न करवाने के लिए एक होगी, जिसमें राजा, मंत्री और अन्य कर्मचारी होंगे। आधुनिक मंत्रिमण्डल की भांति प्रत्येक मन्त्री के अधीन कुछ विभाग होंगे। वे मन्त्री अपनी सफलता और असफलता के लिए राजा के प्रति होने चाहिए। प्रयास यह किया जाना चाहिए कि निर्णय बहुमत से हो। राजा एक विद्वान को महामंत्री नियुक्त करे। महामन्त्री के विश्वास एवं परामर्श से शासन किया जाना चाहिए। मंत्रिपरिषद' छोटी, सुव्यवस्थित और ऐसे व्यक्तियों से बनी होनी चाहिए कि वह राष्ट्रीय कार्यो का सही ओर रूप से निदेशन कर सके। इन मन्त्रियों के चारित्रिक गुणों की जांच राजा को गुप्तचरों से करवानी चाहिये। केवल उन्हीं लोगों को इन पदों पर लिया जाना चाहिए, जो सर्वगुण सम्पन्न और चरित्रवान हों।

भूमि के आधार पर मनु ने राज्य को दो भागों - पुर तथा में बांटा है। पुर से तात्पर्य राजधानी तथा राष्ट्र से तात्पर्य देश के सारे भू-भाग से है। मनु का कहना था कि सफल प्रशासन के लिये राज्य को इकाइयों में विभाजित किया जाना चाहिये। मनुस्मृति ' यह विभाजन 1 गांव, 10 गांव, 20 गांव, 100 गांव तथा 1000 गांवों की प्रशासनिक इकाइयों में की व्यवस्था दी गई है। इसमें शासन की सबसे छोटी इकाई गांव है, जिसका अधिकारी ग्रामिक कहलाता है। ग्रामिक का कर्त्तव्य गांव में शान्ति व्यवस्था बनाये रखना है तथा गांव में पैदा होने वाली फसल में से राजांश इकट्ठा कर उसे -प्रशासन की अगली इकाई- 10 गांव के अधिकारी 'दशग्रामपती' को सौपनें की है। दशग्रामपति ही ग्रामिक के विरूद्ध शिकायतों की सुनवाई करता है। इसी प्रकार बीस, सौ तथा हजार ग्रामों के अधिकारियों को कमश: विंशति, शताध्यक्ष तथा सहस्त्रपति कहा गया है।

मनु के उपरोक्त शासन संगठन में शासन की छोटी इकाई को क्रमश: ऊपर की इकाई के प्रति उत्तरदायी बनाकर शासन की पदसोपानीय व्यवस्था को गाँव, गाँव, पुर तक जोड़कर संगठित कर दिया गया है।

सरकार का द्वितीय अंग विधायिका परिषद् है, जिसका प्रमुख दायित्व कानूनों की व्यवस्था करना है। मनु के अनुसार परिषद् शब्द का तात्पर्य ऐसे व्यक्तियों के संगठन से है, जो तीनों वेदों (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद) के ज्ञाता हों। इसकी सदस्य संख्या अधिकतम दस होनी चाहिये। इसके निर्माण का आधार संख्यात्मक न होकर वैयक्तिक योग्यता और बौद्धिकता होनी चाहिए।

मनुस्मृति में राजा को न्यायपालिका के औपचारिक अध्यक्ष का दर्जा दिया गया है। इसके अनुसार न्यायिक कार्यो के सफल सम्पादन के लिये राजा को न्याय सभा में सदा ऐसे ब्राह्मणों तथा पार्षद के साथ बैठना चाहिए, जो विधिवेत्ता, ज्ञान में पारंगत हों तथा जो न्यायिक कार्यो में दोषमुक्त सलाह दे सकें। मनु ने न्याय क्षेत्र में राजा की भूमिका को पर्यवेक्षक प्रकृति का माना है लेकिन न्याय कार्य विधि सम्मत है या नहीं, यह देखना भी राजा का ही

दायित्व है। मनुस्मृति के अनुसार न्यायाधीश द्वारा उचित न्याय न प्रदान करने पर अधर्म के अंश में निम्न लोग बराबर के भागीदार होंगे - अधर्म करने वाला, गवाह, न्यायाधीश तथा राजा। इस प्रकार फरियादी को न्याय न मिलने की स्थिति में इसके लिये राजा को भी समान रूप से भागीदार या उत्तरदायी माना गया है। क्योंकि न्याय प्रदान करने वाला न्यायाधीश राजा के अधीन रहकर कार्य करता है।

मनुस्मृति में सामाजिक नियमों के विपरीत किये गये कार्य को अपराध की संज्ञा दी गई है। मनु के अनुसार, दूसरों को क्षति पहुंचाने वाला अपराधी है। मनु के अनुसार दीवानी तथा फौजदारी क्षेत्र के प्रमुख अपराधों में चोरी, झूठी गवाही, खाद्य पदार्थो में मिलावट, व्यापारियों द्वारा अधिक मूल्य वसूली, धार्मिक अपराध, राज्य के अन्न भण्डार या शस्त्रागार को तोड़ना, शारीरिक हिंसा, बलात्कार, धन चोरी, धोखाधड़ी, कर्जा न चुकाना, जेब कतरना गवाही के लिए उपस्थित न होना तथा डकैती आदि प्रमुख है। इन अपराधों के लिए अलग -अलग प्रकार के दण्ड की व्यवस्था की गई हैं। हम जानते हैं कि इन अपराधों की सुनवाई और निष्पादन के लिए मनु ने योग्य ब्राद्दमण न्यायाधीश की नियुक्ति की व्यवस्था की है। ब्राह्मण न्यायाधीश उपलब्ध न होने पर क्षत्रिय तथा वैश्य को भी न्यायाधीश बनाया जा सकता है। लेकिन शूद्र की नियुक्ति का इस पद के लिए पूर्णत: निषेध किया गया है।

2.5.6 दण्ड एवं अपराध

मनु ने दण्ड की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहा है कि दण्ड ही समस्त प्रजा पर शासन करता है, जब प्रजा सोती है, तो दण्ड जागता है। चोर दण्ड के भय से चोरी नहीं करते हैं। दण्ड धर्म है, राजा का कर्त्तव्य है। दण्ड का प्रयोग स्वहित में न करके जनहित में करना चाहिये, अन्यथा वह राजा के नष्ट होने का कारण बन सकता है। मनुस्मृति के अनुसार दण्ड का प्रयोग धर्म-सम्मत तथा अपराध की मात्रा के अनुसार होना चाहिए।

मनु ने अपराध के अनुसार निम्न प्रमुख चार प्रकार के दण्डों का विधान किया है :-

(I) वाग्दण्ड (समझाना-बुझाना)

(II) धनदण्ड (जुर्माना)

(III) कामदण्ड एवं वधदण्ड (शारीरिक यातना एवं प्राणदण्ड)

(IV) धिग्दण्ड (निन्दा-भर्त्सना करना)।

मनु द्वारा दण्ड की मात्रा व प्रकृति के निर्धारण में इस तथ्य पर ध्यान देना जरूरी है कि संबंधित अपराधी अपराध के गुण-दोष के बारे में जानता था या नहीं। अज्ञानतावश किये गये अपराध को जानबूझकर किये गये अपराध से कम गम्भीर माना गया है। लेकिन मनु की न्याय व्यवस्था का कमजोर पक्ष यह है कि यह वर्ण व्यवस्था के आधार पर अपराध की गम्भीरता का निर्धारण करती है, जिसमें समान अपराध के लिये सभी को समान रूप से दण्डित नहीं किया जाता। वर्ण के आधार पर व्यक्ति से व्यवहार की अपेक्षा की जाती है। उदाहरणत: ब्राह्मण को कटुवचन कहने के अपराध में क्षत्रिय व वैश्य को कमश: सौ पण तथा दो सौ पण का दण्ड देना होगा, किन्तु उसी अपराध के लिए शूद्र को अंगच्छेद का दण्ड देय होगा। इसी तरह अगर

ब्राह्मण किसी को कटु वचन बोलता है तो उसे आर्थिक दण्ड देकर छोड़ दिया जाय, जबकि ये ही कार्य कोई शूद्र करता है तो उसकी जीभ काट ली जानी चाहिए। मनु द्वारा ब्राह्मण वर्ग के प्रति विशेष विशेष व्यवहार तथा शूद्रों के प्रति पूर्वाग्रह से निश्चित रूप से वर्ण धारित भेदभाव दिखाई देता है, जिसका कोई विवेक सम्मत आधार नहीं है।

बोध प्रश्न 2

प्रश्न 1 मनु के अनुसार राज्य का मुख्य कार्य क्या है?

उत्तर: .....

.....

2.6 कर व्यवस्था

मनु का मानना है कि राज्य की सुरक्षा, समृद्धि, सुदृढ़ता तथा प्रजा शीं सुख-सुविधा के लिये राजकोष की आवश्यकता होती है। यह कोष प्रजा पर कर लगाकर ही किया जा सकता है। मनु का स्पष्ट निर्देश है कि राजा को स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों तथा मनमाने से कर संग्रह नहीं करना चाहिये। जिस प्रकार जोंक, बछड़ा एवं मधुमक्खी थोड़ा थोड़ा करके अपनी के लिये क्रमश: रक्त, दूध व शहद लेते है, उसी प्रकार राजा को अपनी प्रजा से थोड़ा -. करके कर वसूल करना चाहिए।

मनुस्मृति में करों की दरों के बारे में भी लिखा गया है। व्यापारियों से कर उनके कार्य एवं लाभ को देख कर लिया जाना चाहिए। भूमि की गुणवत्ता, उपजाऊपन ' परिश्रम आदि पर विचार कर किसानों से आय का छठा, आठवां तथा बारहवां भाग गृहण किया चाहिए। वृक्ष, मांस, घी, गंध, औषधि, चमड़ा, मिट्टी के बर्तन तथा पत्थर से बनी वस्तुओं का छठा भाग कर के रूप में लिया जाना चाहिए। मनु ने यह भी निर्देश दिया है कि सकट काल में राजा के चौथे भाग तक कर के रूप में वसूल कर सकता है, लेकिन कारीगर, बढ़ई, लौहार आदि अति निर्धन व्यक्तियों पर राज्य द्वारा किसी प्रकार का कर नहीं लगाया जाना चाहिए। इसके स्थान पर को ऐसे व्यक्तियों से प्रति माह एक दिन श्रम करवाना चाहिए। मनु ने ब्राह्मण, बूढ़े, अंधे, पंगु, असहाय लोगों से किसी प्रकार का कर वसूल ना करने की सलाह दी है। मनु ने राज्य की आय का एक स्रोत जुर्माने (दण्ड कर) को भी माना है।

इस प्रकार मनु ने कर निर्धारण व वसूली में राजा की स्वेच्छाचारिता को अस्वीकार करते हु ये इस संबंध में निश्चित एवं स्पष्ट नियमों का प्रतिपादन किया है। मनुस्मृति कर संग्रह को राज्य का उद्देश्य न मानकर प्रजा की रक्षा तथा कल्याण के लिए एक साधन माना गया है, अत: यह आवश्यक है कि कर व्यवस्था प्रजा-कल्याण की मूल धारणा के अनुरूप हो।

2.7 परारा‍ष्ट्र सम्बन्ध

मनु ने एक राज्य को अन्य राज्यों से किस प्रकार के सम्बन्ध विकसित कर विजयी एवं शक्तिशाली स्थिति हासिल करनी चाहिए, इसके कई सिद्धान्त एवं विकल्प दिये है। इसमें

मण्डल सिद्धान्त, षड्गुण्य नीति, उपाय, युद्ध आदि के अलावा राजदूतों व कूटनीति सम्बन्धि विचारों पर हम यहां प्रकाश डालेगे :

2.7.1 मण्डल सिद्धान्त

मण्डल सिद्धान्त अन्तर्राज्य सम्बन्धों के सुचारू संचालन के लिए राज्यों के वर्गीकरण पर बल देता है। यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि एक सफल और विजय चाहने वाले शासक को शत्रुओं की संख्या कम से कम और मित्रों की संख्या अधिक से त्र रखने का प्रयास करना चाहिए। मनु के मण्डल (समूह) सिद्धान्त में कुल 12 सदस्य राज्य बताये गये है, जिसका केन्द्र विजीगिषु (विजय चाहने वाला राजा) है। राज्य मण्डल के अन्य राज्यों का वर्गीकरण इसी विजीगिषु के संदर्भ में किया गया है।

राज्य मण्डल में सम्मिलित इन 12 राज्यों को चार भागों में बांटा गया है, मित्र, शत्रु, उदासीन एवं मध्यम। जिन राज्यों की भौगोलिक सीमाएं आपस में मिलती है, उन्हें मनु ने शत्रु राज्य माना है, जबकि जिस राज्य की सीमाएं शत्रु और मित्र दोनों प्रकार के राज्यों से मिलती है, उसे मध्यम राज्य कहा गया है। इन सभी से भिन्न राज्य को मनु ने उदासीन राज्य की श्रेणी में रखा है।

विजीगिषु के राज्य की पीछे की सीमा से लगा हुआ राज्य 'पार्ष्णिग्राह' (पीठ का शत्रु और पार्ष्णिग्राह की सीमा से लगा हुआ राज्य पार्ष्णिग्राह सार और आक्रान्दा सार कहे गये है। इन राज्यों के अलावा मध्यम तथा उदासीन दो राज्य ओर है। मध्यम राज्य विजीगिषु तथा अरि राज्य की सीमा से लगा हुआ होता है, जबकि उदासीन राज्य की सीमाओं से दूर होता है। इस प्रकार बारह राज्यों का यह समूह 'राज्य मण्डल' या मण्डल सिद्धान्त कहलाता है। जिसमें राष्ट्र मण्डल के पांच सदस्य राष्ट्र विजीगिषु के अग्र भाग के तथा चार पृष्ठ भाग के, एक मध्यम, एक उदासीन एवं विजीगिषु स्वयं शामिल है।

राज्य मण्डल में शक्ति संतुलन को हानि पहुँचने पर राज्य की सुरक्षा खतरे में पड़ सकती है। अत: राजा को ऐसी नीति और योजना बनानी चाहिए कि शक्ति संतुलन हमेशा उसके पक्ष में रहे। मनु ने प्रत्येक राजा का यह कर्त्तव्य माना है कि मण्डल सिद्धान्त के आधार पर जो राज्य उसके मित्र हो सकते है वह उनके साथ मैत्री संबंधों को और अधिक मजबूत करे तथा जो राज्य उसके शत्रु है, उन राज्यों को कमजोर करे और शत्रु राज्यों को इस प्रकार से नियंत्रित करे कि वे शत्रु के रूप में सक्रिय होने का साहस न कर सकें।

इस प्रकार मण्डल सिद्धान्त के माध्यम से मनु ने शासक के समक्ष, उसके सीमावर्ती व अन्य निकटवर्ती राज्यों का एक विवेक सम्मत व वैज्ञानिक वर्गीकरण प्रस्तुत किया है, ताकि शासक किसी राज्य-विशेष के संबंध में नीति-निर्धारण करते समय यह सोच-विचार कर ले कि उसकी नीति की अन्य राज्यों से क्या प्रतिक्रिया आयेगी। शासक को चाहिए कि शत्रु राजाओं से पृथक-पृथक या मिलकर साम, दाम, दण्ड और भेद आदि उपायों से तथा पुरूषार्थ और नीति से अन्य राज्यों को वश में करें। शासक को ऐसी योजना बनानी चाहिए कि अपने राज्य का भेद अन्य राज्य न जान सके तथा अन्य राज्य की गुप्त योजना स्वयं के पास आती रहे।

2.7.2 षड्गुण्यनीति

मण्डल सिद्धान्त में जहाँ विजीगिषु राज्य के अन्य राज्यों से सम्बन्धों का आंकलन किया गया है, वहीं षड्गुण्य नीति एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य के प्रति किसी विशेष परिस्थिति में अपनायी जाने वाली नीति के ऐसे विकल्प प्रस्तुत करती है, जो राज्य के लिये लाभदायक हो। इसके लिए मनुस्मृति में जिन छः विशेष गुणों का वर्णन किया गया है, उन्हें ही षड्गुण्य नीति कहा जाता है। इसके प्रमुख तत्व इस प्रकार है:-

(i) सन्धि:- राजा द्वारा अपने राज्य के तात्कालिक अथवा भावी लाभ को ध्यान में रखते हुये किसी दूसरे राज्य से मित्रता कर लेनी चाहिये। इसे ही मनु ने संधि नाम गुण की संज्ञा दी है मनु ने संधि के दो प्रकार बताये है:- पहला लाभ की इच्छा से किसी दूसरे राजा से मिलकर शत्रु पर चढ़ाई करना समानधर्मी संधि है। दूसरा किसी राजा से आप इधर जाइए, मैं उधर जाता हूं ऐसा कह कर अलग-अलग चढ़ाई करना असमान धर्मी 'संधि कहलाती है।

(ii) विग्रह (युद्ध):- राजा द्वारा दूसरे राज्य पर किये गये आक्रमण को विग्रह कहा जाता है। इसके दो भेद है :- पहला, शत्रु की कमजोरियों की पूर्ण और पूरी जानकारी लेने के बाद विजय के उद्देश्य से किया गया आक्रमण और विग्रह तथा दूसरा, अपने मित्र पर किये गये आक्रमण के जवाब में उसकी रक्षा के लिये किया गया विग्रह। लेकिन मनु का निर्देश है कि अपने राज्य' सभी स्थितियां अनुकूल होने पर ही विग्रह की नीति अपनायी जानी चाहिए।।

(iii) यान:- विजय प्राप्त करने अथवा शत्रु को पीड़ित करने के उद्देश्य, से एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य पर किये गये आक्रमण को यान कहा गया है। यान के दो प्रकार है :- शत्रु को संकट में देखकर समर्थ राज्य द्वारा उस पर किया गया आक्रमण प्रथम यान कहा है, जबकि आक्रमणकर्त्ता राज्य स्वयं समर्थ न होने पर मित्र की सहायता से किये जाने वाले को द्वितीय यान कहा गया है। यान के संदर्भ में मनु का निर्देश है कि स्वयं की सेना के होने तथा शत्रु पक्ष के दुर्बल होने पर ही इस गुण का सफल प्रयोग संभव है।।

(iv) आसन:- शत्रुता पूर्ण संबंधों के बावजूद राज्य द्वारा युद्ध की स्थिति को न अपनाकर थोड़े समय के लिये उदासीन या तटस्थ रहकर प्रतीक्षा करना आसन है। यह थोड़े के लिये अपनायी जाने वाली नीति है ताकि शत्रु को शान्त रखकर स्वयं शक्ति अर्जित की जा। मनु ने आसन के दो रूप बताये है:- प्रथम, सेना या कोष के कमजोर होने पर अपनाया गया आसन तथा दूसरा, मित्र के आग्रह पर अपनाया गया आसन।।

(v) द्वैधी भाव :- मनु के अनुसार, जब राजा अपनी सेना को दो भागों ' बांट कर एक भाग को किसी स्थान पर सेनापति के अधीन रखता है तथा दूसरे भाग को स्वंय अपने अधीन दूसरे स्थान पर रखता है तो यह द्वैधी भाव कहलाता है। इस गुण के प्रयोग के बारे में मनु की राजा को राय है कि यदि वह शत्रु को अधिक शक्तिशाली समझता है तो सेना को उपरोक्त दो ' में बांट ले। सेनापति के अधीन सेना का भाग शत्रु पक्ष की सेना को रोके रखने का काम करे! तथा बाकी सेना के साथ राजा सुरक्षित स्थान पर रहते हुए मित्रों आदि की सहायता से शक्ति कार संचय करे।

(vi) संश्रय:- संश्रय का अर्थ है बलवान का आश्रय लेना। यदि राजा ' द्वैधी ' भाव की रणनीति अपनाकर भी अपनी रक्षा करवाने में असमर्थ हो, तो उसे बलवान राजा का आश्रय लेना चाहिए। लेकिन मनु का मानना है कि सहारा ऐसे राजा का लेना चाहिए जो शत्रु ज्यादा ताकतवर हो। यह संश्रय शत्रु से पीड़ित होने रार या पीड़ित होने की आशंका पर आत्मरक्षार्थ लिया जा सकता है। षड्गुण्य नीति युद्ध की आशंका तथा युद्धकाल में राजा द्वारा जाने वाली सामरिक नीति एवं रणनीति का विवेचन करती है। जहां तक शान्तिकाल में पर राष्ट्र सम्बन्धों के संचालन का सवाल है, मनु ने कूटनीति पर बल दिया है। जिसकी महत्वपूर्ण कड़ी राजदूत है। मनु की मान्यता है कि राज्यों को आपस में राजदूतों की अदला - बदली करनी चाहिए। ' मनु ने राजदूतों की योग्यता के लिये उसका शस्त्रों, मनोविज्ञान, षड्गुण्य नीति का ज्ञाता होने के साथ-साथ चतुर, कुलीन, निर्लोभी होना आवश्यक माना है। उनके अनुसार, राजदूत ही मित्रों को व बिगाड़ने वाला होता है तथा युद्ध एवं शान्ति की चाबी भी उसी के हाथ में होती है। इसके कुशल गुप्तचर व्यवस्था को भी राज्य की शक्ति का आधार माना गया है।

बोध प्रश्न - 3

प्रश्न : षड्गुण्यनीति मे वर्णित छः गुण कौन से है

उत्तर : ……

……

2.7.3 उपाय

उपाय का अर्थ उस साधन से है जिसे विदेश नीति के सफल संचालन के लिये अपनाया जाता है। अन्य भारतीय राजनीतिक चिन्तकों के समान मनु ने भी चार उपायों का विधान किया है जो साम, दाम, दण्ड, भेद के नाम से जाने जाते है

(i) साम:- साम का अर्थ है विशेष प्रेम तथा सम्मान प्रदर्शन द्वारा दूसरे राजा को अपने पक्ष में करने का प्रयास करना।

(ii) दाम:- धन - सम्पत्ति अथवा अन्य किसी रूप में सहायता देकर प्रतिपक्ष को अपने अनुकूल बनाने का उपाय 'दाम' कहा जाता है।

(iii) भेद:- सबल शत्रु को कमजोर करने के उद्देश्य से उसके पक्ष में फूट डालने की नीति 'भेद' है। भेद के उपाय को दो तरीकों से अपनाया जा सकता है। प्रथम, सबल शत्रु राज्य तथा उसे मित्र राजाओं के मध्य मतभेद पैदा करना। दूसरा सम्बन्धित राजा और उसके राज्य की अन्य प्रकृतियां - यथा, अमात्य, सेनापति, प्रजाजन आदि के बीच मतभेद की स्थिति पैदा करना। मनु की मान्यता है कि इस उपाय का प्रयोग दूत तथा गुप्तचरों की सहायता से किया जा सकता है।

(iv) दण्ड - 'दण्ड' से तात्पर्य, शक्ति के प्रयोग से ही है। इस उपाय का उद्देश्य है बलपूर्वक अथवा युद्ध द्वारा शत्रु को अपने अनुकूल बनाने के लिए बाध्य करना। लेकिन मनु का यह भी विचार है कि दण्ड के उपाय का प्रयोग तभी किया जाना चाहिए जबकि अन्य तीन उपाय साम,दाम,भेद सार्थक ना हों। मनु के अनुसार राजा साम, दाम और भेद की

नीति का एक-एक करके या सम्मिलित रूप से प्रयोग करके अन्य राज्यों की जीत में प्रयत्न करे, युद्ध द्वारा नहीं। क्योंकि युद्ध से दोनों पक्षों का ही नाश होता है। लेकिन आवश्यक होने पर निःशंक होकर युद्ध करना का आश्रय लिया जाना चाहिए।

2.7.4 युद्ध

प्राचीन भारतीय परराष्ट्र सम्बन्धों का प्रधान व निर्णायक आधार युद्ध होने के कारण मनु ने तैयारी आवश्यकता, युद्ध संचालन से लेकर विजय प्राप्ति तक की रणनीति का विवेचन किया है। युद्ध में शत्रु से सामना करने की स्थिति को निर्विकल्प बताते हुये मनु ने अह्वान किया है कि युद्ध में विजय प्राप्त करने से राज्य को लाभ होता है तथा लड़ते हुये मरने से स्वर्ग लाभ होता है। इसलिए मनु ने युद्ध से डरकर न भागने को राजा का धर्म (कर्त्तव्य) कहा है। मनुस्मृति में युद्ध में काम आने वाले अस्त्र-शस्त्रों के वर्णन के साथ ही यह भी कहा गया है कि सोते हुये, कवच रहित, नंगे, शस्त्र से रहित, युद्ध न करते हुए और दूसरे के साथ युद्ध में भिड़े योद्धा को नहीं मारना चाहिए। ये नियम बताते है कि मनु भी धर्म युद्ध का समर्थन करते थे।

मनु के अनुसार, विजेता राजा द्वारा पराजित राजा के प्रति सहृदयता का व्यवहार किया जाना चाहिए तथा पराजित राज्य के लोगों के धर्म, रीति-रिवाज, मर्यादाओं एवं परम्पराओं का सम्मान किया जाना चाहिए।

2.8 मनु और कौटिल्य

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के पुरोधा मनु तथा कौटिल्य की संक्षिप्त किन्तु तुलनात्मक चर्चा अध्ययन को समग्रता प्रदान करेगी। सर्वप्रथम, यदि हम समानता की बात करें, तो पाते है कि दोनों ने अपने समय में प्रचलित वर्णाश्रम व्यवस्था को स्वीकार करते हुये ब्राह्मण वर्ण को सर्वोच्च तथा शूद्र वर्ण को निम्न स्थान दिया है। मनु तथा कौटिल्य दोनों ने चार पुरूषार्थों - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को जीवन के लक्ष्य के रूप में प्रतिपादित किया है। राज्य की उत्पत्ति के बारे में मतभेद होते हुये भी दोनों विचारक निरंकुश राजतंत्र के विरोधी है, और इसीलिये ' राजा के गुणो, प्रशिक्षण तथा कर्त्तव्यों पर बल देते हुये राजा की दिनचर्या भी निर्धारित करते है। मनु की भांति कौटिल्य ने भी राज्य को सप्तांग माना है, भिन्नता यह है कि मनु का राष्ट्र कौटिल्य जनपद है और मनु का पुर कौटिल्य का दुर्ग। दोनों की दृष्टि में राज्य के उद्देश्य प्राय: समान है दण्डनीति के सर्वोच्च महत्त्व को स्वीकार करते है। इसी प्रकार न्याय तथा कर व्यवस्था संबंधी ' विचारों में समानता दिखाई देती है।

उपरोक्त समानताओं के अतिरिक्त दोनों के चिन्तन में असमानता पायी जाती है। सर्वप्रथम मनु ने सृष्टि निर्माण की बात की लेकिन कौटिल्य इस विषय में मौन है। राज्य की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त के पक्षधर है जबकि कौटिल्य ने सामाजिक अनुबन्ध पर दिया है। कौटिल्य ने मनु की अपेक्षा प्रशासनिक व्यवस्था का अधिक विरतृत वर्णन किया। इन समानताओं तथा असमानताओं के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि कौटिल्य तथा विशेषरूप से मनु के जीवन तथा रचनाकाल के बारे में विद्वानों में बहुत अधिक मतभेद होने के कारण यह है कि किसने किसका अनुसरण किया है। किन्तु इतना निश्चित है कि दोनों के चिन्तन में

विद्यमान महत्त्वपूर्ण समानताओं ने सदियों तक भारतीय सामाजिक तथा राजनीतिक चिन्तन एवं व्यवहार को निर्णायक रूप से दिशा दी है।

2.9 सारांश

मनु भारतीय सामाजिक तथा राजनीतिक चिन्तन के प्रमुख संस्थापक है। मनुस्मृति मुख्यत: राजनीतिक प्रकृति का ग्रन्थ न होने के कारण राजनीतिक व्यवस्था को अस्तित्व प्रदान करने की अपेक्षा उसे सामाजिक व्यवस्था की उपलखता के रूप में निरूपित गया है, किन्तु फिर भी मनु ने राजनीतिक संस्थाओं के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक पक्ष पर अपेक्षित प्रभाव डाला है। इसमें जीवन के विविध पक्षों का इतना विस्तृत विवेचन किया गया है कि यह जीवन ' जनता के लिए एक समग्र आचार संहिता के रूप में महत्त्वपूर्ण बन गई।

मनु ने सामाजिक दर्शन के विभिन्न पक्षों पर विस्तार से प्रकाश डाला। सामाजिक व्यवस्था के सम्बन्ध में नैतिक आधारों, समाज के संगठन एवं विभिन्न वर्णो के मध्य सम्बन्धों' के विषय में विस्तृत नियमों का प्रतिपादन करके मनु ने एक समृद्ध सामाजिक दर्शन दिया। इसी दर्शन के अनुरूप मनु ने मानव मात्र के कर्त्तव्यों एवं स्वधर्म पालन पर भी बल दिया। उनके चिन्तन 'यथार्थ और नैतिकता की प्रधानता है, किन्तु उल्लेखनीय है कि वर्णाश्रम पर आधारित उनकी समाज व्यवस्था मानवीय समानता एवं स्वतंत्रता पर आधारित नहीं है। वस्तुत: शूद्रों और स्त्रियों के प्रति' का गम्भीर पूर्वाग्रह है। मनु शूद्रों को स्वतंत्र नागरिक नहीं मानते और स्त्री स्वतंत्रता का भी उन्होने' निषेध किया है। इस प्रकार सामाजिक असमानता का पोषण मनु के सामाजिक चिन्तन का एक दुर्बल पक्ष है।

मनु ने राज्य की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त को अपनाते हु ये भी निरंकुश राजतंत्र को अस्वीकार कर राजा को धर्म तथा सदाचरण के नियमों से बांधा है। मनुस्मृति में सम्प्रभुता, राजधर्म तथा राष्ट्रीयता जैसे आधुनिक प्रश्नों की उस समय विवेचना की जबकि पाश्चात्य दार्शनिक उनकी कल्पना भी नहीं कर सकते थे।

मनु ने न्यायाधीशों की योग्यताओं, न्यायपालिका के संगठन, न्यायिक प्रक्रिया,अपराधों तथा दण्ड के वर्गीकरण आदि का व्यवस्थित प्रतिपादन कर भारतीय न्याय शास्त्र फ़ मौलिक योगदान दिया, तथापि समान अपराध के लिए सभी वर्णो के लिए समान दण्ड का विधान नहीं किया गया है।

मनु के परराष्ट्रनीति सम्बन्धी विचार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। षड्गुण्य नीति एवं मण्डल सिद्धान्त किसी देश की विदेशनीति के लिये आज भी मानक सिद्धान्त है। मनु का यह विचार भी दूरदर्शितापूर्ण एवं मानव जाति के हित के लिए है कि दो राज्यों के मध्य युद्ध के विकल्प को अंतिम विकल्प के रूप में ही अपनाया जाना चाहिए।

इस प्रकार मनु के चिन्तन का महत्त्व इस तथ्य में निहित है कि मनु ने यूनान के राजनीतिक दार्शनिकों से भी सदियों पहले राजनीतिक संस्थाओं के विविध पक्षों का व्यवस्थित विवेचन किया। लेकिन हमारे यहाँ मनु की अपेक्षा यूनानी राजनीतिक चिन्तन को अधिक महत्त्व देकर उसी के मानदण्ड पर मनु तथा अन्य भारतीय राजनीतिक मनीषियों का अध्ययन किया जाता रहा है। वस्तुत: मनु किसी एक राष्ट्र व जाति के न होकर सारे विश्व के हैं। यद्यपि

उनके स्त्री तथा शूद्रों सम्बन्धी विचार अप्रासंगिक है किन्तु इससे उनके चिन्तन का महत्त्व कम नहीं हो जाता है। उनके चिन्तन ने आज तक हिन्दू समाज व्यवस्था का मार्ग निर्दिष्ट किया है। कतिपय दुर्बलताओं के साथ, मनु के विचारों का महत्त्व सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक है।

2.10 अभ्यास प्रश्न

प्रश्न 1 मनु के राजनीतिक दर्शन की विवेचना कीजिये।

प्रश्न 2 मनु के परराष्ट्र सम्बन्धी विचारों पर प्रकाश डालिये।

प्रश्न 3 मनु के सप्तांग सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये।

2.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. बी.ए. सैलेटोर : एन्श्येट इंडियन पोलोटिकल थॉट एंड इनस्टिट्यूशन्स, एशिया पब्लिशिंग हाउस , नई दिल्ली
2. कुल्लूक भट्ट : मनुस्मृति, चौखम्भा संस्कृत संस्थान,वाराणसी,1992.
3. पी. वी. काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास , उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ(भाग
4. प्रथम,द्वितीय) चतुर्थ संस्कारण 1992.
5. परमात्मा शरण : प्राचीन भारत मे राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ. 1979
6. वी.आर.मेहता : फाउण्डेशन्स ऑफ इंडियन पोलिटिकल थॉट - एन.इंट्रोंडक्शन, मनोहर, नई
7. दिल्ली 1966

इकाई -3

कौटिल्य

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्धेश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 कौटिल्य का जीवन परिचय

3.3 कौटिल्य के अर्थशास्त्र की विषय वस्तु

3.4 कौटिल्य के राजनीतिक विचार

- 3.4.1 राज्य की उत्पत्ति संबंधी विचार
- 3.4.2 राज्य का प्रयोजन एवं सम्प्रभुता
- 3.4.3 राज्य की योग्यता एवं दिनचर्या
- 3.4.4 राजा पर नियन्त्रण
- 3.4.5 राज्य के उद्धेश्य
- 3.4.6 कौटिल्य की साप्तॉग राज्य की धारणा
- 3.4.7 राज्य का कार्य-क्षेत्र
- 3.4.8 मंत्रिपरिषद गठन एवं कार्य
- 3.4.9 प्रशासनिक व्यवस्था

3.5 कौटिल्य के सामाजिक व्यवस्था संबंधी विचार

- 3.5.1 वर्ण व्यवस्था
- 3.5.2 आश्रम व्यवस्था

3.6 कौटिल्य के न्याय व्यवस्था एवं कानून संबंधी विचार

- 3.6.1 न्यायालयों के प्रकार
- 3.6.2 न्यायालयों का संगठन
- 3.6.3 विधि (कानून) के सत्रोत
- 3.6.4 दण्ड व्यवस्था

3.7 कौटिल्य के आर्थिक विचार

3.8 कौटिल्य की पर-राष्ट्र नीति सम्बन्धी धारणा

- 3.8.1 पर-राष्ट्र सम्बन्धों का सैद्धान्तिक पक्ष
- 3.8.2 पर-राष्ट्र सम्बन्धों का व्यावहारिक पक्ष

3.9 राजनीतिक चिन्तन को कौटिल्य की देन

3.10 सारांश

3.11 अभ्यास प्रश्न

3.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

3.0 उद्देश्य

इकाई के अध्ययन के उपरांत आप जान पायेंगे-

- कौटिल्य के अर्थशास्त्र की विषय वस्तु
- कौटिल्य के राजनीतिक विचार विशेषत: राज्य व राज्य का सप्तांग सिद्धान्त
- अर्थशास्त्र में वर्णित सामाजिक-आर्थिक तथा न्याय सम्बन्धी विचार
- कौटिल्य की पर-राष्ट्र सम्बन्धी धारणा, एवं
- राजनीतिक चिन्तन को कौटिल्य का योगदान।

3.1 प्रस्तावना

'कौटिल्य' भारतीय राजनीतिक विचारकों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। कौटिल्य की रचना 'अर्थशास्त्र' राजनीतिशास्त्र की महत्त्वपूर्ण पुस्तकों में से एक है। कौटिल्य' के सन्दर्भ में अध्ययन राजनीति विज्ञान के विद्यार्थी के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अत: अध्ययन सुविधा की दृष्टि से सम्पूर्ण अध्याय को कुछ खण्डों में विभक्त किया गया है ताकि कौटिल्य के विचारों का साँगोपॉग अध्ययन सम्भव हो सके।

अध्याय के खण्ड 3.2 में कौटिल्य के जीवन चरित्र को उद्घाटित किया गया है तथा खण्ड 3.3 में उनकी रचना 'अर्थशास्त्र' के विषय में बताया गया है। इसके पश्चात् कौटिल्य के विचारों का उल्लेख खण्ड 3.4 में उसके राजनीतिक विचारों का विशद् विवेचन किया गया है एवं खण्ड 3.5 में सामाजिक विचारों की जानकारी दी गयी है। खण्ड 3.6 में कौटिल्य द्वारा वर्णित न्याय व्यवस्था के बारे में विवेचन किया गया है तथा खण्ड 3.7 उनके आर्थिक विचारों से सम्बन्धित है। खण्ड 3.8 कौटिल्य के 'पर-राष्ट्र' सम्बन्धी विचारों को उद्धृत करता है इस खण्ड को अध्ययन सुविधा की दृष्टि से पुन: दो भागों में विभक्त था। पर-राष्ट्र सम्बन्धों के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्ष की जानकारी समाहित की गयी।

3.2 जीवन परिचय

प्राचीन भारतीय राजशास्त्रियों में कौटिल्य का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है, किन्तु हमारा समाज जिस आचार्य को कौटिल्य के नाम से जानता है, उसका वास्तविक नाम विष्णुगुप्त शर्मा है और भारतीय जनमानस उसे ही चाणक्य के नाम से जानता है। यद्यपि चाणक्य नाम उसके पिता का है, किन्तु जनमानस ने स्वयं कौटिल्य को चाणक्य नाम से याद करता है। गणपति शास्त्री के अनुसार कोटिल्य नाम एक त्रुटि का परिणाम है जो लेखकों एवं पाठकों द्वारा की गई हैं उनके अनुसार ' कौटिल्य' एक श्रृषि का नाम है जिसने ' कौटल ' गौत्र की स्थापना की। कौटल गौत्र में जन्म लेने के कारण विष्णुगुप्त को कौटल्य कहा गया कौटिल्य नहीं। कौटिल्य कपट एवं झूठ के अर्थो में प्रयुक्त किया जाने वाला नाम है। अर्थशास्त्र में राज्य की सुरक्षा के उपायों की विवेचना के क्रम में कौटिल्य ने अनेक ऐसे उपायों का चित्रण किया है जिन्हें नैतिक नहीं माना जा सकता। संभवत: इसी कारण कुटिलता या धूर्तता के अर्थ में भी कौटिल्य शब्द का उल्लेख किया जाने लगा।

कौटिल्य के काल के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। द कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया में अर्थशास्त्र की रचना का समय 300 वर्ष ईसा पूर्व माना गया। बी० ए० सालेटोर ने कौटिल्य के काल और अर्थशास्त्र के रचना काल को 400 से 300 ई०पू० माना है।

कौटिल्य के जन्म स्थान के संबंध में में भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है। वैसे बौद्ध मन्थ में कौटिल्य का जन्म स्थान तक्षशिला माना है। जबकि जैन ग्रंथों में ' कौटिल्य का जन्म स्थान अवणवेई मैसूर राज्य का गोल प्रदेश माना है। कुछ ने नेपाल के तराई इलाके को कौटिल्य का जन्म स्थान माना है।

कौटिल्य ने एक शिक्षक के रूप में तथा शस्त्र एव शास्त्र के ज्ञाता के रूप में अच्छी ख्याति अर्जित की। कहा जाता है कि उस समय का कोई ऐसा शासक नहीं जो इनकी नीति से प्रभावित न हुआ हो। कौटिल्य को एक दृढ निश्चयी तथा अद्भुत इच्छा शक्ति के विद्वान के रूप में जाना जाता हैं उनकी इस ख्याति के साथ एक घटना जुड़ी हुई है, कहते हैं मगध के अन्तिम महाराजा नन्द (योगानन्द) थे अपने मंत्री शकटार को श्राद्ध के लिये ब्राह्मणों को एकत्र करने के लिए कहा। शकटार राजा द्वारा पूर्व में किये गये किसी अपमान से पीडित था अत.' वह एक ऐसे क्रोधी ब्राह्मण की तलाश में था जो श्राद्ध में उपस्थित होकर राजा को अपने ब्रह्म तेज भरम कर दे। खोज करते हुए उसने एक कुरूप, कृष्णकाय ब्राह्मण को देखा जो किसी जंगल में, कांटेदार झाड़ियों को काट रहा था और उनकी जड़ों में खट्टा दही डाल रहा था। शकटार द्वारा ' कारण पूछे जाने पर उस ब्राह्मण ने कहा, इन झाड़ियों के कीटों के चुभने से मेरे पिता देहान्त हुआ, अत: मैं इन्हें समूचा नष्ट कर रहा हूँ। " इस क्रोधी ब्राह्मण को शकटार ने उपयुक्त निमन्त्रण-योग्य ब्राह्मण जाना और उससे महाराजा नन्द द्वारा आयोजित ब्रह्मभोज में उपस्थित होने की प्रार्थना की। ब्राह्मण ने इस निमन्त्रण को सहर्ष स्वीकार कर लिया। नियत समय पर जब ब्राह्मण ब्रह्म भोज के लिए उपस्थित हुआ, मन्त्री शकटार ने आदरपूर्वक उसे सर्वप्रथम आसन पर विराजमान। ब्रह्मभोज आरम्भ होने पर जब महाराज नन्द ब्राह्मणों का दर्शन करने के लिए आये तो सर्वप्रथम एक कुरूप, कृष्णकाय, भीषण व्यक्ति को देखकर अति कुद्ध होकर कहने लगे, “इस चाण्डाल को ब्रह्म भोज में क्यों लाया गया है' ' ब्राह्मण इस अपमान को सहन न कर सका और उसने भोजन छोड़कर तत्काल अपनी शिखा खोलते हुए यह प्रतिज्ञा की कि 'जब तक मैं नन्द वंश को समूल नष्ट करके अपने इस अपमान का बदला नहीं ले लूँगा, तब तक मैं शिखा बन्धन न करूँगा और इतिहास इस बात का साक्षी है कि उसने ऐसा ही किया।

3.3 कौटिल्य के अर्थशास्त्र की विषयवस्तु

अर्थशास्त्र के रचनाकाल के बारे में विद्वान एक मत नहीं है। जहाँ ए०वी० कीथ जैसे विद्वान अर्थशास्त्र को ईसा की मृत्यु के बाद तीसरी शताब्दी की रचना मानी हैं। वही शाम शास्त्री, डा० के० पी० जयसवाल, बी०ए० स्मिथ एवं आर के मुखर्जी जैसे विद्वान् इसे की रचना मानते हैं। कौटिल्य का अर्थशास्त्र, अंग्रेजी के शब्द 'इकोनोमिक्स' का पर्यावाची नहीं है। वास्तव में यह शासन कला एवं राजनीति पर लिखा गया एक महान् ग्रंथ है। मथ हें कुल 15 अधिकरण है। प्रथम अधिकरण में राज्य के प्रशासनिक विभागों, संगठनों और पदाधिकारियों से सम्बन्धित

हैं तीसरे व चौथे अधिकरण क्रमश: राज्य की दीवानी और फौजदारी न्यायिक से सम्बन्धित है। पाँचवे अधिकरण में राजकीय कर्मचारियों के अनुशासन, अधिकारों और दायित्वों का वर्णन है। छठे अधिकरण में राज्य की सात प्रकृतियों का विवेचन मिलता है। आठवाँ अधिकरण युद्ध, विजय, पराजय तथा सेना सम्बन्धी व्यवस्थाओं से सम्बन्धित हैं नवें अधिकरण में विजय के लिए जाने से पूर्व विचार करने योग्य विषयों से सम्बन्धित है। दसवें अधिकरण में युद्ध नीति से सम्बन्धित है। ग्यारहवें अधिकरण में आपातकालीन स्थिति में शत्रु नाश अथवा उसके वश में करने उपायों का वर्णन प्राप्त होता है। बारहवें और तैरहवें अधिकरण में विशिष्ट परिस्थितियों में राजा द्वारा अपनाये जाने वाले रक्षा सम्बन्धी उपायों का विवेचन है। चौदहवें अधिकरण में शत्रु-नाश के विषैली औषधियों, मन्त्रों आदि का वर्णन है। पन्द्रहवाँ अधिकरण मुख्यत: अर्थशास्त्र के अर्थ की से सम्बन्धित है।

इस प्रकार अर्थशास्त्र की विषय वस्तु राज्य की समस्त आवश्यकताओं का विस्तृत विवरण है और इसीलिए यह एक महान ग्रंथ है।

3.4 कौटिल्य के राजनीतिक विचार

अर्थशास्त्र में उपलब्ध राज्य सम्बन्धी समस्त विवरण का अध्ययन अग्रलिखित बिन्दुओं के माध्यम से किया जा सकता है।

3.4.1 राज्य की उत्पत्ति

कौटिल्य ने राज्य की उत्पत्ति के सन्दर्भ में संविदावादी विचार को स्वीकार किया है। कौटिल्य अपने राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त में मनु की अपेक्षा हाब्स के ज्यादा निकट है। कौटिल्य ने राज्य को मानवीय प्रयत्नों का परिणाम माना। उसके अनुसार व्यक्तियों को अपनी सुरक्षा के लिए राज्यसत्ता को स्वीकार किया। उनके अनुसार राज्य 'धर्म' के माध्यम से जनता के व्यवहार को नियंत्रित करता है।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में राज्य से पूर्व की अवस्था का चित्रण करते हुए कहा है कि समाज में राज्य के अभाव में अराजकता व्याप्त थी और चारों ओर अन्याय, उत्पीड़न व भय का वातावरण व्याप्त था। इस स्थिति से मुक्ति के लिए लोगों ने विवस्वान के पुत्र (वैवस्वत मनु) को अपना शासक नियुक्त कर दिया और उससे यह समझौता किया कि वे अर्थात् प्रजाजन उसके अर्थात शासक के प्रति सदैव आज्ञाकारिता का भाव रखेंगे और उसकी आय का एक निश्चित भाग शासक को कर रूप में प्रदान करेंगे और शासक इसके बदले प्रजा के योग क्षेम की व्यवस्था करेगा। इस प्रकार कौटिल्य ने स्पष्टत: राज्य की उत्पत्ति के संविदावादी सिद्धान्त को स्वीकार किया है।

3.4.2 राज्य प्रयोजन और सम्प्रभुता

कौटिल्य ने राज्य की उत्पत्ति के प्रसंग में यह स्पष्ट कर दिया है कि राज्य एक निश्चित प्रयोजन को पूरा करने के लिऐ अस्तित्व है। अत: वह प्राकृतिक संस्था नहीं है। कौटिल्य के अनुसार राज्य का उद्देश्य प्रजा की सुरक्षा व उसके कल्याण को सुनिश्चित कराना है। कौटिल्य ने ज्ञान या विद्या की विभिन्न शाखाओं के विवेचन के प्रसंग में यह स्पष्ट किया है

कि राज्य संस्था का उद्देश्य, व्यक्तियों के लौकिक और पारलौकिक, नैतिक व भौतिक उद्देश्यों की पूर्ति तथा उनके मध्य न्याय-सम्मत सन्तुलन को बनाये रखाना है।

कौटिल्य ने ज्ञान की शाखाओं के विवेचन तथा इनके मध्य पारस्परिक सम्बन्धों के निरूपण के माध्यम से वस्तुत: राज्य के अस्तित्व के प्रयोजन को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। ज्ञान की चार शाखाओं त्रयी, वार्ता, आन्वीक्षिकी व दण्ड नीति को कौटिल्य ने क्रमश: मानव जीवन के नैतिक व भौतिक प्रयोजनों के प्रति व्यक्ति के संतुलित दृष्टिकोण तथा इन प्रयोजनों को व्यक्ति के जीवन में घटित करने के लिऐ उत्तरदायी संस्थागत व्यवस्था के रूप में चित्रित किया है।

कौटिल्य ने त्रयी का सम्बन्ध नैतिक और पारलोकिक उपलब्धियों से माना है। वार्ता को कौटिल्य लौकिक उपलब्धियों और भौतिक सम्पदा तथा उसके अर्जन के लिऐ किये जाने वाले मानवीय क्रियाकलाप से सम्बन्धित मानते है। आंविक्षिकी त्रयी और वार्ता के प्रति व्यक्ति के प्रयत्नों तर्क, विवेक, संतुलन व न्याय के प्रयोग से सम्बन्धित है और आनविक्षिकी से निर्दिष्ट होने पर व्यक्ति के आचरण में नैतिक और भौतिक कल्याण के प्रति प्रयत्नों का न्याय सम्मत संतुलन बना रहता है। दण्ड नीति, त्रयी और वार्ता के लिए किये जाने वाले प्रयत्नों, निर्देशन तथा आनवक्षिकी द्वारा निर्धारित मापदण्डों की क्रियान्विती के लिऐ उत्तरदायी है। कौटिल्य दण्ड नीति अप्राप्त को प्राप्त करने, प्राप्त को संरक्षित करने, संरक्षित का संवर्द्धन करने, संवर्द्धित को सुयोग्य व्यक्तियों को मध्य वितरित करने के लिए क्रियाशील माना है। राज्य को दण्डनीय नीति को क्रियान्वित करने का संस्थागत माध्यम माना है।

कौटिल्य ने दण्ड को एक ऐसी भौतिक शक्ति माना हैं, जिसे धर्म की रक्षा व प्रतिपादन के लिए प्रयुक्त किया जाता है। लेकिन यह दण्ड शक्ति केवल भौतिक शक्ति ही नहीं है, बल्कि तीन अप्रत्यक्ष तत्व, भौतिक शक्ति को संचालित करते हैं।

प्रथम- शक्ति का प्रयोग धर्म की सुरक्षा के लिऐ हो, स्वार्थ पूर्ति के लिए नहीं।

द्वितीय-यह शक्ति मात्रा तथा प्रकृति में ऐसी हौ जिसे लोग अलग-अलग या संगठित रूप में चुनौती न दे सकें।

तृतीय- इस शक्ति का प्रयोग किसी अधिकृत संस्था द्वारा किया जाये।

कौटिल्य ने राज्य को ऐसी अधिकृत संस्था माना है। जो धर्म के संरक्षण के लिऐ भौतिक शक्ति का प्रयोग करती है। जिसके वैध नियंत्रण का लोगो द्वारा चुनौती नहीं दी जा सकती, अत: राज्य द्वारा प्रयुकाशाकी को कौटिल्य ने दण्ड की संज्ञा दी है। यह दण्ड शक्ति ही राज्य की सम्प्रभुता का आधार है।

3.4.3 राजा की योग्यता एवं दिनचर्या

कौटिल्य के अनुसार योग्य राजा ही प्रजा से राजभक्ति पा सकता है और प्रजा से अपनी आज्ञा का पालन करा सकता है। कौटिल्य राजा के गुणों को 'आत्मसम्पदा अथवा स्वामीसम्पद का नाम देता हैं। आत्मसम्पद के अन्तर्गत आत्मिक, बौद्धिक गुणों एवं योग्यताओं का उल्लेख किया गया है। उसके अनुसार वह उच्चकुल का हो, उसमें दैवीय बुद्धि तथा दैवीय

शक्ति हो, सत्य भाषण करने वाला हो, पररपर विरोधी बातें न करे, कृतज्ञ हो, उसका लक्ष्य ऊँचा हो था वह सामन्त राजाओं को अपने वश में रखने की सामर्थ्य रखता हो। कौटिल्य का मत है कि का शिक्षित होना तथा ज्ञानी होना आवश्यक है। राजा को षटतापों से अपने को बचाये रखना झाहिए। ये षटताप हैं- काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह एवं मतसर। जो राजा अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण नहीं रख सकता है वह राज्य करने योग्य नहीं हैं। शासन को चलाने के लिए राजा में राजनीति, कूटनीति, युद्धविद्या, विदेशनीति, शस्त्र एवं सैन्य-संचालन की पूर्ण योग्यता एवं दक्षता होगी चाहिए।

कौटिल्य मानता है कि प्रजा राजा का अनुसरण करती है यदि राजा आलसी और प्रमादी होगा तो प्रजा भी आलसी और प्रमादी होगी। अतएव राजा को सदा उन्नतिशील बना रहना चाहिए ताकि सारे राजकर्मचारी व प्रजा भी उन्नतिशील बन सकें। इसलिए कौटिल्य ने राजा की व्यस्त दिनचर्या का उल्लेख किया है उसने दिन और रात को 16 भागों में बाँटा है- दिन के आठ भाग अथवा आठ घड़ी तथा रात्रि के आठ भाग अथवा आठ घड़ी। दिनचर्या दिन की प्रथम घडी में राजा को प्रजा की रक्षा-व्यवस्था तथा गत दिवस के आय-व्यय का अवलोकन करना चाहिए। दूसरी घड़ी में उसे स्वराष्ट्रीय जनों का अवलोकन तीसरी घड़ी में स्नान, भोजन, स्वाध्याय तथा विश्राम चौथी घड़ी में वित्त विभाग का निरीक्षण पाँचवी घड़ी में मन्त्रियों व ' से परामर्श, छठीघडी में आमोद-प्रमोद सातवीं घडी में सेना का निरीक्षण आठवीं घड़ी में योजनाओं पर वार्तायें एवं योजना का निर्माण करना चाहिए।

रात्रि की प्रथम घड़ी में गुप्तचरों से वार्ता दूसरी घड़ी में स्नान, भोजन एवं स्वाध्याय, तीसरी घड़ी में मनोरंजन, चौथी एवं पाँचवी घड़ी में शयन छठी घड़ी में अगले दिन की योजना का निर्माण सातवीं घड़ी में गुप्तचरों से विचार विमर्श व कार्य निर्धारण और रात्रि अन्तिम प्रहर अर्थात आठवीं घड़ी में मंगलपाठ करना चाहिए। संक्षेप में राजा को स्वयं रहकर निर्धारित नीतियों के अनुसार कार्य करना चाहिए।

3.4.4 राजा पर नियंत्रण

राजा को व्यापक शक्तियाँ प्रदान करते हुऐ भी कौटिल्य ने उसकी शक्तियों को असीमित अथवा निरंकुश नहीं माना है। राजा को अनुशासित रखने के लिए अनेक प्रकारों के नियंत्रणों की व्यवस्था की है। जिन्हें निम्न अनुसार समझा जा सकता है :-

(i) जनमत का नियंत्रण

कौटिल्य ने राजा को जनता तथा जनमत का पूर्ण सम्मान करने का परामर्श दिया है। कौटिल्य का यह स्पष्ट मत है कि शासक जनमत की अवेहलना नहीं करें। यदि वह जनता के हित एवं मत की अवेहलना करता है तो उसके गम्भीर परिणाम हो सकते है। इस सन्दर्भ में कौटिल्य का विचार है कि, "निरंकुश राजा की अपेक्षा राजा का आश्रय प्राप्त नहीं होना ही अधिक अच्छा है।"

(ii) धर्म एवं सदाचार का नियंत्रण

कौटिल्य ने राजा की सत्ता को धर्म के अधीन माना है। यहां धर्म का अर्थ वेद एवं स्मृतियों (धर्म शास्त्रों) में वर्णित नैतिक मूल्यों के पालन से हैं, जिनमें सत्य, अहिंसा, दया,

इन्द्रिय संयम आदि प्रमुख है। राजा को प्रजाजन द्वारा स्वीकृत सदाचार का भी पालन कराना चाहिऐं, जो परम्परा, रीति-रिवाज, धार्मिक अनुष्ठान आदि के रूप में हो सकता है। कौटिल्य के अनुसार राजा को पराजित राष्ट्र की प्रजा के धर्मो का भी सम्मान करना सहयोग करते है। किन्तु जब राजा धर्म व सदाचार का उल्लंघन करता है और स्वेच्छाचारी एवं अमर्यादित रूप से राजसत्ता का प्रयोग करता है तो अनेक लौकिक व पारलौकिक कष्टों को भोगता है।

(iii) राजा की शिक्षा तथा प्रशिक्षण

कौटिल्य ने राजकीय दायित्वों जैसे गम्भीर कार्यो को सम्पादन करने के लिऐ राजा में विशेष गुणों का होना आवश्यक माना हैं और इन गुणों के विकास के लिए राजा के उपयुक्त शिक्षण व प्रशिक्षण पर बल दिया है। कौटिल्य के अनुसार यदि समुचित शिक्षा व प्रशिक्षण द्वारा नैतिक गुणों को राजा के आचरण का हिस्सा बना दिया जाये तो वह अनुशासित रहेगा।

(iv) मंत्रि परिषद् का परामर्श

कौटिल्य के अनुसार राजा शासन शक्ति का प्रयोग अकेले नहीं कर सकता। वह इस शक्ति का प्रयोग मंत्रि-परिषद् के परामर्श से ही कर सकता है। क्योंकि वह मानता हैं कि राज्यरूपी रथ के दो पहिये हैं:-राजा तथा मंत्रि-परिषद। कौटिल्य ने स्पष्ट किया है कि यदि मंत्रिपरिषद् को कोई परामर्श न्यायोचित है किन्तु राजा की इच्छा के अनुकूल नहीं है। फिर भी उसे स्वीकृत करना होगा। यदि राजा मंत्रि-परिषद् के परामर्श को नहीं मानता तो उसके गम्भीर परिणाम हो सकते है। इसलिए राजा को मंत्रियों के विवेकपूर्ण परामर्श को मानना चाहिऐ। इस प्रकार मंत्रि -परिषद् का परामर्श राजा की शक्ति पर एक प्रभावशाली नियंत्रक है।

कौटिल्य के अनुसार राज्य की आन्तरिक विपदाओं में सबसे अधिक भयावह प्रजा का कोप होता है, अत: उन्होंने राजा को परामर्श दिया है कि वह सदैव ऐसे प्रयत्न करें कि प्रजाजन उसकी नीतियों व आचरण से सन्तुष्ट रहें।

कौटिल्य के अनुसार राजा को प्रतिदिन अपने दरबार में प्रजाजनों की समस्याओं को सुनना चाहिये और प्रजा के कष्टों की प्रत्यक्ष जानकारी के लिए राज्य का भ्रमण, कराना चाहिए। इसी प्रकार राजा को गुप्तचरों की मदद से यह पता लगाते रहना चाहिऐ कि प्रजाजन उसकी नीतियों से सन्तुष्ट हैं अथवा नहीं। कौटिल्य कालीन राजतंत्र के बारे में एम० वी० कृष्णराव का मत है कि 'राजा स्वंय को प्रजा के प्रतिनिधि के रूप में मानता है। '

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि कौटिल्य ने राजा शासन की सर्वोच्च शक्ति प्रदान की हैं, किन्तु उन्होंने किसी भी रूप में राजा की निरंकुशता एवं का समर्थन नहीं किया है। बी० डी० केला के अनुसार कौटिल्य ने अयोग्य राजा को गद्दी से उतारने और उसकी जगह दूसरा राजा बैठाने तथा अधर्मी और प्रजा का तिरस्कार करने वाले राजा के मारे जाने की प्रत्यक्ष तथा परोक्ष सूचना दी है। अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने मर्यादित व ' राजतंत्र का समर्थन किया है, इस सत्य की पुष्टी इतिहास के इस तथ्य से ही प्रमाणित जाती है कि स्वयं कौटिल्य जिस सम्राट का प्रधानमंत्री था, वह चन्द्र गुप्त मौर्य किसी भी अर्थ में स्वेच्छाचारी व निरंकुश 'राजा' नहीं था। अलतेकर के अनुसार "कौटिल्य का राजा बहुत से लौकिक्र सामाजिक, धार्मिक तथा अध्यात्मिक बन्धनों से मर्यादित है।"

3.4.5 राज्य के उद्धेश्य

कौटिल्य राज्य के मुख्यत: तीन उद्धेश्य निर्धारित करता है: (i) आन्तरिक शान्ति व सुरक्षा (ii) राज्य की बाह्य शत्रुओं से रक्षा करना (iii) प्रजा की सुख, समृद्धि के लिए कल्याणकारी कार्यो की व्यवस्था करना। उपर्युक्त तीनों उद्धेश्य वास्तव में एक ही उद्धेश्य। के तीन खण्ड है और मुख्य उद्धेश्य है 'प्रजा का हित', उसकी सुरक्षा एवं सम्बर्द्धन करना है। कौटिल्य का कहना है कि 'प्रजा सुख ही राजा का सुख है। ' कौटिल्य राजा और राज्य में कोई विभेद स्थापित नहीं करता हैं वह राजा और राज्य को एक दूसरे का पर्यायवाची शब्द मानता है।

3.4.6 कौटिल्य की साप्ताँग राज्य की धारणा

मनु, भीष्म तथा शुक्र ने भारतीय राजनीति के अन्तर्गत एक सात अंगों वाले सावयव स्वरूप अर्थात् जीवित शरीर के रूप में कल्पना की हैं। अत: कौटिल्य ने भी राज्य की सात प्रकृतियों का उल्लेख अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र में किया हैं। यह सात अंग निम्नलिखित है:-

(i) **स्वामी:-** कौटिल्य ने राजा या स्वामी को राज्य की सर्वोच्च 'अंग माना है। कौटिलय के अनुसार राजकीय शक्ति का उपयोग राजा द्वारा ही किया जीता है। अत: वहीं राज्य के दायित्वों को पूरा करने के लिए अन्तिम रूप करता है कि वह उच्चचरित्र और सदाचारी हो।

(ii) **अमात्य:-** कौटिल्य का अमात्य से अभिप्राय मंत्रियों से है। कैटिल्य मानता है कि राजा को बिना अमात्यों के परामर्श के कोई निर्णय नहीं करना चाहिए अत: उसने योग्य व्यक्तियों को ही अमात्य पद पर नियुक्ति का पात्र माना है। यद्यपि ने मंत्रियों की संख्या का निर्धारण नहीं किया है। किन्तु फिर भी वह यह मानता है कि। मंत्रियों की संख्या 3 या 4 से अधिक नहीं होनी चाहिए।

(iii) **जनपद:-** कौटिल्य के अनुसार जनपद वह 'जनयुक्त' भूमि है जिस पर राजा का नियंत्रण है अथवा जो राजा के राज्यक्षेत्र में आती है। कौटिल्य का मत है कि जनपद की भौगोलिक स्थिति इस प्रकार की होनी चाहिए जिससे कि उसकी रक्षा आसानी से हो सके। जनपद की भूमि उपजाऊ, नदियों एवं तालाबों से युक्त हो ताकि राज्य खाद्यान्न के मामले में आत्मनिर्भर हो।

(iv) **दुर्ग:-** कौटिल्य के अनुसार दुर्ग राज्य का वह स्थान होता है जहॉ राजा एवं मंत्रियों तथा उच्च अधिकारियों के निवास स्थान होते हैं। अत: कौटिल्य को राज्य की प्रकृति का महत्वपूर्ण अंग मानता है और उसकी सुरक्षा हेतु चिन्तित है। अत: वह दुर्ग को ऐसे स्थान पर बनाने का निर्देश देता है जो स्थान शत्रु की पहुँच से दूर हो अथवा शत्रु को उस स्थान. तक पहुँचने में बहुत अधिक प्रयास करना पड़े। कौटिल्य ने प्रकार के दुर्गो की बात अर्थशास्त्र में की है। 1.औदक दुर्ग- यह ऐसा दुर्ग होता है जिसके चारों ओर पानी भरा रहता है। 2. पर्वत दुर्ग- वह दुर्ग होता है जो पर्वतों के मध्य बना हुआ हो। 3. धान्दन दुर्ग- उसे कहा जाता है जो मरण प्रदेश में बना हो अर्थात जल एवं घास

रहित हो। 4. वन दुर्ग- उसे कहा जाता है, जो वनों के मध्य में हो। अर्थात वृक्षों व झाड़ियों से घिरा हुआ हो। इस प्रकार कौटिल्य ने दुर्गो की श्रेणियों का विभाजन किया है जिन्हें राज्य अपनी परिस्थितियों एवं आवश्यकतानुसार निर्मित कर सकता है।

(v) कोष :- कौटिल्य के अनुसार कोष राज्य की जीवन नलिका के समान है। बिना कोष के राज्य का शासन चलाना एवं उस पर नियन्त्रण रखना संभव नहीं है। अत: उसका मत है कि राज्य के पास पर्याप्त कोष होना चाहिए तथा उसके आय के स्त्रोत स्थायी होने चाहिए। राजकोष के संग्रह में संलग्न एवं उसके रक्षार्थ लगे कर्मचारियों एवं अधिकारियों पर पूर्ण नियंत्रण रहना चाहिए। कोष का उपयोग राज्य की रक्षार्थ तथा राज्य में उत्पन्न आपातकाल हेतु किया जाना चाहिए। इस सन्दर्भ में कौटिल्य ने स्पष्ट लिखा है कि "कोष धर्मपूर्वक एकत्रित किया जाना चाहिए तथा वह मात्रा में इतना अधिक हो कि उससे आपत्तिकाल में लम्बे समय तक निर्वाह हो सके।

(vi) दण्ड :- कौटिल्य का दण्ड का अभिप्राय सेना से है। कौटिल्य का मत है कि एक राज्य की शक्ति का प्रमुख आधार उसकी सेना होती है। कौटिल्य ने चतुरगिणि सेना का उल्लेख अर्थशास्त्र में किया है इसमें हरित सेना, अश्व सेना, रथ सेना तथा पदाति (पैदल) सेना शामिल होती है। कौटिल्य व्यक्तियों के शौर्य गुणों की परीक्षा के पश्चात् ही सैनिकों के रूप में नियुक्ति को उचित मानता हैं इस हेतु वह क्षत्रिय वर्ग के लोगों को सेना के लिए सबसे अधिक उपयुक्त मानता है। इनके अलावा वैश्य व शूद्रों को भी सेना में भर्ती की बात करता है किन्तु उसने ब्राह्मणों को जहॉ तक सम्भव हो सेना में भर्ती न करने की बात की है। इसका कारण वह यह बताता है कि शत्रुओं द्वारा आदर या सम्मान करने पर वह उसे माफ कर सकता है।

कौटिल्य राजा को निर्देशित करता है कि सैनिकों को पर्याप्त वेतन एवं अन्य सुविधायें समय पर प्रदान करे ताकि वे सन्तुष्ट रहें और पारिवारिक चिन्ता से मुक्त रहे। क्योंकि सन्तुष्ट सेना ही विजय की कुंजी मानी जाती है।

(vii) मित्र:- कौटिल्य के अनुसार अन्र्तराज्यीय क्षेत्र में राजा को अपने मित्रों की संख्या पर खासा ध्यान देना चाहिए। जिस राजा ने अन्र्तराज्यीय क्षेत्र में जितने अधिक मित्र होते हैं वह राज्य उतना ही शक्तिशाली तथा विकासशील होता है। अत: उसे लगातार अपने मित्रों की संख्या में वृद्धि करते रहना चाहिए।

3.4.7 राज्य का कार्य-क्षेत्र

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में राज्य के कार्य-क्षेत्र का विस्तृत वर्णन किया है। इन कार्यो में सामाजिक, आर्थिक और नैतिक सभी प्रकार के कार्य सम्मिलित हैं। इस प्रकार कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में लोक-कल्याणकारी राज्य की अवधारणा स्पष्ट की हैं कौटिल्य के अनुसार राजा को निम्नलिखित कार्य करने चाहिए:-

(i) प्रजा की रक्षा का कार्य

कौटिल्य ने प्रजा की रक्षा को राजा का सबसे प्रमुख कार्य माना है। कौटिल्य का मानना है कि राजा को प्रजा की सभी बाह्य एवं आन्तरिक संकटों से रक्षा करनी चाहिए। उसे राज्य में

समाज कंटकों पर नियंत्रण रखना चाहिए तथा जनता के जीवन, संपत्ति व सदाचार की रक्षा करनी चाहिए। राजा को बाह्य आक्रमण से भी जनता को खतरा कम से कम उपस्थित हो, अर्थात् उसे अपने मित्रों की संख्या में वृद्धि करनी चाहिए। राजा को प्राकृतिक आपदाओं यथा अकाल, बाढ़ आदि में भी प्रजा की स्थायी व तात्कालिक सहायता के उपाय करने चाहिए। " राजा को परामर्श देता है कि उसे यथा-सम्भव युद्धों से बचना चाहिए, अति आवश्यक होने पर ही ऐसे समय युद्ध करे जबकि प्रजा की न्यूनतम हानि होने की आशंका हो।

(ii) जनहित सम्बन्धी कार्य

कौटिल्य के राज्य का स्वरूप जनकल्याणकारी है। अतएव वह राजा से अपेक्षा करता है कि वह राज्य की प्रजा के हितों का संरक्षण करेगा। इस हेतु वह वृद्धों, ' अनाथों तथा बालकों की हर सम्भव सहायता को आवश्यक मानता है। जनहितार्थ कार्यो मनोरंजन की व्यवस्था मध-निषेध लागू करना, पर्यावरण की रक्षा, सफाई, चिकित्सा, उद्यान वन, सड़क एवं पुलों के निर्माण को भी सम्मिलित करता हैं कौटिल्य इसके केवल सैद्धान्तिक निर्देश ही ' देता अपितु राजा से अपेक्षा करता है कि वह व्यवहार में इन पर अमल करें। तभी वह जनता कर प्राप्त कर रूकता है। अत: कौटिल्य की यह बात उपयुक्त ही है कि "अप्राप्त की प्राप्ति, का संरक्षण, संरक्षित का संवर्द्धन तथा संवद्धित का उपयुक्त प्रक्रिया से योग्य एवं उपयुक्त व्यक्तियों में वितरण ही राज्य प्रमुख दायित्व है।

(iii) आर्थिक कार्य

कौटिल्य राज्य में अर्थ-व्यवस्था के नियंत्रण हेतु राजा के नियन्त्रण को आवश्यक माना है, ताकि समाज में साधनों का अत्यधिक केन्द्रीयकरण न हो तथा जनता के वर्गो के हित सुरक्षित रहें। कौटिल्य विभिन्न व्यवसायों को नियंत्रित करने के साथ ही ' मूल्य निर्धारण को भी आवश्यक मानता है ताकि व्यापारी जनता का शोषण न कर सके। ऐसी कर प्रणाली अपनाने की भी राजा से अपेक्षा करता है जिससे व्यापारियों में उत्पादन की प्रेरणा बनी रहे।

कौटिल्य ने कृषि की उन्नति तथा किसानों की स्थिति में सुधार लिए भी राज्य के दायित्व निर्धारित किया हैं। कौटिल्य का स्पष्ट मत है कि कृषि भूमि पर उसी का अधिकार हो जो उसे जोत रहा हो। कौटिल्य ने स्पष्ट रूप से कहा कि यदि कोई अपनी भूमि पर स्वयं कृषि नहीं कर रहा है तो उससे भूमि छीन कर भूमिहीन किसानों को दे देनी चाहिए ताकि वह उस पर कृषि कार्य कर सकें।

(iv) सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने संबंधी कार्य

कौटिल्य का मानना है कि समाज व्यवस्था के संचालन हेतु वर्ग व आश्रम व्यवस्था का समुचित पालन करना चाहिए। व्यक्तियों को अपने दायित्वों का इसी प्रकार निर्वाह करना चाहिए किन्तु कौटिल्य व्यक्तियों के कार्यो में अनावश्यक राजकीय हस्तक्षेप के विरूद्ध है।

कौटिल्य का मत है कि राजा को राज्य में असहाय वृद्ध, अपंग व्यक्तियों की सहायता करनी चाहिए। किन्तु कोई व्यक्ति यदि समर्थ होने पर भी अपने माता-पिता भरण पोषण नहीं करता तो उसे दण्डित किया जाना चाहिए। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति अपनी पत्नी एवं बच्चों

के भरण पोषण की व्यवस्था किए बिना सन्यास ले लेता है तो ऐसे व्यक्ति को भी 'दण्डित किया जाना चाहिए।

(v) न्यायिक कार्य

कौटिल्य का मानना है कि राज्य की उत्पत्ति ही न्याय की स्थापना करने के लिए हुई है। अरस्तू की भांति कौटिल्य ने भी न्याय के दो रूप बताये हैं:-

(क) वितरणात्मक न्याय

(ख) सुधारात्मक न्याय

वितरणात्मक न्याय के अन्तर्गत राज्य का प्रमुख दायित्व है कि जनता का कोई भी कार्य अभावग्रस्त जीवन व्यतीत न करे। जबकि सुधारात्मक न्याय का तात्पर्य है कि यदि कोई व्यक्ति अन्य किसी के अधिकारों का अतिक्रमण को तो राज्य द्वारा उसे दण्डित किया जाना चाहिए।

(vi) पर-राष्ट्र संबंधों का संचालन

कौटिल्य का मत है कि पर-राष्ट्र संबंधों का संचालन एक शासक के तथा उसके राज्य के अस्तित्व के संख्या में निरंतर वृद्धि करनी चाहिए तथा अनावश्यक युद्धों से बचना चाहिए। उसे युद्ध तथा शांति का निर्णय सदैव इस बात को ध्यान में रखकर करना चाहिए कि प्रजा का कल्याण और उसकी सुरक्षा ही सर्वोपरि है।

3.4.8 मंत्रिपरिषद्-गठन एवं कार्य

कौटिल्य ने मंत्रियों को राज्य रूपी गाड़ी का दूसरा पहिया माना है और वह राजा से यह अपेक्षा करता है कि वह कोई भी निर्णय बिना मंत्रिपरिषद् की सलाह के नहीं करेगा।

मंत्रिपरिषद् का गठन- कौटिल्य ने मंत्रिपरिषद् में नियुक्ति के लिए विभिन्न योग्यताओं का होना आवश्यक माना है जिसमें साहसी, देशभक्त, निर्लोभी, धर्मनिरपेक्ष एवं वासनारहित होना मंत्रिपद की आवश्यक योग्यता है। डा. वेनीप्रसाद ने इस सन्दर्भ में लिखा है कि, " कौटिल्य के अनुसार निष्कलंक, बौद्धिक, तुराई, उचित निर्णय दायित्व की उच्च भावना लोकप्रियता आदि एक मंत्री की आवश्यक योग्यताएँ होनी चाहिए।

मंत्रिपरिषद की संख्या के बारे में कौटिल्य ने व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाते हुए समय और परिस्थिति के अनुसार इसकी संख्या निश्चित करने का निर्देश दिया है। किन्तु सामान्यतया वह तीन या चार मंत्रियों की मंत्रिपरिषद् में नियुक्ति की बात करता है। ताकि प्रशासकीय कार्य भली-भाँति संचालित किये जा सक। इस हेतु उसका तर्क यह है कि मंत्रियों को अधिक संख्या के कारण अनावश्यक वाद-विवाद उत्पन्न होने की संभावना तथा मंत्र की गोपनीयता भंग हो सकती है।

कौटिल्य ने परामार्श देने हेतु दो संस्थाओं का उल्लेख किया है। राजसभा तथा मंत्रिपरिषद कौटिल्य ने मंत्रियों की योग्यताओं के आधार पर तीन भागों में बाँटा है, उत्तम, मध्यम तथा क्षुद्र। इस प्रकार जो व्यक्ति मंत्रियों के लिए निर्धारित सभी योग्यताएँ रखता है वह उत्तम, जो तीन-चौथाई योग्यताएँ रखता हैं वह मध्यम तथा जो आधी योग्यताएँ रखता है वह क्षुद्र मंत्री होगा।

(i) मंत्रियों की योग्यताएं

कौटिल्य के अनुसार मंत्रियों के लिए आवश्यक है कि वह विद्वान, कार्यकुशल, शीघ्र निर्णय लेने वाला, अच्छे आचरण वाला, प्रभावशील, उत्साही, देशभक्त, ओजस्वी व तेज भाव से रहित हो। इन्हीं योग्यता वाले व्यक्तियों को मंत्रिपद पर नियुक्त किया जाना चाहिए।

मंत्रियों के उक्त गुणों के अतिरिक्त कौटिल्य समय-समय पर मंत्रियों की विश्वसनीयता की गोपनीय परीक्षा लेने की बात भी करता है। यह परीक्षा चार प्रकार की हैं जिसे उसने धर्मोपया, कामोपया अर्योपया तथा भपोषया का नाम दिया है। कौटिल्य का मानना है कि इन परीक्षाओं के माध्यम से राजा को मंत्रियों की विश्वसनीयता एवं देशभक्ति की जानकारी होती है।

(ii) मंत्रियों से परामर्श का क्षेत्र व प्रक्रिया

कौटिल्य राजा को मंत्रियों से विचार विमर्श हेतु क्षेत्र भी निर्धारित करता है इनमें राज्य के कार्यो की रूप रेखा तैयार करना, करों का निर्धारण करना, उच्च पदों पर राज्य के समक्ष से कर उत्पन्न होने पर उससे निकलने हेतु परामर्श, राज्य में तथा पड़ौसी राज्यों में विद्यमान स्थितियों व परिस्थितियों का मूल्यांकन एवं राजकीय प्रयोजन हेतु सामान्यत: अपनाई जाने वाली नीति सम्मिलित है।

कौटिल्य का मत है कि यदि किसी विषय पर सर्वसम्मत निर्णय न लिया जा सके तो बहुमत से निर्णय लिया जाना चाहिए। इसके साथ ही कौटिल्य का मत है कि मंत्रियो द्वारा दिये गये परामर्श का विवेकपूर्ण विश्लेषण राजा को अवश्य कर लेना चाहिए। उसके पश्चात ही निर्णय लाग किया जाना चाहिए।

कौटिल्य का मत है कि यदि कोई मंत्री अपने लाभ-हानि को ध्यान में रखकर राजा को परामर्श देता है तो राज्य के खत्म होने की संभावना है। अत: मंत्रियों का यह दायित्व है कि वह मंत्रणा के समय समस्त आवश्यक सूचनायें राजा को दें ताकि उन पर निर्णय लिया जा सके। इस प्रकार कौटिल्य ने मंत्रियों के महत्वपूर्ण दायित्व में सूचनाऐं, उपयुक्त परामर्श देना तथा उपयुक्त निर्णयों को क्रियान्वित करवाना सभी कुछ सम्मिलित है।

(iii) मन्त्रणा की गोपनीयता।

कौटिल्य राजा द्वारा मंत्रियों से परामर्श को अत्यधिक गोपनीय है। अत: वह मंत्रणा हेतु ऐसे स्थान को उपयुक्त मानता है जहाँ बातचीत को कोई सुन न सके यहाँ तक कि उस स्थान पर पशु-पक्षी भी नहीं होने चाहिए। कौटिल्य राजा को सचेत करता है उसकी भाव-भंगिमाओं से भी यह स्पष्ट नहीं होना चाहिए कि उसने क्या निर्णय लिया।

गोपनीयता भंग राज द्रोहात्मक कार्य माना जाऐगा और इस हेतु मृत्यु दण्ड तक देने की बात कौटिल्य ने की हैं

3.4.9 प्रशासनिक व्यवस्था

कौटिल्य ने राज्य के कुशल संचालन हेतु एक सुदृढ़ प्रशासनिक व्यवस्था का भी विशद् वर्णन अर्थशास्त्र में किया है। कौटिल्य का राज्य एक लोक कल्याणकारी राज्य है और राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था का सर्वोच्च अधिकारी राजा है। राजा के पश्चात् 'अमात्यों तथा अन्य मंत्रियों को सम्मिलित किया गया है। कौटिल्य ने इस प्रशासनिक व्यवस्था का पद भी प्रतिपादित किया

है। इस पद क्रम में अध्यक्ष एवं अधीनस्थ कर्मचारी आते हैं। कौटिल्य संपूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था को राजस्व, वाणिज्य व व्यापार, कृषि, वन, सेना, आदि विभिन्न विभागों में विभाजित किया है। इसी प्रकार कौटिल्य ने राज्य के विभिन्न अधिकारियों को कुछ श्रेणियों में विभक्त किया है। ये श्रेणियाँ निम्नलिखित है:-

(i) मंत्री, पुरोहित, सेनापति तथा युवराज

(ii) दौवारिक अन्तर्वेशिक प्रशास्ता, समाहर्ता, सन्निधाता एवं विभिन्न विभागों के प्रभारी।

(iii) प्रदेष्टा, नायक पौर, व्यावहारिक, कर्मान्तिक सम्य, दण्डपालक, दुर्गपाल एवं अन्तपाल।

प्रशासनिक व्यवस्था में कार्य अत्यन्त योग्य प्रशासनिक अधिकारियों के द्वारा ही सम्पन्न किये जाने चाहिए। राजा इन अधिकारियों के कार्यो पर पूर्ण निगरानी रखे।' राज्य इस बात का सदैव ध्यान दें कि ये अधिकारी संगठित न हो। यदि ये अधिकारी संगठित हो। जायेंगे तो राजा के विरूद्ध विद्रोह भी कर सकते हैं। इसी तरह उच्च अधिकारी अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के आचरण व कार्यो पर पूर्ण नियंत्रण रखें।

कौटिल्य ने तीनों श्रेणियों के प्रशासनिक अधिकारियों के वार्षिक वेतन भी निर्धारित किये जो क्रमश: 48000 पण, 24000 पण तथा 12000 पण है।

बोध प्रश्न-1

1. कौटिल्य ने राज्य की उत्पत्ति के किस सिद्धान्त को स्वीकार किया है ?

उत्तर .....

2. कौटिल्य ने राज्य की प्रकृति के कितने अंग बताए हैं ?

उत्तर: .....

3. कौटिल्य ने मंत्रियों की कितनी श्रेणियाँ बताई हैं ?

उत्तर: .....

3.5 कौटिल्य के सामाजिक व्यवस्था सम्बन्धी विचार

कौटिल्य ने सामाजिक व्यवस्था को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना है तथा नैतिक मूल्यों, सामाजिक संगठन, विभिन्न वर्णो के मध्य सम्बन्ध तथा सामाजिक व्यवस्था के निर्वाह में राज्य की भूमिका आदि प्रश्नों पर स्पष्ट विचारों का प्रतिपादन किया है। कौटिल्य ने सामाजिक जीवन को धर्म पर आधारित भाग है।

3.5.1 वर्ण व्यवस्था

कौटिल्य ने भी समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र चार वर्णो मे विभक्त किया है। कौटिल्य के अनुसार ब्राह्मण के प्रमुख दायित्वों में यज्ञ करना व कराना, अध्ययन तथा अध्यापन सम्मिलित है। क्षत्रिय का प्रमुख कर्तव्य जनता की रक्षा करना है। वैश्य का प्रमुख दायित्व कृषि, पशुपालन तथा व्यापार है, तथा शूद्र का प्रमुख कर्तव्य ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों की सेवा करना है।

3.5.2 आश्रम व्यवस्था

कौटिल्य ने मनु की भाँति ही व्यक्ति के जीवन को चार भागों में विभाजित किया है तथा जीवन के इन चार भागों को चार आश्रम की संज्ञा दी है। ब्रह्मचर्य आश्रम में व्यक्ति स्वाध्याय, हवन भिक्षावृत्ति एवं गुरू के पास रहते हुए विद्यार्जन करे। गृहस्थ आश्रम में व्यक्ति वैवाहिक जीवन के दायित्वों को पूरा करते हुए धर्मानुसार जीविका का निर्वाह करे। वानप्रस्थाश्रम में व्यक्ति संयम से रहे, सादा वस्त्रों को धारण करें, एवं पूजा-पाठ एवं यज्ञ करे। सन्यास आश्रम में व्यक्ति पूर्णतया संग्रह प्रवृत्ति को छोड़ देता है। कौटिल्य के अनुसार सन्यासी का नगरों में निवास वर्जित है। सन्यासी अपने जीवन में पवित्रता, क्षमा, त्याग व सत्य को अपनाएँ तथा ईर्ष्या, द्वैष आदि को छोड़ दे।

कौटिल्य मनु की तरह सामाजिक सम्बन्धों में भेद-भाव के विचार का समर्थन नहीं करते। जहाँ मनु ने समाज में शूद्रों और स्त्रियों की हीन स्थिति का वर्णन किया है वहीं कौटिल्य इनके अधिकारों की रक्षा का समर्थन करता है।

3.6 कौटिल्य के न्यायिक व्यवस्था एवं कानून सम्बन्धी विचार

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में राजा को सर्वोच्च न्यायिक प्राधिकारी के रूप में चित्रित किया गया है, तथा राज्य को न्याय का स्रोत बताया गया है। कौटिल्य ने राजा को सर्वोच्च न्यायिक प्राधिकारी मानते हुए भी, उसकी न्यायिक शक्ति को विधि के अधीन माना है।

3.6.1 न्यायालयों के प्रकार

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में दो प्रकार के न्यायालयों का वर्णन किया है :-

(ए) धर्मस्थीय न्यायालय:- इन न्यायालयों के क्षेत्राधिकार में सभी दीवानी मामले आते हैं, जैसे सम्पत्ति, उत्तराधिकार, विवाह, ऋण, साझेदारी, संविदा, मजदूरी, कृषि, भूमि सम्बन्धी विवाद आदि मामले सम्मिलित हैं।

(बी) कण्टक शोधन न्यायालय:- कौटिल्य ने कण्टक-शोधन न्यायालयों का क्षेत्राधिकार समस्त फौजादारी मामलों से सम्बन्धित है। इनका कार्य राज्य तथा राजा के विरुद्ध किये जाने वाले अपराधों के सम्बन्ध में विचार करना है। इन अपराधों में प्रमुख हैं, हत्या, तथा राज्य अधिकारियों के द्वारा प्रजा के प्रति किये जाने वाले अपराध।

3.6.2 न्यायालयों का संगठन

कौटिल्य ने क्षेत्रीय आधार पर संगठित व्यवस्थित न्यायिक प्रणाली पर बल दिया है। इसके अन्तर्गत दो गाँवों के बीच स्थापित न्यायालय जनपद सन्धि न्यायालय, 10 गाँवों के बीच स्थापित न्याय संग्रहण न्यायालय, 400 गाँवों के मध्य स्थित न्यायालय द्रोणमुख तथा 800 गाँवों के मध्य स्थित न्यायालय स्थानीय न्यायालय होगा एवं सम्पूर्ण का न्यायालय सर्वोच्च न्यायालय कहलायेगा।

3.6.3 विधि (कानून) के स्रोत

कौटिल्य ने कानून की महत्ता को स्वीकार करते हुए उसके कई स्रोत स्वीकार किए हैं- यथा धर्मशास्त्र, व्यवहार, प्रजा तथा न्याय। इसके अतिरिक्त राजा के आदेश भी कानून का स्रोत माना है। कौटिल्य ने स्पष्ट कहा कि धर्म कानून, प्रथागत कानून एवं व्यावहारिक में यदि कोई विवाद है तो राजा को धार्मिक कानून को प्राथमिकता देनी चाहिए और उसके अनुसार निर्णय करना चाहिए।

3.6.4 दण्ड व्यवस्था

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में दण्ड व्यवस्था का भी विशद विवेचन किया है। इस संदर्भ में वह स्पष्ट करता है कि राजा पूर्ण रूप से विचार-विमर्श उपरान्त ही दण्ड करे। कौटिल्य ने दण्ड के तीन दृष्टिकोणों की विवेचना की है:-

(i) प्रतिकारात्मक :- इस दण्ड के अन्तर्गत अपराधी द्वारा किये गये का प्रतिशोध निहित रहता है।

(ii) निवारक :- कौटिल्य के अनुसार इस दण्ड के द्वारा लोगों के समक्ष ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये जायें कि लोग इस तरह का अपराध करने का साहस करें।

(iii) सुधारक :- इसके अन्तर्गत अपराधी को ऐसा दण्ड दिया जाये उसके आचरण में सुधार आ सकें और अपराध की पुनरावृत्ति न हो सकें।

कौटिल्य ने कर-निर्धारण करने की स्थिति को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि वस्तुओं के उत्पादन, आयात-निर्यात पर कर की दर, वस्तु की प्रकृति, उसकी माँग, उत्पादन की लागत आदि बातों को ध्यान में रखते हुए कर-निर्धारण किया जाना चाहिए तथा राजा को प्रजा पर मनमाना कर लगाकर अनुचित रूप से कर संग्रहण नहीं करना चाहिए।

कौटिल्य ने राजा को परामर्श दिया है कि वह अकाल, बाढ़, महामारी की स्थिति में जनता को करों में राहत प्रदान करें परन्तु आपात स्थिति में राजा को निर्धारित मात्रा से अधिक कर वसूलने का अधिकार भी देता है।

3.8 कौटिल्य की पर-राष्ट्र नीति सम्बन्धी धारणा

कौटिल्य ने अपने पर-राष्ट्र सम्बन्धी विचारों को दो भागों में विभक्त किया है:-

3.8.1 परराष्ट्र सम्बन्धों का सैद्धान्तिक पक्ष

(अ) मण्डल सिद्धान्त

मण्डल सिद्धान्त के द्वारा कौटिल्य ने राज्यों का एक व्यावहारिक वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। कौटिल्य के अनुसार प्रत्येक राजा अपने राज्य के विस्तार की कामना रखता है। उसी आधार पर उसने मण्डल सिद्धान्त की 72 प्रकृतियों का वर्णन किया है। इनके केन्द्र-बिन्दु को इन्होंने 'विजिगीषु', कहा है। कौटिल्य मानता है कि एक राज्य के अग्र भाग का पड़ोसी राज्य स्वाभाविक रूप से शत्रु राज्य होता है। इसे 'अरि' राज्य कहा जाता है। तत्पश्चात् क्रमश: मित्र,

अरिमित्र मित्र-मित्र, अरिमित्र-मित्र यह पाँच राज्य आते हैं। इसीप्रकार उसके पृष्ठ भाग(पीछे) में क्रमश: पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राहसार और आक्रन्दसार स्थित होते हैं।

इसी प्रकार कौटिल्य के अंत में विजिगीषु के अग्रभाग की भाँति ही पृष्ठ भाग में भी क्रमश: शत्रु तथा मित्र राज्य की परम्परा होती है। इस तरह कौटिल्य ने विजिगीषु तथा उसके अग्रभाग के 5 तथा पृष्ठ भाग के 4 राज्यों को मण्डल का अवयव स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त मध्यम व उदासीन राज्य भी होते है। मध्यम राज्य वह राज्य होता है, जिसका प्रदेश विजिगीषु एवं आदि-राज्य की सीमा से मिला होता है। उदासीन राज्य वह राज्य होता है, जिसका प्रदेश विजिगीषु एवं आदि-राज्य की सीमा से दूर होता है। इस तरह 12 राज्यों के समूह को मण्डल कहते हैं। इसे इस प्रकार भी समझा जा सकता है :-

विजिगीषु राज्य	अग्रभाग के राज्य	पृष्ठ भाग के राज्य	मध्यम राज्य	उदासीन राज्य
1	5	4	1	1

कौटिल्य के अनुसार प्रत्येक राज्य की कुल 6 प्रकृति होती है- एक मुख्य प्रकृति (राज प्रकृति) तथा पाँच द्रव्य प्रकृति। यहाँ मुख्य या राज प्रकृति का अर्थ है उस राज्य का राजा तथा द्रव्य प्रकृतियाँ, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश तथा दण्ड आते हैं।

इस प्रकार मण्डल में राज्यों की संख्या =12

द्रव्य प्रकृति की संख्या 5 x 12 = 60

राज्य प्रकृति + 12 = 72

इस प्रकार मण्डल सिद्धान्त की कुल 72 प्रकृतियों का वर्णन कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में किया है।

(ब) षड़गुण नीति

यह अन्तर्राज्य संबंधों के निर्धारण में दूसरे राज्य के प्रति परिस्थिति विशेष के संदर्भ में अपनाई जा सकने वाली नीतियों के छ : व्यावहारिक विकल्प हैं जो निम्नानुसार है :-

(i) संधि- अर्थात् दो राजाओं में कुछ शर्तो पर मेल हो जाना।

(ii) विग्रह अर्थात शत्रु का कोई अपकार करना।

(iii) आसन- इसका अर्थ युद्ध की प्रतीक्षा में शॉत बैठे रहना है।
इस स्थिति में दोनों ही पक्ष आक्रमण नहीं करना चाहते किन्तु आत्म रक्षा हेतु पूर्णतया तैयार रहते हैं।

(iv) यान- इसका तात्पर्य है विजिगीषु राजा द्वारा शत्रु पर चढाई करना।

(v) संश्रय:- इसका अर्थ निर्बल राजा द्वारा आत्म रक्षार्थ अपने से अधिक शक्तिशाली राजा की शरण में जाना है।

(vi) द्वैधीभाव- इसका तात्पर्य एक साथ को दो विपरीत प्रकृतियों को अपनाया जाना है ताकि विरोधी वास्तविक मन्तव्य को न जान पाये। कौटिल्य के अनुसार संधी एवं विग्रह दोनों का एक साथ प्रयोग द्वैधी भाव

(स) नीति के चार उपाय

कौटिल्य ने एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य के प्रति संव्यवहार के संबंध में अपनाई जाने वाली नीतियों के चार विकल्पों को कौटिल्य ने उपाय कहा है ये उपाय इस प्रकार हैं:-

(i) साम :- कौटिल्य के अनुसार दूसरे राज्य को समझा-बुझा कर अपने अनुकूल करना 'साम' कहलाता है।

(ii) दान:- कौटिल्य के अनुसार यदि 'साम' से काम न चले तो धन आदि देकर अपने उद्धेश्य को प्राप्त करना 'दान' कहलाता है।

(iii) भेद:- शत्रु के हृदय में शंका पैदा कर देना तथा गुप्तचरों की मदद से विपक्षी राज्य में फूट पैदा कर देना 'भेद' की श्रेणी में आता है।

(iv) दण्ड- कौटिल्य के अनुसार 'दण्ड' का अभिप्राय है शत्रु पर विजय की इच्छा से आक्रमण कर देना। किन्तु कौटिल्य ने अन्य आचार्यो की भांति इसे अन्तिम उपाय के रूप में स्वीकार किया है।

3.8.2 परराष्ट्र सम्बन्धों का व्यावहारिक पक्ष

कौटिल्य ने पर-राष्ट्र सम्बन्धों के व्यावहारिक पक्ष में दूत एवं गुप्तचर व्यवस्था का विशद किया है साथ ही उसने युद्ध के बारे में भी अपने विचार प्रकट किये हैं।

(अ) दूत व्यवस्था

कौटिल्य ने दूत को 'राजा का मुख' कहा है। उसने राजा को यह परामर्श दिया है कि दूत की नियुक्ति। करते समय उसे व्यक्ति की योग्यता व निष्ठा का पता अवश्य लेना चाहिए। उसने दूत की तीन श्रेणियों की चर्चा की है।

(i) निसृष्टार्थ :- कौटिल्य के अनुसार यह ऐसा दूत होता है, जिसमे आमात्य के सभी गुण विद्यमान होते हैं तथा इसे अन्य राज्यों से सन्धि करने का पूर्ण अधिकार होता है।

(ii) परिमितार्थ - इस श्रेणी के दूतों में अमात्य के गुणों का 174 भाग ही विद्यमान होता है, यह वही कार्य कर सकते हैं जिसका आदेश इन्हें दिया जाता है।

(iii) शासनहर:- इस श्रेणी के दूतों की स्थिति कम महत्वपूर्ण होती है और यह साधारणत या संदेश लाने और ले जाने का कार्य करते है।

(ब) गुप्तचर व्यवस्था

कौटिल्य ने राज्य की गतिविधियों एवं दूतों की स्थिति का पता लगाने के लिए गुप्तचर व्यवस्था को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। कौटिल्य के अनुसार 'गुप्तचर' राजा के आँख तथा कान के समान होते हैं। कौटिल्य ने गुप्तचरों को विभिन्न श्रेणियों में विभक्त किया है:-

(i) कापटिक :- यह दूसरे के रहस्यों को मानने वाला दबंग और विद्यार्थी को वेशभूषा मे रहन वाला होता है।

(ii) उदासीन- ये गुप्तचर सन्यासी की वेशभूषा में रहकर अपना कार्य करते थे।

(iii) गृहपतिक :- कौटिल्य के अनुसार ये गुप्तचर गरीब किसान के वेश में रहकर अपना कार्य करते थे।

(iv) वैदेहक :- ये गुप्तचर व्यापारी के वेश में रहकर अपना कार्य करते थे।

(v) तापस :- तपस्वी के वेश में रहने वाला गुप्तचर इस श्रेणी में आता था।

(vi) सत्री :- यह गुप्तचर ज्योतिष विद्या में पारंगत होता था इसी आधार पर अपना कार्य करता था।

(vii) तीक्ष्ण :- यह गुप्तचर बहुत साहसी होते थे तथा अपने कार्य हेतु हाथी, शेर आदि से भी भिड़ सकते थे।

(viii) रसद :- यह गुप्तचर बड़े क्रूर होते थे तथा अपने कार्य के लिए अपने सगे संबंधी तक को जहर दे सकते थे।

(ix) परिव्रजिका:- यह वह स्त्री होती थी जो सन्यासिनी के वेश में रहकर गुप्तचरों का कार्य करती थी।

(स) युद्ध सम्बन्धी विचार

(क) युद्ध के प्रकार

कौटिल्य ने युद्ध को अन्तिम विकल्प के रूप में स्वीकार किया है और उसका मानना है कि युद्ध से सभी पक्षों की हानि होती है। अत: उसने राजा को आवश्यक होने पर ही युद्ध करने की सलाह दी है। कौटिल्य के अनुसार युद्ध तीन प्रकार के होते हैं :-

(i) प्रकाश युद्ध :- कौटिल्य के अनुसार जब विधिवत रूप से एवं पूर्ण तैयारी के साथ युद्ध किया जाता है तो पुरूषों एवं विद्वानों का सम्मान करना चाहिऐ। दीन व अनाथों की आर्थिक सहायता करनी चाहिऐं। दान किया जाता है। साथ ही छल से शत्रु का वध भी किया जाता है।

इस प्रकार कौटिल्य ने पर-राष्ट्र सम्बन्धी विषय में एक व्यावहारिक दृष्टिकोण प्रतिपादित किया है जिसकी उपादेयता वर्तमान समय में भी है।

(ख) युद्ध के नियम

कौटिल्य ने युद्ध के नियमों का तो विस्तृत विवेचन है। उसे पराजित प्रजा के शील, वेश भाषा, उत्सवों व आचार को अपनाना चाहिये, ताकि वह प्रजा का विश्वास अर्जित कर सकें। विजेता राजा को अपनी वाणी व कार्यो के द्वारा यह प्रदर्शित करना चाहिऐ कि उसमें पराजित राजा की भक्ति व निष्ठा प्राप्त होगी।

कौटिल्य ने विजेता राज्य को विजित राज्य के प्रति व्यवहार में सावधानी व सतर्कता बरतने का परामर्श देते हुऐ कहा है कि उसे :-

(iv) शत्रु के कर्मचारियों को प्रतिज्ञानुसार धन, सम्मान, आदि सन्तुष्ट कराना चाहिए।

(v) शत्रु के उपकृत मंत्री, पुरोहित, सेना मुख्य, आति या चोर प्रकृति लोगों को एक साथ नहीं रहने देना चाहिए।

(vi) शत्रु-पक्षीय व्यक्तियों को जिनसे विरोध का भय या आशंका हो, समुचित दण्ड दिया जाना चाहिए।

(vii) स्वदेश के नागरिकों एवं शत्रु द्वारा अवरूद्ध पुरूषों को महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त करना चाहिए

3.9 राजनीतिक चिन्तन को कौटिल्य की देन

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में कौटिल्य का योगदान है। कौटिल्य को यदि भारतीय राजदर्शन का जनक कहा जाये, तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। कौटिल्य ने राज्य से सम्बन्धित प्रमुख प्रश्नों सभी राजनीतिक विचारों का सार कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' है। कौटिल्य ने राजनीतिक विचारों का वैज्ञानिक ढंग से विवेचन किया है। भारतीय विचारों पर कौटिल्य का प्रभाव इतना अधिक है कि कामन्दक अपने को उसका शिष्य माननेे। भारतीय राजनीतिक चिन्तन को कौटिल्य के योगदान को निम्नानुसार समझा जा सकता है।:-

(i) कौटिल्य ने राज्य का समझौतावादी सिद्धान्त प्रस्तुत करके राज्य को साधन और प्रजा हित को साध्य माना हैं। साथ ही नागरिकों को शासन सत्ता का अंतिम स्त्रोत मानते हुए शासक को अपदस्थ करने का अधिकार देकर आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं जैसी व्यवस्था प्रस्तुत की है।

(ii) वास्तव में कौटिल्य एक यथार्थवादी विचारक था, जैसा कि उन्होने शासन व्यवस्था, सेना, युद्ध, व्यवस्था राजस्व प्रणाली आदि विषयों की विस्तृत विवेचना की है। उससे यह स्वत: सिद्ध होता है कि वह यथार्थवादी चिन्तक था। उन्होंने प्रशासनिक व्यवस्था का व्यवस्थित रूप प्रस्तुत किया है।

(iii) ज्ञान की विभिन्न शाखाओं की व्यवस्था द्वारा कौटिल्य ने राज्य के अस्तित्व के सैद्धान्तिक आधार तथा राज्य के लोक कल्याणकारी स्वरुप को भली भांति स्पष्ट किया है। साथ ही यह भी उल्लेख किया है कि वितरणात्मक न्याय को सुनिश्चित करना राज्य का प्रमुख कर्तव्य हैं।

(iv) कौटिल्य को राज्य के हितकारी कार्यो की व्यवस्था करने के लोक-कल्याणकारी राज्य व्यवस्था का प्रणेता माना जाता हैं। उन्होंने राज्य में नैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक सभी क्षेत्रों में प्रजा के कल्याण के लिऐ शासक को समर्पण भाव से कार्य करने की बात की है।

(v) राजतंत्रात्मक व्यवस्था का समर्थन करते हुये भी कौटिल्य ने शासक की निरंकुशता के विचार का समर्थन नहीं किया है। कौटिल्य ने शासन से सदैव अनुसार आचरण करने एंव दण्ड शक्ति का समुचित रीति से प्रयोग किये जाने की अपेक्षा की हैं तथा ऐसा न करने पर स्वयं शासक को भी दण्ड का पात्र माना गया है। इसके अतिरिक्त शासक पर सदैव ही परामर्शदात्री संस्था के रुप में मंत्रीपरिषद् के नियंत्रक को भी कौटिल्य ने किया हैं। साथ ही जनता को यह अधिकार दिया हैं कि वह शासक द्वारा उसके दायित्वों का उल्लघंन किये जाने पर उसे अपदस्थ कर सकें।

(vi) कौटिल्य ने राज्य की सुरक्षा को सर्वोपरि माना हैं। इस दृष्टि से उन्होंने पर-राष्ट्र सम्बन्धों के विवेकपूर्ण संचालन पर जोर दिया है। कौटिल्य का मानना है कि राजा को अनावश्यक युद्धों से बचना चाहिए तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपने मित्रों की संख्या में निरंतर वृद्धि करते रहना चाहिऐ।

(vii) कौटिल्य एक प्रकार से धर्म निरपेक्ष विचारों का प्रणेता है। कौटिल्य ने राजा को यह परामर्श दिया है कि उन्हें प्रजा के धर्म में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को धर्म-पालन की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। ये विचार उसके धर्म-निरपेक्ष राज्य के आदर्श को प्रस्तुत करते है।

अत: कहा जा सकता है कि कौटिल्य के विचार एक पूर्ण राजनैतिक दर्शन का प्रतिपादन करते हैं। इससे कौटिल्य की गणना विश्व के महानतम राजनीतिक दार्शनिकों में की जाय तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी।

बोध प्रश्न -2

नोट:- बोध प्रश्न के उत्तर दिये गये रिक्त स्थान में लिखें।

प्रश्न:1 कौटिल्य ने न्यायालयों के कितने प्रकार बताये हैं ?

उत्तर .....

.....

प्रश्न:2 कौटिल्य ने मण्डल सिद्धान्त में कुल कितने राज्य बताये हैं?

उत्तर: .....

.....

प्रश्न:3 कौटिल्य द्वारा बताये गये नीति के उपाय कितने हैं ?

उत्तर: .....

.....

प्रश्न:4 कौटिल्य ने दूतों की कितनी श्रेणियों बतायी हैं ?

उत्तर: .....

.....

3.10 सारांश

भारतीय राजनीतिक चिन्तन में कौटिल्य का योगदान अद्‌वितिय है। कौटिल्य के विचारों के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कौटिल्य ने राज्य से जुड़े सैद्धान्तिक, संस्थागत व व्यावहारिक प्रश्नों का गम्भीरता से विवेचन किया है। कौटिल्य ने राजतन्त्रात्मक व्यवस्था का समर्थन करते हुए भी शासक की निरंकुशता के विचार का पूरी तरह निषेध किया है। उसने राज्य के लोक-कल्याणकारी स्वरूप की घारणा को स्वीकार किया है और इस हेतु प्रशासनिक व्यवस्था का एक व्यवस्थित स्वरूप भी प्रस्तुत किया है। राज्य की सुरक्षा की आवश्यकता को कौटिल्य ने सर्वोपरि माना है। इस उद्देश्य से उसने अर्न्तराज्य सम्बन्धों के विवेक सम्मत संचालन पर बल दिया। इसके साथ ही दण्ड, न्याय व न्यायपालिका पर कौटिल्य का दृष्टिकोण अत्यन्त विवेक सम्मत है। दृष्टिकोण

'इस प्रकार कौटिल्य के विचार एक पूर्ण राजनीतिक दर्शन को करते हैं। उनकी गणना भारत के ही नहीं, अपितु विश्व के महानतम राजनीतिक दार्शनिकों में जानी चाहिए। राज्य के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों का जितना समृद्ध एवं सटीक विवेचन कौटिल्य के चिन्तन में मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

3.11 अभ्यास प्रश्न

1. कौटिल्य द्वारा बताये गये राज्यों के कार्यो की विवेचना कीजिए।
2. कौटिल्य के सप्तांग सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये।
3. कौटिल्य द्वारा वर्णित मण्डल सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
4. कौटिल्य द्वारा बताये गये 'पर-राष्ट्र' सम्बन्धी सिद्धान्तों की कीजिये।

3.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. एम.बी. चंदे :कॉटिल्यन अर्थशास्त्र, एटलांटिस, दिल्ली, 1982
2. सुनीति सेन सरमा :कॉटिल्याज अर्थ, शास्त्र इन दि लाइट ऑफ मॉडर्न साइन्स एण्ड, टेक्नोलोजी, डी.के. प्रिन्टवर्ल्ड, नई दिल्ली, 1998
3. पी.के त्यागी :भारतीय राजनीतिक विचारक,विश्वभारत पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2006

इकाई-4

शुक्र

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 शुक्रनीति परिचय

4.3 शुक्रनीति में दण्डनीति की श्रेष्ठता

4.4 राज्य सम्बन्धी विचार

4.5 राजा एवं राजपद

4.6 मन्त्रि-परिषद्

4.7 राष्ट्र की प्रशासन एवं कार्मिक व्यवस्था

4.8 समाज व्यवस्था

4.9 कर नीति

4.10 न्याय एवं न्यायपालिका

4.11 अपराधी एवं दण्ड

4.12 पर राष्ट्र नीति

4.13 शुक्र का मूल्यांकन या योगदान

4.14 सारांश

4.15 अभ्यास प्रश्न

4.16 संदर्भ ग्रन्थ सूची

4.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जान पायेंगे:-

- प्राचीन भारतीय चिन्तन में शुक्र के राजनीतिक विचार
- शुक्र की प्रमुख रूप से दण्डनीति शास्त्री (राजनीति शास्त्री) की भूमिका
- मनु एवं कौटिल्य के साथ शुक्र की तुलना, एवं
- शुक्र के उदार व यथार्थवादी विचार एवं आज के संदर्भ में उनकी प्रासंगिकता।

4.1 प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय रानीतिक चिंतन में शुक्रनीति का महत्वपूर्ण स्थान है। शुक्रनीति के रचयिता शुक्राचार्य का नाम प्राचीन भारतीय चिंतन में सम्मानित स्थान रखता है। दण्डी के 'दशकुमारचरितम' में राजनीति शास्त्रकारों के नामोल्लेख में सर्वप्रथम स्थान शुक्राचार्य को ही प्रशन किया है। शुक्रनीति इतना प्राचीन ग्रंथ होते हुए भी इसमें ऐसे अनेक विषयों का विवरण है, जो भी प्रासांगिक हैं और उपयोगी भी है। शुक्रनीति चिंतन की गौरवशाली एवं समृद्ध परम्परा का ज्ञान होता है। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' एवं मैकियावली के 'द प्रिंस' के समान शुक्र की

शुक्रनीति में भी! राजा को शासन करना सिखाया गया है। इस प्रकार इसमें राजनीति का सैद्धान्तिक नहीं वरन् व्यावहारिक पक्ष अधिक महत्वपूर्ण है। शुक्र के अनुसार, "सभी आशंकाओं को त्यागकर राजा को ऐसी नीति का पालन करना चाहिए जिससे शत्रु को मारा जा सके अर्थात् विजय प्राप्त हो"।

4.2 शुक्रनीति : परिचय

शुक्र ने राज्य और शासन पर अपने ग्रंथ 'शुक्रनीतिसार' की रचना जिसमें 2200 श्लोक हैं। शुक्राचार्य के अनुसार, उन्होंने अपने शिष्यों के सामने ब्रह्मा के का सार प्रस्तुत किया है। शुक्र नीति मे चार मूल अध्याय है। इसके विभिन्न संस्करणों में पंचम् 'खिल नीति' (शेष या अवशिष्ट नीति) के रूप में है, जो मूल ग्रंथ का भाग नहीं है।

रचनाकाल :- शुक्राचार्य के काल का निर्धारण अत्यंत कठिन कार्य है। अपनी' विषय वस्तु व शैली के आधार पर यह कौटिल्य के अर्थशास्त्र के बाद की रचना प्रतीत होती है। ऐसा लगता है कि शुक्र नाम वस्तुत: चिन्तन की एक विशेष परम्परा को व्यक्त करता है, एक व्यक्ति को नहीं। भारतीय राजनीतिक चिन्तन के स्त्रोत के रूप में इसे एक प्रमाणिक कथ माना जाता है। यद्यपि शुक्रनीति सार के रचना काल के विषय में विद्वानों में मतभेद है, किन्तु प्राय: सभी विद्वान इस पर सहमत हैं कि यह वैदिक कालीन रचना नहीं है, अपितु ईसा के बाद की कृति है जायसवाल के अनुसार, यह 8 वीं शताब्दी की रचना है। इसके ग्रंथकार को इसी काल का राजशास्त्री कहा जा सकता है।

बोध-प्रश्न-1

प्रश्न : शुक्रनीति में कितने मूल अध्याय एवं श्लोक है उसका रचना काल जायसवाल के अनुसार कौनसी शताब्दी है ?

उत्तर .....

.....

4.3 शुक्रनीति में दण्डनीति की श्रेष्ठता

शुक्रनीति, कौटिल्य के अर्थशास्त्र के समान मूलत: राजनीतिक प्रकृति का ग्रन्थ है इसमें शुक्र ने कौटिल्य एवं कामन्दक के समान ज्ञान की चार शाखा आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति को स्वीकार किया है। शुक्रनीति के टीकाकार, बी०के० सरकार के अनुसार, दण्डनीति शासन करने तथा निर्देश देने से संबंधित विद्या है। " यह कहना उचित है कि शुक्र ने प्रसंगो में दण्ड व नीति का जो महत्व बताया है वह दण्ड नीति अर्थात् राजनीतिशास्त्र का महत्व हैं। दण्ड नीति या नीतिशास्त्र के अलावा जितने शास्त्र हैं, वे सम्पूर्ण मानव व्यवहार के सीमित भाग से ही संबंधित होते हैं, किंतु नीतिशास्त्र सम्पूर्ण मानव व्यवहार से संबंधित शास्त्र है। इस शास्त्र की सहायता से ही-राजा अपने आधार भूत दायित्वों की पूर्ति में सफल होता है, किंतु जो राजा नीति का त्याग ' करके अच्छे व्यवहार करता है, वह दु:ख भोगता है और उसके सेवक भी कष्ट पाते

है। श्यामलाल पाण्डे ने शुक्रनीति सार का महत्व बताते हुए कहा है कि यह प्राचीन भारत की दण्ड प्रधान विचारधारा पर आधारित एकमात्र उपलब्ध ग्रंथ है।

शुक्राचार्य के अनुसार धर्म, अर्थ, काम का प्रधान कारण एवं मोक्ष को सुनिश्चित करने वाला तत्व नीति शास्त्र को ही माना जा सकता है। शुक्रनीति में राजनीतिक चिंतन के समस्त महत्वपूर्ण पक्षों-दार्शनिक, अवधारणात्मक, संरचनात्मक, प्रकियात्मक को पर्याप्त महत्व के साथ चित्रित किया गया है। राज्य के प्रयोजन, राज सत्ता पर नियंत्रण आदि सैद्धान्तिक पक्षों के साथ-साथ दण्ड व न्यायिक प्रक्रिया, राज्य का प्रशासन, राज्य की सुरक्षा व युद्ध, अन्तर्राज्य सम्बन्ध आदि ऐसे विषयों का जो राज्य के व्यावहारिक पक्षों से संबंधित हैं, विशद् विवेचन किया गया है।

4.4 राज्य सम्बन्धी विचार

शुक्रनीति में राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन नहीं किया गया है। सम्पूर्ण ग्रंथ में मात्र एक श्लोक ऐसा है जिसे राज्य की उत्पत्ति से संबंधित माना जा सकता है। शुक्रनीति के प्रथम अध्याय में कहा गया है, "प्रजा से अपना वार्षिक कर वेतन के रूप में स्वीकार करने से स्वामी के रूप में स्थित राजा को ब्रह्मा ने प्रजा के पालनार्थ सेवक बनाया है"। इस प्रकार जहाँ राज्य की उत्पत्ति ब्रह्मा द्वारा बताकर, राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का समर्थन किया है, राजा को प्रजा-सेवक बताकर उसके प्रजा-पालन के दायित्व पर बल दिया और उसके किसी भी प्रकार के दैवी अधिकार को स्वीकार नहीं किया है।

शुक्र ने राज्य को एक अनिवार्य एवं स्वाभाविक संस्था स्वीकार किया है क्योंकि इस संसार के अभ्युदेय का आधार राज्य है। जिस प्रकार चन्द्रमा समुद्र की वृद्धि का कारण है, उसी प्रकार राज्य जनता के अभ्युदेय का मूल आधार है। राज्य ही न्याय द्वारा धर्म, अर्थ, काम (त्रिवर्ग) की सिद्धि कराता है। जैसे-मल्लाह के अभाव में नौका नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार राजा के नेतृत्व के अभाव में प्रजा जन के नष्ट होने की सम्भावना रहती है। शुक्र ने राज्य को प्रजा की भौतिक सुरक्षा के लिए ही नहीं, वरन् नैतिक उत्थान के लिऐ भी उत्तरदायी माना है।

I राज्य की परिभाषा एवं सप्तांग सिद्धान्त:-

प्राचीन भारतीय चिंतन में राज्य को सप्तांग राज्य के रूप में परिभाषित किया गया है, शुक्र भी इसका अपवाद नहीं हैं। राज्य सात अंगो से बना सावयवी है, यह (1) स्वामी, (2) अमात्य, (3) मित्र, (4)कोश, (5)राष्ट्र, (6)दुर्ग, (7) सेना से बना है। शुक्रनीति में कहा गया है, ' राज्य के इन सात निर्माणक तत्वों में स्वामी सिर, अमात्य नेत्र, मित्र कर्ण, कोश मुख, सेना मन, दुर्ग भुजाऐं एवं राष्ट्र पैर हैं।" एक अन्य प्रसंग में राज्य की तुलना वृक्ष से करते हुऐ राजा को इस वृक्ष का मूल, मंत्रियों को स्कन्ध, सेनापति को शाखा, सेना को पल्लव, प्रजा को धूल, भूमि से प्राप्त होने वाले कारकों को फल एवं राज्य की भूमि को बीज कहा गया हैं। यह उल्लेखनीय है कि जहाँ आधुनिक राजनीतिक विचारक राज्य के 4 निर्माणक तत्व - जनसंख्या, भू-भाग, सरकार एवं संप्रभुता मानते है वहीं शुक्र 7 निर्माणक तत्व मानते हैं।

शुक्रनीति में राज्य व राष्ट्र के मध्य अंतर को स्पष्ट करते हुऐ कहा गया है कि किसी विशिष्ट राष्ट्र पर संप्रभु का नियंत्रण उसे राज्य का रूप प्रदान कर देता है। इस प्रकार शुक्रनीति राज्य व राष्ट्र के मध्य अंतर को आधुनिक राजनीतिक विचारकों की तरह स्पष्ट करती है।

बोध प्रश्न:-2

प्रश्न: सप्संग सिद्धान्त में राज्य के सात अंग क्या हैं ?

उत्तर .....

.....

II राज्य का कार्य क्षेत्र:-

शुक्रनीति में राज्य के कार्य क्षेत्र को अत्यंत व्यापक बताया गया है। शुक्र ने राज्य के कर्त्तव्यों के 8 प्रमुख क्षेत्रों का उल्लेख किया है- दुष्टों का निग्रह, प्रजा की सुर दान, प्रजा का परिपालन न्यायपूर्वक कोष का अर्जन, राजाओं से कर वसूल करना, शत्रुओं का मान मर्दन तथा निरन्तर भूमि का अर्जन करना। राज्य के दायित्वों की इस सूत्री से यह स्पष्ट है कि शुक्र ने राज्य के विस्तृत कार्यक्षेत्र का प्रतिपादन किया है। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया है राज्य को अपने दायित्वों को पूरा करने के लिए आवश्यक साधन भी अर्जित करने चाहिए। शुक्र ने राज्य के कार्यक्षेत्र में निम्नलिखित प्रमुख कार्य सम्मिलित किए हैं :-

(1) **प्रजा एवं राजनीतिक समाज की रक्षा करना :-** राज्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य है - बाहरी एवं आंतरिक शत्रुओं से प्रजा की रक्षा करना। आंतरिक शांति व्यवस्था को बनाये रखने की दृष्टि से शुक्र ने राजा को निर्देशित किया है कि वह एवं आक्रमण करने वालों से सज्जनों की रक्षा करे। शुक्रनीति सार ने राजधानी प्रशासन था ग्राम-प्रशासन के वर्णन में भी आंतरिक शांति एवं व्यवस्था को बनाए रखने पर जोर दिया है और राज्य द्वारा विभिन्न मार्गो को डाकुओं व उपद्रवियों से सुरक्षित रखने की आवश्यकता को स्वीकारा है। शुक्र के अनुसार, इस दायित्व के पालन में उदासीनता के कारण प्रजा में शासन के प्रति विरोध का भाव पनपने लगता है।

(2) **लोक कल्याण :-** शुक्र ने राज्य की अहस्तक्षेपवादी धारणा विपरीत, राज्य के लोक कल्याणकारी स्वरूप का प्रतिपादन किया है।

(अ) राजा स्वंय के सुख के लिए प्रजा को कष्ट नहीं पहुंचाए क्योकि प्रजा के दुःखी रहने से राजा नष्ट हो सकता है।

(ब) सभी विद्याओं, विज्ञानो व कलाओं का विकास, विद्वानों का सम्मान।

(स) प्रजा में धर्म की वृद्धि के उपाय करना, देवालय बनवाना।

(द) कुएँ, तालाब, बावडी का निर्माण कराना, नदियों पर पुल बनवाना, सराय बनवाना, वृक्ष लगवाना, पर्यावरण की रक्षा करना।

(य) कृषि, व्यापार की उन्नति करना।

(3) **अर्थव्यवस्था का नियंत्रण :-** अर्थव्यवस्था का नियंत्रण शुक्र के अनुसार राज्य का आवश्यक दायित्व है। शुक्र ने अनुज्ञा (लाइसेंस) के बिना धूत, शिकार करने व शस्त्र धारण करने का निषेध किया है। शुक्र नीति में व्यवसाय व वाणिज्य के संदर्भ में

उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा के लिए राज्य के पूर्ण नियंत्रण को स्वीकार किया है। शुक्र ने विभिन्न पदार्थो के उत्पादन, विक्रय, चिकित्सा आदि व्यवसायों का विनियमन करने की अपेक्षा की है। व्यापारी पदार्थो में किसी प्रकार की मिलावट न करें, इसका भी निर्देश दिया है। यदि राजकीय आदेशों का उल्लंघन किया जाए तो पक्षपात रहित होकर दण्ड देने के लिए राजा को तत्पर रहना चाहिए। राजमार्गो की मरम्मत करवाना व यात्रियों के माल की रक्षा करना भी राज्य का दायित्व है।

(4) शुक्र के अनुसार, सेना एवं राष्ट्र की रक्षा एवं समृद्धि के लिए कोष का आधारभूत महत्व है। किंतु राजा को कोष का अन्यायपूर्वक संग्रह नहीं करना चाहिए। यदि राजा संकटकाल का मुकाबला करने के लिए प्रजा से अधिक धन वसूल करे तो संकटकाल की समाप्ति पर प्रजा को व्याज सहित धन वापिस करना चाहिए।

(5) **राज्य के सामाजिक दायित्व :-** सामाजिक व्यवस्था का नियमन और सामाजिक जीवन में धर्म और नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करना शुक्र के अनुसार राजा को शक्ति पूर्वक प्रजा से वर्ण-धर्म का पालन कराना चाहिए। किंतु इसके साथ ही शुक्र ने बताया कि इस संसार में जन्म से ही कोई भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र म्लेच्छ नहीं होता है, वरन् अपने गुणों के अग़धार पर ही मनुष्यों में यह भेद किया जाता है। मनुष्यों द्वारा विभिन्न कलाओं व विद्याओं को अपनाने से ही अनेक जातियों का विकास हुआ है। श्रेष्ठता कुल या जाति से नहीं प्राप्त होती वरन् गुणों से ही प्राप्त होती है। जब राजा व प्रजा अपने-अपने धर्म व नीति का पालन करते है तब राज्य चिरस्थायी होता है। शुक्र का राज्य सामाजिक नैतिकता का संरक्षक है, राजा के गुणों का ही प्रजा अनुकरण करती है।

(6) **राज्य का शैक्षणिक दायित्व -** राज्य ही शिक्षा के प्रसार के लिए उत्तरदायी है, योग्य विद्यार्थियों को छात्रवृति देना राज्य का ही दायित्व है। विद्या और कला की उन्नति राज्य की ही जिम्मेदारी है। योग्य, बुद्धिमान व्यक्तियों के सम्मान व भरण-पोषण की व्यवस्था भी राज्य का दायित्व है।

(7) **विधि एवं न्याय व्यवस्था :-** शुक्र ने कौटिल्य के समान ही अन्य विधि स्त्रोतों के अतिरिक्त राजाज्ञा को भी विधि का स्त्रोत माना है। शुक्र ने 'पंडित' नामक मंत्री का उल्लेख किया है, जो विधि विशेषज्ञ है। यह राजा का प्रमुख कर्त्तव्य है कि वह मुकदमों का उचित प्रकार से निर्णय करें और अपने आदेशों का पालन कराए। राजा को न्याय कार्य द्वारा दुष्टों का दमन करना चाहिए। लेकिन यदि राजा अपने न्याय कार्य की उपेक्षा करता है तो शुक्रनीति के अनुसार उसे घोर कष्ट सहन करने पडते है।

(8) **प्रशासनिक व्यवस्था का कुशल संचालन :-** शुक्रनीति में न केवल प्रशासन के सन्दर्भ में विभागीय एवं कार्यालय पद्धति का उल्लेख किया गया है वरन् प्रशासन को लिखित आदेशों पर भी आधारित किया है। राज्य के दायित्वों को पूरा करने हेतु, एक सुदृढ़ प्रशासनिक व्यवस्था की आवश्यकता होती है। शासन को निरंतर सजग रहते हुए यह देखना चाहिए कि प्रशासनिक अधिकारी व कर्मचारी अपने दायित्वों का भली प्रकार

पालन करते रहें एवं प्रजा को पीड़ित न करें। इसके साथ ही कर्मचारियों के हितों का ध्यान रखना भी राज्य का ही दायित्व है। शुक्र ऐसे प्रथम भारतीय विचारक हैं, जिन्होंने प्रशासन के आंतरिक पक्षों का भी विस्तृत विवरण दिया है।

(9) **पर-राष्ट्र सम्बन्ध :-** शुक्र ने राज्य से अपेक्षा की है कि वह पर राष्ट्र सम्बन्धों के संचालन में जनहित एवं सुरक्षा के साथ-साथ राष्ट्र हित का भी ध्यान रखे। राज्य को अनावश्यक युद्धों व टकराव से बचाए। विदेश नीति के संचालन के लिए शुक्र व कौटिल्य के समान ही शासक के लिए कुछ सिद्धान्त व नियम निर्धारित किए है। नीति के चार उपाय एवं षड्गुण मंत्र इसमें प्रमुख है। राज्यों के मध्य संबंधों में 'शक्ति' के महत्व का प्रतिपादन करके शुक्र ने यथार्थवादी दृष्टि अपनाई है। राजा को विदेशनीति का संचालन। इस प्रकार करना चाहिए कि अन्य राज्य उससे अधिक शक्तिशाली न हो जाएँ। शुक्र ने शांतिवादी नीति अपनाते हुऐ कहा है कि अन्य उपाय असफल होने पर ही युद्ध या दण्ड को अपनाना चाहिए शुक्र ने पराजित राजा के प्रति जिस प्रकार के व्यवहार का उल्लेख किया है, उससे उसकी मानवतावादी दृष्टि का ज्ञान होता है।

बोध प्रश्न- 3

प्रश्न : अर्थ व्यवस्था पर नियंत्रण शुक्र के अनुसार किसका दायित्व है।

उत्तर: .....

.....

4.5 राजा एवं राजपद

शुक्र ने राजपद को केन्द्रीय महत्व प्रदान किया है, राजा का प्रमुख कर्तव्य प्रजा-रंजन है। राजा के बिना प्रजा ऐसे ही नष्ट हो जाती है, जैसे मल्लाह रहित नौका हो जाती है।

I. राजपद सम्बन्धी विभिन्न अवधारणा:-

(1) **देवांश सम्बन्धी धारणा :-** शुक्र के अनुसार राजा का निर्माण आठ देवताओं के अंश से हुआ है इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरूण, चन्द्रमा तथा कुबेर। राजा इन देवताओं के गुणों के अनुसार सदाचरण करता है, वही वास्तव में देवांश राजा होता है।

(2) **राजपद की तप सम्बंधी धारणा:-** शासन करना तप के समान जाता है और तप तीन प्रकार का होता है -सात्विक, राजसिक, और तामासिक।. राजा सभी कर्त्तव्यों का नीति के अनुसार पालन करता है, राजासिक राजा वासना एवं विषयों में आसक्त होता है एवं तामसी राजा कर्लव्यहीन एवं नीति का उल्लंघन करने वाला होता है सात्विक राजा श्रेष्ठ, राजसिक राजा मध्यम एवं तामसिक राजा निकृष्ट श्रेणी का होता है।

(3) **राजा की प्रजा सेवक सम्बन्धी धारणा :-** शुक्र के अनुसार, ब्रह्मा ने राजा को ऐसा प्रजा सेवक बनाया है, जिसे वेतन के रूप में प्रजा से कर प्राप्त होता है, राजा को प्रजा से कर ग्रहण करके सेवक की भांति प्रजा की रक्षा एवं सेवा चाहिऐ।

(4) **संविदा सम्बन्धी धारणा :-** मनु के विपरीत, शुक्र राजा को तब ही राजा मानते हैं जब तक वह धर्मशील होता है। यदि वह अधर्मशील हो तो प्रजा चाहिए कि ऐसे राजा को

त्यागकर, श्रेष्ठ राजा की शरण में जाने का विचार बनाए, भयभीत होकर राजा धर्मशील बन जाए।

II. राजा के देवत्व पर विचार :-

जैसा कि उल्लेख किया गया है शुक्र ने राजा को आठ देवताओं के अंश से निर्मित बताया है। शुक्र ऐसे भारतीय विचारक हैं, जिन्होंने राजा के प्रत्यक्ष देव होने की का विरोध किया शुक्र ने न तो राजा को 'देव' स्वीकार किया है और न ही उसके दैवी अधिकार माने है, परन्तु उसके दायित्वों की दिव्यता का स्पष्टीकरण अवश्य ही किया हैं। दायित्वों की दिव्यता के कारण स्वयं शासक भी अपनी इच्छा से इन दायित्वों से मुक्त नहीं हो सकता। राजधर्म का पालन करने से क्षुद्र राजा भी श्रेष्ठ बन जाता है, जबकि इसके विपरीत आचरण करने से उत्तम राजा भी क्षुद्र बन जाता

III. राजा का वर्गीकरण :-

1. **गुण व कर्म के आधार पर** (1) सात्विक (2) राजस और (3) तामस तीन प्रकार के राजा, शुक्रनीति में माने गऐ है।
2. **सत्तासीन एवं दस्युराजा :-** जब किसी राजा को उसके शत्रु सत्ता से बाहर कर देते हैं तो ऐसा राजा 'दस्यु राजा' का जीवन व्यतीत करता है।
3. **वार्षिक आय के आधार पर वर्गीकरण :-** शुक्र ने राजाओं की वार्षिक आय के आधार पर आठ प्रकार के राजाओं का उल्लेख किया है:- 1. सामन्त 2. माण्डलिक 3. राजा 4 महाराजा 5.स्वराट 6. सम्राट 7. विराट 8 सार्वभौम।
   शुक्र ने नैतिक आधार को भी वर्गीकरण में प्रमुखता देते हुऐ कहा है कि राजा की आय प्रजा को पीड़ा दिए बिना होनी चाहिए तथा यह केवल राजतन्त्र से सम्बन्धित वर्गीकरण ही है।
4. **अभिषेक के प्रसंग में दो प्रकार के राजा :-** प्राचीन भारत में राज्याभिषेक संस्कार का विशेष महत्व था और इसके द्वारा ही राजा सत्ता का वैध अधिकारी माना जाता था। शुक्र ने इस परम्परा के प्रतिकूल अनभिषिक्त राजा का भी उल्लेख किया है।
5. **राजा के गुण एवं दुर्गुण -** शुक्र ने राजा के लिऐ ऐसे व्यावहारिक व मानवीय गुणों से सम्पन्न होना आवश्यक माना है, जिनके द्वारा व्यापक दायित्वों का उचित प्रकार से निर्वाह कर सके तथा सार्वजनिक प्रशंसा का पात्र बना रहे। शुक्र का मत है कि राजा को सर्वप्रथम अपने ऊपर ही विजय पानी चाहिए। राजा के गुणों के अनुसार ही उसके सहायकों के गुण भी हो जाते है। अत: सदैव राजा को गुणवान होने का आदर्श ही प्रस्तुत करना चाहिऐं। राजा केवल राजकुल में उत्पन्न होने के कारण ही प्रजा का आदर प्राप्त नहीं करता अपितु उसके गुण ही उसे आदर प्रदान करते है।
6. **राजा की दिनचर्या :-** शुक्रनीति में भी मनुस्मृति और अर्थशास्त्र के समान ही राजा को यह परामर्श दिया गया है कि वह अपनी दिनचर्या का उचित विभाजन करके दिन के विशिष्ट कालखण्ड में निर्धारित कार्य करे। शुक्र नीति में राजा की 24 घण्टे की दिनचर्या को 30 मुहूर्तो में विभाजित किया गया है। शुक्र का एक मुहूर्त 48 मिनट के

बराबर है। शुक्र ने राजा को परामर्श दिया कि कार्यो को नियत समय पर करने से बहुत सुख मिलता है अन्यथा हानि होती है।

7. **उत्तराधिकार का सिद्धान्त -** शुक्र ने प्राचीन परम्परा का अनुकरण करते हुए उत्तराधिकार के बारे मे 4 सिद्धान्तों को स्वीकार किया है - 1. पैतृक सिद्धान्त 2. ज्येष्ठता सिद्धान्त 3. शारिरिक परिपूर्णता सिद्धान्त 4. योग्यता सिद्धान्त। शुक्र ने यह प्रतिपादित किया है कि शासन का उत्तराधिकारी राजकुल में से ही लिया जाना चाहिए, किन्तु राजा के ज्येष्ठ पुत्र को स्वत: ही शासन का उत्तराधिकारी नहीं मान लेना चाहिए। राजा के जीवित रहते हुए ही उत्तराधिकार के प्रश्न को निश्चित करना अच्छा है। अनेक व्यक्तियों के स्थान पर एक व्यक्ति को ही उत्तराधिकारी निश्चित करना चाहिए। शुक्र ने उत्तराधिकार के प्रश्न को हल करने के लिऐ राज्य का विभाजन करने के विचार का दृढ़ता से निषेध किया है क्योकि राज्य विभाजित होने से शत्रु द्वारा नष्ट करने की आशंका रहती है। उत्तराधिकार के दावेदारों में ऐसे मत भेद भी हो सकते हैं, जो राज्य एवं राजकुल के विनाश का कारण बन सकते हैं। अत: इन सभी के राजसी मान-सम्मान के जीवन का किया जाए, ताकि ये संतुष्ट रह सकें।

बोध प्रश्न- 5

प्रश्न : राजा कितने देवताओं के अंश से निर्मित है ?

उत्तर: .....

.....

VII. निरंकुश राजा पर नियंत्रण : - शुक्रनीति में शासक को व्यापक शक्तियाँ प्रदान की गई है, परन्तु शासक से इनका प्रयोग विधि एवं धर्म के अनुसार करने की अपेक्षा की गई है। शुक्र ने राजाओं को निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी बनाने से रोकने के लिऐ तीन उपाय सुझाए है :-

1. **नैतिक उपाय : -** शुक्रनीति में राजा से नीति का पालन करने की अपेक्षा की गई है तथा उसके स्वेच्छाचारी व्यवहार का निषेध किया गया है। शासक को दण्ड की शक्ति के प्रयोग का अधिकार उसी स्थिति में प्राप्त है, जबकि वह स्वयं अपने धर्म के पालन के प्रति निष्ठावान हो तथा उसका स्वयं का आचरण दोषरहित हो। शुक्र ने शासक से निजी व सार्वजनिक दोनों प्रकार के आचरणों में शुद्धता और मर्यादा की अपेक्षा करते हुए उसे परामर्श दिया है कि इन् बात को समझकर कि यौवन, जीवन, धन व प्रभुत्व चिरस्थायी नहीं होते उसे धर्म में ही निरत रहना चाहिए। शुक्र का मत है कि यदि शासक में एक भी दुर्गुण हो तो जनता के मध्य उसकी छवि बिगड़ भी सकती है। शुक्र ने शासक को यह भी परामर्श दिया है कि वह अपनी प्रजा को वश में करने के लिए भेदभाव का नहीं अपितु साम व दान का प्रयोग करें।

शुक्र ने शासक से परम्पराओं, प्रतिष्ठित सामाजिक मूल्यों आदि का।नियन्त्रण मानने की अपेक्षा की है। शुक्रनीति सार द्वारा सुझाए गए नैतिक उपायों में राजा की शिक्षा, नीति व दर्शन के उपदेश, राजा के सहायकों एवं परामर्शदाताओं द्वारा प्रस्तुत दृष्टान्त पारलौकिक सुखों एवं दुखों की व्यवस्था, राजा के विभिन्न कर्त्तव्य, राजा की दिनचर्या आदि को शामिल किया जा सकता है।

2. **वैधानिक उपाय : -** शुक्र के अनुसार राजा का पद श्रेष्ठ अवश्य है, क्ति यह विधि, नियम एवं कानून से अधिक श्रेष्ठ नहीं है। शुक्र के अनुसार राजा को केवल परम्परागत विधि (सदाचार एवं रूढियाँ) में ही परिवर्तन करने का अधिकार है, किंतु यह परिवर्तन देश, काल,। स्थिति को ध्यान में रखकर ही किया जाना चाहिए और इस कार्य को 'पंडित' नामक मन्त्री की सलाह के आधार पर ही किया जाना चाहिए,जो विधि निर्माण का विशेषज्ञ होता है। शुक्र द्वारा विधि के क्षेत्र में राजा की शक्तियों की जो सीमा बताई गई है, उनसे प्रतीत होता है कि राजा प्राय: विधि के क्षेत्र में निरंकुश नहीं हो पाता था।

प्रशासनिक क्षेत्र में शासन की प्रकृतियों का उचित परामर्श राजा को नीति भ्रष्ट होने से बचाने के लिए आवश्यक माना गया है। शुक्र ने राज्य के सुचारू संचालन के लिए मत्रियों आदि के परामर्श के प्रति शासक की निष्ठा की आवश्यकता को प्रतिपादित किया है, साथ ही परामर्श देने के लिए नियुक्त पदाधिकारियों से यह अपेक्षा की है कि वे राजा को सदैव उचित परामर्श दें।

यहाँ तक कि आपातकाल में भी राजा को स्वतंत्र नहीं माना है। वह सम्बन्धित पक्षों की सहमति से ही कठोर निर्णय लेने में समर्थ होता है।

न्यायायिक क्षेत्र - में उदासीनता के व्यवहार को शासक के घोर नैतिक अपराध की संज्ञा दी है, तथा चेतावनी दी है कि ऐसा करने पर वह नरक में जाएगा। न्यायिक मुकदमों के निर्णयों के लिए एक निश्चित एवं निष्पक्ष प्रक्रिया का उल्लेख किया है, जिसका राजा द्वारा पालन किया जाना है। शुक्र ने न्याय सभा के सदस्यों की योग्यता व न्याय साधनों का विस्तृत विवरण दिया है।

3. **विधानेतर उपाय :-** शुक्र ने जनता व जनमत के नियंत्रण को भी महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। शुक्र ने शासक को यह परामर्श दिया है कि प्रजा द्वारा की गई अपनी निन्दा को गम्भीरता से ग्रहण करे व अपने दुर्गुणों का निवारण कर शुक्रनीति में शासक को पदच्युत करने के प्रजा के अधिकार को स्पष्टत मान्यता प्रदान की गई है तथा प्रजा का यह कर्तव्य माना गया है कि वह नीति एवं धर्म के विरूद्ध आचरण करने वाले राजा को निरन्तर भयभीत रखने का प्रयत्न करे तथा ऐसा न हो सकने पर उसे पदच्युत कर दें।

(अ) पुरोहित की मदद से सत्ता में परिवर्तन :- यदि राजा गुण, नीति, सेना का शत्रु हो और अधार्मिक हो तो उसे राष्ट्र का विनाश करने वाला मान कर त्याग दिया जाना चाहिए अर्थात् उसे पद से हटा देना चाहिए। पुरोहित को अन्य प्रकृतियों (मन्त्रि परिषद् के सदस्य) की सहमति से उसे पदच्युत राजा के स्थान पर उसी राजकुल के किसी गुणवान पुरूष को राजपद पर नियुक्त किया जाना चाहिए।

(ब) धर्मशील शत्रु राजा की मदद से सत्ता में सुधार :- शुक्र का मत है कि नीतिभ्रष्ट राजा को पुन: नीति-मार्ग पर लाने का कार्य किसी अन्य धर्मशील व शक्तिशाली राजा द्वारा ही किया जा सकता है, जैसे-दलदल में फंसे हाथी को किसी अन्य हाथी द्वारा ही निकाला जा सकता है। शुक्र ने राजा की स्वेच्छाचारिता से बचने के लिए प्रजा के इस विधानोत्तर प्रयत्न का समर्थन किया

है कि वह अपने राजा के नियन्त्रण के लिए उसके धर्मशील व शक्तिशाली शत्रु राजा से सांठ-गांठ कर सकती है।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि शुक्र ने अधर्मशील स्वेच्छाचारी तथा राष्ट्र का विनाश करने वाले राजा के विरोध को उचित माना है और उसके नियन्त्रण के लिए विभिन्न नैतिक उपायों व वैंधानिक उपायों के साथ ही विधानेतर उपायों पर भी विचार किया है। महाभारत के अनुशासन पर्व में भी दुष्ट राजा को साक्षात् कलियुग मानते हुए, उसके वध को उचित माना है। यह उल्लेखनीय है कि शुक्र ने दुष्ट व स्वेच्छाचारी राजा के नियन्त्रण अथवा उसकी पद-मुक्ति की व्यवस्था स्वीकारी है और उसके वध का समर्थन नहीं किया है।

बोध प्रश्न -5

प्रश्न: राजा पर नियंत्रण के कौन से उपाय शुक्र ने बताये है ?

उत्तर .....

.....

4.6 मन्त्रि परिषद

शुक्रनीति सार के अनुसार सभी विद्याओं में अति कुशल के लिए भी राजकार्य जैसे अतिकठिन कार्य को अकेले ही करना असम्भव होता है। अत: राजा अपने सहायकों से परामर्श करना चाहिए। शुक्र के अनुसार जो राजा मन्त्री के मुंह से कही गयी -अहित की बातों पर गौर नहीं करता है वह राजा होकर भी वास्तव में डाकू के समान केवल के धन को लूटने वाला ही होता है।

I. मंन्त्रिपरिषद का संगठन :- शुक्र ने मन्त्रि परिषद के सदस्यों के लिया 'प्रकृति' शब्द का प्रयोग किया है।

(अ) सदस्य संख्या:- जहां अन्य आचार्यो ने यह संख्या 8 स्वीकारी है। शुक्र ने इनकी सहायता के लिए दस 'सहायकों' की भी व्यवस्था की है। जिन्हें ने 'उपमंन्त्री' कहा है।

(ब) विभिन्न विभाग, मन्त्रियों के पद तथा उनका वरीयता क्रम :- शुक्रनीतिसार के सदस्यों के पद, विभाग एवं वरीयता क्रम को निम्नलिखित से प्रकट किया गया है -1. पुरोधा (पुरोहित) 2. प्रतिनिधि 3. प्रधान 4. सचिव 5. मन्त्री. प्राड्विवाक 7. पण्डित 8 सुमंत्र 9 अमात्य 10. दूत।

(स) वेतन :- शुक्र ने इस वेतन सिद्धान्त को स्वीकार किया है कि पुरोधा से आरम्भ करके पूर्व पद का वेतन आगामी पद से 1/10 ज्यादा होना चाहिए। स्पष्ट होता है कि शुक्र ने वेतन के बारे में पद एवं विभागों के वरीयता क्रम को महत्व प्रदान किया है।

(द) कार्यकाल तथा विभाग परिवर्तन :- किसी भी पद पर किसी भी मन्त्री को स्थायी रूप से नियुक्त नहीं करना चाहिए, इनकी योग्यता की निरन्तर जांच करते हुऐ, कार्यकुशलता के अनुसार पदों में परिवर्तन करते रहना चाहिए। यदि किसी का प्रधान अधिकारी अयोग्य सिद्ध हो तो उसके स्थान गर उसके किसी योग्य को नियुक्त किया जाना चाहिए।

II. मन्त्रि परिषद के सदस्यों की योग्यता एवं कार्यानुसार विवरण :-

(अ) सदस्यों की समान योग्यता :- शुक्र ने नियुक्ति सम्बंधी विवरण में अग्रलिखित छः प्रकार की योग्यता पर बल दिया है -1. आनुवांशिकता 2. नैतिकता 3. शारीरिक क्षमता 4. बौद्धिक क्षमता 5. राजभक्ति 6. नीति निपुणता

अल्टेकर के अनुसार, "शुक्र का मत है कि केवल भोजन व के अवसरों पर ही जाति की पूछताछ की जानी चाहिए, मन्त्रि परिषद में नियुक्ति के नहीं। शुक्र को शूद्र के अधीन सैन्य विभाग रखने में कोई आपत्ति नहीं है, यदि वह योग्य एवं राजभक्त हो।" वास्तव में शुक्र का मत प्राचीन भारत की उदार परम्परा के अनुरूप है। शान्ति पर्व ने मन्त्रिपरिषद में प्रथम तीन वर्णो के अलावा तीन योग्य शूद्रों की नियुक्ति का स्पष्ट उल्लेख किया है।

(ब) सदस्यों की विशिष्ट योग्यता एवं कार्य:- शुक्र की मन्त्रि परिषद में सर्वप्रथम स्थान पुरोधा का है। उसे मन्त्र, कर्मकाण्ड, त्रयी, छह वेदांग, धनुर्वेद नीति, विद्या आदि का ज्ञाता होना चाहिए। उसे काम, क्रोध, लोभ मोह से रहित, इन्द्रियजयी धार्मिक जीवन में रत होना चाहिए।

प्रतिनिधि को इतना योग्य होना चाहिऐ कि वह देश, काल व स्थान के सन्दर्भ में करने योग्य एवं न करने योग्य कार्यो की पहचान रखता हो।

मन्त्रि परिषद का तीसरा सदस्य प्रधान है, जो शासन के सभी कार्यो का सामान्य निरीक्षण करने की योग्यता रखता है।

चौथा सदस्य सचिव है, जो अपने कार्यो की दृष्टि से युद्ध मन्त्री है वह सेना एवं इसके कार्यो का समस्त ज्ञान रखता है।

पांचवा सदस्य मन्त्री का है, जिसे आधुनिक दृष्टि से विदेश मन्त्री या पररा्ष्ट्र मन्त्री कह सकते है। छठा सदस्य प्राड्विवाक है, जो प्रधान न्यायाधीश है एवं न्याय विभाग का प्रमुख राजनीतिक अधिकारी भी है। उसे शास्त्रोक्त एवं लोक प्रचलित आचार का ज्ञाता होना चाहिए।

सातवां सदस्य पण्डित, धर्म के तत्व का ज्ञाता होना चाहिए।

आठवें सदस्य सुमंत्र को शुक्र का वित्त मन्त्री या कोषाध्यक्ष कहा जा सकता है, जिसे आय-व्यय की सम्पूर्ण जानकारी होनी चाहिऐ।

नवां सदस्य अमात्य देश तथा आलेखों का ज्ञाता होना चाहिए। वह राज्य में स्थित नगरों, ग्रामों, जंगलों की भूमि की माप का हिसाब रखता है और इनसे होने वाली आय का भी विवरण रखता है। वरीयता क्रम में अन्तिम स्थान दूत का है। वह षाड्गुण्यमन्त्र का ज्ञाता, अच्छा वक्ता, निर्भीक, देश व काल की स्थिति को समझने वाला होना चाहिए।

III. मन्त्रि परिषद की लिखित कार्य-प्रणाली :- के. पी. जायसवाल के अनुसार प्राचीन भारतीय राजनीतिक ग्रंथों मे केवल शुक्रनीतिसार में ही मन्त्रि परिषद की कार्य प्रणाली पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। दी. के. सरकार के अनुसार इस ग्रन्थ में मन्त्रि परिषद की कार्य प्रणाली के बारे में अग्रलिखित तथ्यों को स्पष्ट किया है -

(1) मन्त्रि परिषद का सदस्य एवं सहायक मिलकर अपने विभाग से सम्बन्धित किसी विषय पर एक लेख तैयार करते है।

(2) इस लेख पर सर्व प्रथम राजा की टिप्पणी द्वारा इसके दोषों को समाप्त किया जाता है।

(3) इसके बाद सभी मन्त्रियों की सलाह ली जाती है, जिससे सभी विभागों में ताल- मेल एवं सहयोग बना रहता है।

(4) इस लेख पर सभी मन्त्रियों द्वारा अपनी मुद्रा सहित हस्ताक्षर किए जाते है।

(5) अन्त में पुन : राजा अवलोकन करता है और अपना अन्तिम निर्णय देता है।

इस प्रकार यह प्रक्रिया राज्य के लिए लाभदायक है क्योंकि राजा लिखित रूप में सबकी राय भी जान लेता है एवं अन्तिम निर्णय का अधिकार अपने पास सुरक्षित रखता है।

बोध प्रश्न - 6

प्रश्न: शुक्र के अनुसार मन्त्रि परिषद मे कितने सदस्य होने चाहिए।

उत्तर: .....

.....

4.6 राष्ट्र की प्रशासन एवं कार्मिक व्यवस्था

शुक्र ने दो प्रकार के प्रशासन का उल्लेख किया है- केन्द्रीय प्रशासन एवंस्थानीय प्रशासन। केन्द्रीय प्रशासन में राजमृत्यो के महत्व को बताते हुए, शुक्र ने राजा परामर्श दिया है कि वह राज्य की उन्नति के लिए अनेक ज्ञानवान एवं गुणी सहायकों की करे। शुक्र ने सात प्रकार के सेवकों का उल्लेख किया है और सभी वर्गो के अधिकारियों, सहायकों एवं सेवकों की नियुक्ति सम्बन्धी योग्यता पर विस्तार से प्रकाश डाला है। शुक्र ने स्थानीय प्रशासन के संगठन का भी उल्लेख किया है, जिसमें अग्रलिखित 6 अधिकारियों का उल्लेख है - साहभाधिपति, ग्राम नेता, भागहार लेखक, शुल्क ग्राहक तथा प्रतिहारी।

I. शासकीय अधिकारियों पर नियन्त्रण :- कुशल प्रशासन हेतु अनिवार्य है कि राजा अधिकारियों के कार्यो पर कडी नजर रखे। शुक्रनीति में कहा गया है यदि सौ प्रजाजन किसी अधिकारी के विरूद्ध आवेदन पत्र दे दें, तो उस अधिकारी को पदच्युत कर देना चाहिए। शुक्र ने परामर्श दिया है कि राजा अन्याय करने वाले अधिकारियों से उनकी शक्तियाँ छीन ले। नियन्त्रण के लिए यह भी अनिवार्य है कि एक पर एक व्यक्ति अधिक समय तक न रहे। किसी व्यक्ति की पद पर नियुक्तिकेवल के आधार पर करनी चाहिए।

II. प्रशासनिक संगठन :- शुक्रनीति में प्रशासन के 20 विभागों सामान्य का उल्लेख किया गया है- गज, अश्व, स्वर्ण, रजत विभाग आदि। इन विभागों के अध्यक्ष पद को रूप से कर्म सचिव कहा है, किन्तु इसके साथ ही अध्यक्ष पद के लिऐ अध्यक्ष, पति या अधिपति की संज्ञा का प्रयोग किया है। शुक्रनीति में प्रतिपादित प्रशासनिक संगठन बहुरतरीथ है। प्रशासन के केन्द्रीय स्तर पर संगठित विभागों के अतिरिक्त, शुक्र ने स्थानीय, ग्रामीण और नगरीय प्रशासन की संगठनात्मक संरचना पर प्रकाश डाला है।

शुक्र का मत है कि प्रत्येक ग्राम और प्रत्येक नगर में साहसाध्यक्ष (पुलिस अधीक्षक के समकक्ष पद) ग्राम क्र अध्यक्ष भागहार (प्रजा से कर वसूलने हेतु उत्तरदायी) की नियुक्ति की जानी चाहिए।

प्रशासन के समस्त स्तरों पर नियुक्त कार्मिकों की व्यावसायिक व तकनीकी योग्यताओं का शुक्र नीति में विस्तार से उल्लेख किया गया है।

III. प्रशासन की कार्यालय पद्धति :- शुक्र ने प्रशासन की कार्यालय पद्धति में लिखित आदेश को अत्यधिक महत्व दिया है। उनके अनुसार, अधिकारी या सहायकों शो बिना लिखित राजाज्ञा के कोई कार्य नहीं करना चाहिए, क्योंकि राजा की राजमुद्रा 8, हस्ताक्षर युक्त लिखित आदेश ही वास्तविक राजा होता है, व्यक्ति राजा नहीं होता है। शुक्र ने राजा के लिखित आदेश को स्मृति पत्र (फाइल) के रूप में सुरक्षित रखने की प्रणाली को स्वीकार किया गया है। इसके साथ ही उन्होंने प्रशासन में दैनिक, मासिक, वार्षिक़ तथा बहु वर्षीय रिपोर्ट तैयार करने पर भी बल दिया गया है। प्रशासन के कुशल संचालन् के लिये शुक्र ने सूचनाओं की प्रतिदिन प्राप्ति पर जोर दिया है। उनका मत है कि राजा क्रो प्रतिदिन 100 कोस दूर तक के प्रदेशों की सूचनाऐं प्राप्त होनी चाहिए। शुक्र ने राजकीय कार्यालयों की सुरक्षा के लिए पहरेदारों व रक्षकों की व्यवस्था को स्वीकार किया है।

प्रशासन में कार्मिक व्यवस्था :- कार्मिक व्यवस्था के विवेचन की दृष्टि से को विलक्षण नथ माना जा सकता है, क्योकि कार्मिक व्यवस्था के विभिन्न पक्षों का जैसा, व्यवस्थित व पूर्ण चित्रण इसमें उपलब्ध है, वह कहीं नहीं मिलता है।

1. राज्य कर्मचारियों के लिऐ आचार संहिता :- समस्त राजकर्मचारियों से आचरण के सामान्य नियमों के पालन की अपेक्षा की गई है इन नियमों या आचार संहिता का पालन करने वाले कर्मचारियों को ग्रन्थ में श्रेष्ठ कार्मिक बताया गया है। शुक्र के अनुसार,भृत्य स्वामी के प्रति तथा अपने सेवा कार्य के प्रति पूरी तरह से समर्पित होकर कार्य करना चाहिए। उसे शिष्टतापूर्वक राजा को सद्कार्य की प्रेरणा देनी चाहिए तथा कभी भी मात्र चादुकारिता नहीं करनी चाहिए। कर्मचारियों को कभी भी प्रजा से झूठे वादे नहीं करने चाहिए। अनुचित कार्यो जैसे- रिश्वत, जुआ, क्रोध, दुश्चरित्रता आदि को त्याग देना चाहिए। उपर्युक्त गुणों के विपरीत कार्य करने वालों को शुक्र ने निकृष्ट माना है।

2. वेतन, वेतनमान व वेतनवृद्धि:- वेतन भुगतान के सिद्धान्त में कार्य व काल दोनों को ही आधार बनाया गया है अर्थात् एक निश्चित काल में किए गये कार्य की मात्रा देखकर ही भूति दी जाती है। शुक्र ने राजा को यह परामर्श दिया है कि वह वेतन में कटौती नहीं करे और सदैव नियत समय पर ही वेतन दे। शुक्रनीति में स्पष्ट प्रतिपादित किया गया है कि कार्मिक का न्यूनतम वेतन इतना होना चाहिए कि उस पर आश्रित व्यक्तियों का सरलता से भरण -पोषण हो सक। वेतनमानों को श्रेष्ठ, मध्यम, सम व हीन में विभाजित किया गया है। शुक्र ने राजा को चेतावनी दी है कि अत्यन्त कम वेतन प्राप्त करने वाले कर्मचारी शासन से असंतुष्ट हो जाते है और राजकीय कार्यो की अपेक्षा अन्य कार्यो में रूचि -लेने लगते है अत: जैसे-जैसे मृत्य की

योग्यता में वृद्धि हो, वैसे-वैसे उसके वेतन में भी वृद्धि होनी चाहिए, क्योंकि इससे अन्त में स्वयं राजा का हित होता है।

3. सेवा अवधि, पदोन्नति एवं पद अवनति:- सामान्य स्थिति में एक कर्मचारी की सेवा अवधि- 40 वर्ष स्वीकार की है, किन्तु इसके साथ ही भृत्यो की सदैव परीक्षा होती रहनी चाहिए और अवगुण उत्पन्न हो जाने पर भृत्य को पद मुक्त कर देना चाहिए।

शुक्रनीति में कर्मचारियों की समयबद्ध पदोन्नति के बारे में स्पष्ट प्रावधान किया गया है, जब कोई कार्मिक अपने अनुभव के आधार पर अपने पद से श्रेष्ठ होता जाए तो उसे उत्तरोतर श्रेष्ठ पद पर नियुक्त किया जाना चाहिए। इसके विपरीत यदि कोई प्रधान सेवक आलस्यादि के कारण अपने दायित्वों की उपेक्षा करता है तो उसे अप्रधान सेवक बना देना चाहिए।

4. शुक्र ने मृत्यों के प्रशिक्षण की व्यवस्था भी की है।

5. पेंशन, क्षतिपूर्ति, भविष्य निधि व बोनस की व्यवस्था - राजसेवा में 40 वर्ष पूरे करने के उपरांत, सेवानिवृत्ति के बाद पेंशन रूप में पैसा आजीवन दिया जाना चाहिए। केवल पेंशन ही नहीं पारिवारिक पेंशन की व्यवस्था भी है। राज कर्मचारियों के लिए भविष्य निधि की योजना को भी स्वीकार किया हैं। राजा को कार्मिक के वेतन की कुल राशि का 1 ओं 6 या 14 भाग काटकर अपने यहां जमा कर लेना चाहिए और दो या तीन वर्ष बाद, उस जमा राशि के आधे या पूरे भाग का भुगतान कार्मिक को कर देना चाहिए।

6. विश्राम एवं अवकाश के नियम :- नियमित कार्मिकों के प्रतिदिन 12 घण्टे राजकार्य की व्यवस्था है। कर्मचारियों को उपयुक्त अन्तराल पर तथा विशिष्ट परिस्थितियों में कार्य से अवकाश प्रदान किये जाने की आवश्यकता व्यक्त की गई है एवं विस्तृत नियमों का प्रतिपादन किया गया है। उत्सव आदि के दिन कोई कार्य कर्मचारियों से नहीं कराया जायेगा। यदि कोई अधिक आवश्यक कार्य हो तो उत्सव वाले दिन भी कराने की व्यवस्था की गई है, परन्तु श्राद्ध के दिन किसी भी प्रकार के कार्य का स्पष्ट निषेध किया गया है। कार्मिकों को प्रतिदिन निश्चित अन्तराल पर अवकाश देने की व्यवस्था भी की गई है। कर्मचारियों के अस्वस्थ हो जाने पर उन्हें 'सवेतन' व अर्द्धवेतन अवकाश की व्यवस्था की गई है। प्रतिवर्ष 15 दिन के 'सवेतन' अवकाश के साथ स्वास्थ्य अवकाश की भी व्यवस्था की है। किन्तु जब कोई योग्य भृत्य बीमार हो जाए, उसकी बीमारी की अवधि की उपेक्षा करके उसे सदैव आधा वेतन अवश्य ही दिया जाना चाहिए।

इस प्रकार शुक्रनीति प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन का ऐसा मन्थ है। जिसमें कार्मिक व्यवस्था का इतना विस्तृत व व्यापक विवरण दिया गया है, तथा जो। कर्मचारियों के हितों पर आधारित है।

बोध प्रश्न-7

प्रश्न: शुक्र ने कर्मचारियों के वेतन का आधार स्वीकार किया है ?

उत्तर: ……

……

4.7 समाज व्यवस्था

शुक्र ने सामाजिक जीवन में शाश्वत नैतिक मूल्यों के स्थान देश, काल, स्थिति के अनुसार ही नैतिक मूल्यों को स्वीकारा है। शुक्र ने प्राचीन भारतीय परम्परा अनुसार समाज संगठन का प्रमुख आधार वर्ण एवं आश्रम व्यवस्था को ही स्वीकार किया है। वे मनु के समान कठोर एवं अति अनुदारवादी नहीं हैं। शुक्र ने सामान्यत : जन्म पर आधारित वर्ण व्यवस्था को स्वीकारा है। किन्तु इसके साथ ही कर्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था का भी समर्थन किया है। शुक्र ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र- चारों वर्णो के परम्परागत कार्यो का उल्लेख किया है। और इसके साथ ही बताया है कि ब्राह्मण वर्ण के व्यक्ति को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ वानप्रस्थ एवं सन्यास नामक चारों आश्रमों का पालन करना चाहिए। किंतु अन्य शेष तीन वर्णो द्वारा प्रथम तीन आश्रमौ का पालन पर्याप्त होता है। शुक्र के अनुसार, व्यवसायों के आधार पर ही जातियों का निर्माण होताहै, इसीलिए अनेक जातियों का निर्माण सम्भव हुआ।

यह उल्लेखनीय है कि शुक्र ने मनु आदि धर्मशास्त्रियों की तरह सार्वजनिक जीवन में वर्ण एवं जाति के महत्व को बढ़ा- चढाकर प्रस्तुत नहीं किया है, उनका मत है कि वर्ण एवं जाति का विशेष महत्व विवाह एवं भोजन जैसे व्यवहारों में ही है। राष्ट्र के प्रशासन मे शुक्र ने वर्ण एवं जाति की तुलना में व्यक्ति के कर्म, शील एव गुण को ही महत्वपूर्ण माना है और, राजा को निर्देश दिया है कि वह राजकीय अधिकारियों एवं भृत्योकी नियुक्ति में व्यक्ति के कर्म शील एवं गुण को ही आधार बनाए। शुक्र ने ब्राह्मणों की अत्यधिक श्रेष्ठता या शूद्र की हीनता था प्रतिपादन नहीं किया है। इस दृष्टि से दण्डशास्त्री शुक्र की समाज व्यवस्था मनु से अधिक उदार, यथार्थवादी एवं व्यावहारिक है।

4.8 कर नीति

प्राचीन भारतीय परम्परा का अनुकरण करते हुए शुक्र ने राजा के कर लगाने के अधिकार पर दो नियन्त्रण लगाए है-

(1) राजा ब्रह्मा द्वारा नियुक्ति ऐसा प्रजा सेवक है, जो प्रजा से कर के रूप में अपना वेतन प्राप्त करता है, अत: प्रजा पालन के कर्त्तव्य की पूर्ति के लिए ही राजा को कर लगाने का अधिकार होता है।

(2) राजा को कर निर्धारण के लिय स्मृति के नियमों का पालन करना चाहिए, मनमाने कर निर्धारण या वसूलने का अधिकार राजा को नहीं है।

I. कर प्रणाली:-

शुक्रनीति सार में दो प्रकार की कर प्रणाली दिखाई देती है -

(1) स्थानीय कर प्रणाली

(2) राष्ट्रीय कर प्रणाली।

1. स्थानीय कर प्रणाली

शुक्राचार्य ने स्थानीय आवश्कताओं की पूर्ति के लिए स्थानीय कराधान के सिद्धान्त को स्वीकारा है जैसे-नगर के ग्रंहोकी रक्षक पुलिस का भरण-पोषण गृहस्थों से प्राप्त वेतन से किया जाना चाहिए।

2. राष्ट्रीय कर प्रणाली

स्थानीय के अतिरिक्त अन्य सभी कर इसमें शामिल है। इसमें दो कालों के प्रसंग में कर नीति को स्वीकार किया गया है। (1) सामान्यकालीन कर नीति (2) संकट कालीन नीति

सामान्यकालीन नीति :- सामान्य काल में शुक्र ने प्रजा की आर्थिक क्षमता को ध्यान में रखकर कर लगाने का निर्देश दिया है। उनका मत है कि शुल्क को इतनी मात्रा में लिया जाना चाहिए कि कर दाता की मूल पूंजी का अन्त नहीं हो। राजा को भाग के संग्रह में माली की प्रवृति का अनुकरण करना चाहिए। कर इस प्रकार लिया जाए कि राजा एवं प्रजा दोनों के हित में हो, अन्यायपूर्वक एवं अधर्म युक्त कर नहीं लिया जाना चाहिए, ऐसा करने पर राजा नष्ट हो जाता है। जो राजा अपने कोष में वृद्धि चाहता है, उसे प्रजा पालन का दायित्व अवश्य ही पूरा करना चाहिए।

संकट कालीन करनीति:- ऐसे काल में राजा को कर की मात्रा में वृद्धि करने तथा सामान्यत: कर मुक्त मदो पर भी कर लगाने का अधिकार होता है। इसीलिए शुक्र ने सामान्यकाल में तीर्थस्थान व देवस्थान को कर मुक्त माना है, किन्तु संकटकाल में नहीं।

II. कर मुक्ति :- शुक्र ने करारोपण के समान कर-मुक्ति की व्यवस्था को भी प्रजा के आर्थिक विकास की दृष्टि से स्वीकार किया है। घरेलू उपभोग हेतु खरीदे जाने वाले धान्य एवं वस्त्र, कुटुम्ब-पालन हेतु दुधारू पशु को पशु कर से मुक्ति।, व्यापार में हानि उठाने वाला सौदागर, तीर्थ स्नान व देव स्थान (सामान्यकाल में) नए उद्योग लगाने या नए कृषि कार्य में जब तक दुगुना लाभ-प्राप्त न हो जाए इस नीति से शुक्र की लोक कल्याणकारी नीति का ज्ञान प्राप्त होता है।

III. विभिन्न प्रकार के कर :-

1. **यह खेती की उपज पर लगाया जाने वाला कर है।** भाग की वसूली के लिए 3 प्रमुख आधारों का उल्लेख किया गया है - 1 कृषि भूमि का क्षेत्रफल 2. भूमि की प्रकृति 3. कृषि उपज पर किसान के लिए लाभ की मात्रा।

   शुक्र के अनुसार, किसी धनी की मदद से, ग्राम पाल नामक भृत्य की मदद से या मात्रहार नामक अधिकारी की मदद से भाग वसूल कर सकता है। शुक्र ने भारतीय परम्परा के अनुसार अनाज या नकद के रूप में कर लेने का उल्लेख किया है। जब किसान भाग जमा कराए तो उसे राजकीय मुद्रायुक्त भागपत्र (रसीद) दिया जाना चाहिए।

2. **शुल्क-** शुक्र के अनुसार राजा को उस क्रेता या विक्रेता से शुल्क प्राप्त करना चाहिए, जो आर्थिक लेन देन में लाभ की स्थिति में हो शुल्क की वसूली में छल कपट नहीं किया जाना चाहिए।

3. **आकर-कर :-** प्राचीन भारत में खनिज उत्पादन पर लगाए वाले कर को आकर कर कहा जाता था और इसे वस्तु के रूप में वसूला जाता था। शुक्र के अनुसार राजा उत्पादन पर होने वाले व्यय को काटकर, खान से उत्पन्न होने वाली एवं -स्वर्ण, रजत, तांबा आदि पर अलग-अलग दर से यह कर प्राप्त करता था। जितनी महंगी धातु, उतना ही अधिक आकर-कर था।

4. **तृण काष्ठादि पर कर:-**ईधन के लिए जंगल से लकडी एकत्रित करने वालों पर, यह कर वस्तु के रूप में लिया जाता था।

5. **पशु कर :-** प्राचीन भारत में पशु पालन प्रमुख व्यवसाय था, अत: इस पर कर लगाने की परम्परा भी थी। बकरी, भेड़, गाय, भैंस, आदि सभी पर लगाया जाता था। दर अलग-अलग थी।

6. **ब्याज दर :-** राजा को साहूकार की ब्याज का 32वां हिस्सा कर के रूप मे प्राप्त करने का अधिकार था।

7. **आवासीय एवं व्यावसायिक भूमि पर कर :-** इस भूमि पर कर की वही दर होनी चाहिए जो कृषि भूमि हेतु तय हो।

8. **यात्री कर :-** मनु ने जलमार्ग पर, जबकि शुक्र ने थलमार्ग पर कर का उल्लेख किया है। सड़को की रक्षा, मरम्मत तथा सफाई के लिए यात्रियों से रु लेने की व्यवस्था की गई है।

9. **दस्तकारों व कलाकारों पर कर :-** शुक्र के अनुसार कारीगरों व शिल्पियों से एक पक्ष में एक दिन (15 दिन में एक बार) निःशुल्क कार्य कराया जाना चाहिए।

कर व्यवस्था के सम्बन्ध में शुक्रनीति में प्रतिपादित किये गए निषेधात्मक एवं सकारात्मक नियमों के उपयुक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्रनीति में राज्य की कर व्यवस्था को 'लोक कल्याणकारी' राज्य की अपेक्षाओं के अनुरूप स्वरुप प्रदान किया गया।

बोध प्रश्न-8

प्रश्न: खेती की उपज तथा खनिज उत्पाद पर लगने वाले कर को क्या कहते है ?

उत्तर: ……

……

4.10 न्याय एवं न्यायपालिका

शुक्र ने न्याय कार्य के महत्व को स्वीकार करते हुए राजा के 8 कर्त्तव्यों में दुष्ट-निग्रह को शामिल किया है। यह न्यायिक प्रक्रिया प्रजा को धर्म पालन में मदद है। राजा का कर्त्तव्य है कि वह मुकदमों का उचित प्रकार से निर्णय करे और इस बारे में प्रजाजन से अपने निर्णय का पालन करवाए। शुक्र ने न्याय के अवधारणात्क पक्ष की विस्तृत व्याख्या नहीं की है, जैसी कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र और मनुस्मृति में उपलब्ध है। के संस्थागत और प्रक्रियात्मक पक्ष का

शुक्र ने विस्तृत विवरण दिया है। न्याय पालिका के संगठन, न्यायिक प्रक्रिया तथा मुकदमों से सम्बन्धित पक्षों के अधिकारों एवं दायित्वों का विस्तार से विवेचन किया है।

I. न्यायालयों का संगठन एवं क्षेत्राधिकार :-शुक्र द्वारा न्यायिक प्रक्रिया के अन्तर्गत राजा एवं सभा का उल्लेख किया गया है तथा विशेष प्रसंगों में सहायता करने के लिए 'जूरी' का भी उल्लेख किया गया है। शुक्रनीति में राजा को सम्पूर्ण न्याय व्यवस्था का (स्थानीय एवं साधारण मुकदमों के अतिरिक्त) प्रमुख निर्णायक अथवा सर्वोच्च अधिकारी माना गया है किन्तु यह स्पष्ट कर दिया गया है कि राजा न्यायपालिका का केवल औपचारिक अध्यक्ष है। शुक्र ने राजा से शास्त्रों के अनुरूप न्यायिक कार्यो को भली भांति देखने की अपेक्षा की गई है। राजा द्वारा अकेले ही सभा-सदों की सहमति लिए बिना, निर्णय लेने के गम्भीर दुष्परिणामों का भी उल्लेख किया है।

1. विभिन्न न्यायिक निकाय व प्राधिकारी :- (1) सभा - शुक्र ने राज्य के केन्द्रीय न्यायालय को सभा या न्याय सभा कहा है। सभा ऐसा स्थान है जहाँ व्यक्ति के लौकिक आचरण एवं हितों की जांच स्मृति के कानून के अनुसार की जाती है। शुक्र ने ऐसे दस साधनों का उल्लेख किया है, जिनकी मदद से सभा न्याय-कार्य को भली भांति में समर्थ होती है। ये दस साधन हैं-राजा, सभ्य, स्मृति, लेखपाल, लेखक, स्वर्ण, अग्नि, जल, अधिकारी तथा राजपुरूष।

शुक्र के अनुसार, सभा में प्रथम स्थान राजा का होता है, जो सभा का सभापतित्व करता है। राजा सभा में अपना प्रतिनिधि नियुक्त कर सकता है, जिसे शुक्र ने प्राड्विवाक कहा है, जो सभा के अलावा मन्त्रि परिषद का भी सदस्य होता है। शुक्र ने ब्राह्मण वर्ण को प्राथमिकता देने के साथ ही सभी जातियों से सभा के सदस्य बनाना स्वीकार किया है। अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने कहा है, " शुक्र ने सभासदों के सम्बन्ध में एक विशेष सिद्धान्त प्रदान किया है। जिन लोगों का विवाद हो उन्ही के व्यवसाय से सभासद बनाए जाए, जैसे- किसानों के विवाद में किसान क्योंकि वही अपने व्यवसाय के नियमों के विषय में अधिक अच्छी तरह जानते हैं।" शुक्रनीति का यह विवरण उसकी न्याय व्यवस्था को अधिक उदार तर्क संगत एवं यथार्थवादी बनाता है।

2. मुख्य न्यायाधीश :- राजा के बाद यही सर्वोच्च न्यायिक पदाधिकारी माना गया है। इस पद पर शुक्र के अनुसार ऐसा व्यक्ति नियुक्ति किया जाना चाहिए। जिसका विधि-शास्त्र का ज्ञान अत्यन्त व्यापक व विशेष हो तथा जिसकी निष्पक्षता व निष्ठा संदेह से परे हो।

3. न्यायालय का कार्मिक वर्ग व साधन :-न्यायालय को समुचित संख्या में कर्मचारी व साधन उपलब्ध होने चाहिए। अन्यथा न्यायालय अपना कार्य सुचारू रूप से नहीं कर सकते। अत: शुक्र का मत है कि वही न्यायसभा पवित्र होती है, जिसमें मुकदमें के निर्णय के लिए आवश्यक समस्त साधन उपलब्ध हो।

II. राजा एवं न्यायाधीशों के लिए आचार-संहिता :-

शुक्रनीति में न्यायाधीशों के मनमाने व्यवहार का निषेध किया गया है। उनके लिए कुछ नियमों की व्यवस्था की गई है। राजा को न्याय करने के अपने कर्त्तव्य का समुचित पालन करना चाहिए तथा न्याय करते हुए विभिन्न जातियों, श्रेणियों और कुलों की परम्पराओं को मानते हुए निर्णय करना चाहिए एवं धर्म का पालन करना चाहिए। सभा सदी को सभा में सत्य अवश्य कहना चाहिए। न्यायिक प्रक्रिया के समय राजा या न्यायाधीश को वादी के प्रति सम्मानपूर्वक आचरण करना चाहिए।

III. न्यायिक प्रक्रिया :-

(1) **व्यवहार :-** सरल शब्दों में व्यवहार का अर्थ है न्यायालय में चलने वाले मुकदमे की न्यायिक प्रक्रिया इस न्यायिक प्रक्रिया द्वारा ही यह मालूम होता है कि कौन व्यक्ति अपराधी है और कौन निरपराधी।

(2) **व्यवहार के चरण :-** शुक्र ने मुकदमे की न्यायिक प्रक्रिया के चार चरण स्वीकार किए है। (अ) पूर्व पक्ष (ब) प्रतिपक्ष (स) क्रिया (द) निर्णय।

किसी भी मुकदमे की शुरूआत पूर्वपक्ष के लिखित या मौखिक बयान से होती है कि मुकदमा बनता है या नहीं इसके बाद दूसरा चरण प्रतिपक्ष प्रारंभ होता है। अब न्यायलय वादी एवं प्रतिवादी दोनों से ही प्रश्न एवं प्रतिप्रश्न करता है। यदि न्यायालय यह अनुभव करता है कि वास्तव में कानून की दृष्टि से कोई मुकदमा बनता है, तो मुकदमा अपने तृतीय चरण अर्थात् क्रियापद में प्रवेश करता है। अन्यथा उसे द्वितीय पाद में समाप्त हो जाता है। क्रिया पाद के अन्तर्गत मुकदमे में प्रस्तुत विभिन्न प्रमाणों की कड़ी जांच की जाती है और मुकदमे में निहित सत्य व असत्य कौ जानकारी प्राप्त की जाती है। शुक्र ने सभी प्रमाणों के दो मूल प्रकार बताए है - (1) मनुष्य प्रमाण (2) दैवी प्रमाण।

शुक्र ने दैवी प्रमाण को मानुष प्रमाण से कम महत्वपूर्ण माना है और किसी भी प्रकार के मानुष प्रमाण के अभाव में दैवी प्रमाण को उचित बताया है। न्यायिक प्रक्रिया चौथा और अंतिम चरण निर्णय पाद है। शुक्र ने 6 प्रकार के निर्णय बताए है -

(1) प्रमाण (2) तर्कसिद्ध (3) अनुमान (4) सदाचार (5) शपथ

(6) राजाज्ञा (7) वादी की सहमति।

शुक्र के अनुसार निर्णय की घोषणा के साथ ही विजेता पक्ष को जय पत्र दिया जाना चाहिए। इसे एक कानूनी दस्तावेज के रूप में भी मान्यता प्रदान की है। न्यायालय में वादी एवं प्रतिवादी दोनों को ही उपस्थित होना चाहिए। शुक्र ने अपने पूर्ववर्तियों के विपरीत नई व्यवस्थाओं जैसे-पुनर्विचार (रिगे सम्मान, जमानत और नियोगी (वकील) का भी उल्लेख किया है। शुक्रके अनुसार नियोगी को कानून का ज्ञान होना चाहिए एवं उसे नियमानुसार ही शुल्क लेना चहिए।

बोध प्रश्न-9

प्रश्न: 'व्यवहार' का अर्थ बताइए ?

उत्तर: .....

.....

4.11 अपराध एंव दण्ड

शुक्र ने अपराध के दस प्रकारों का उल्लेख किया है- इनमें राजाज्ञा उल्लंघन, स्त्री की हत्या, चोरी करना आदि सम्मिलित है। वस्तुत. ये 10 अपराध राज्य, समाज, एवं धर्म के विरूद्ध अपराध है। शुक्र ने दण्डनीय अपराधों में 50 प्रकार के छलों का किया है। शुक्र ने इन्हें राजा के प्रति किए गये अपराध माना है।

I. अपराधों का वर्गीकरण :-

शुक्र ने सभी प्रकार के अपराधों को चार मूल वर्गो में बांटा है -

(1) कायिक (2) वाचिक (3) मानसिक (4) सांसारिक।

कायिक अपराध शरीर से, वाचिक अपराध वाणी से, मानसिक अपराध मन से एवं सांसारिक अपराध किसी के साथ मिलकर या सहयोग से किया जाता है।

शुक्र का मत है कि प्रत्येक अपराध की गुरूता एवं लघुता को जानकर ही अपराधी को दण्डित किया जाना चाहिए।

शुक्रनीति में अपराधों की श्रेणियों का विस्तृत वर्गीकरण किया गया है, जो अपराधों के विषय में शुक्रनीति के व्यवस्थित, व्यावहारिक व वैज्ञानिक दृष्टिकोण को व्यक्त करता है। शुक्रनीति में सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, राजनैतिक, व प्रशासनिक समस्त प्रकार के अपराधों को महत्व प्रदान करते हुए उनके प्रतिकार की अपेक्षा की गई है। शुक्रनीति में सामान्यत: प्राणदण्ड न देने का प्रावधान किया गया है तथा केवल राजद्रोह जैसे गम्भीर अपराध के लिए वध दण्ड प्रदान किए जाने के औचित्य का प्रतिपादन किया गया है।

II. दण्ड का अर्थ एवं महत्व :-

प्राचीन भारतीय परम्परा में 'दण्ड' शब्द के अनेक अर्थ है। यहां शुक्र ने दण्ड के दो अर्थ किए है-

(1) राजा की प्रमुख शक्ति

(2) राजा

यद्यपि अन्यत्र शुक्र ने दण्ड का अर्थ सेना, युद्ध एवं न्याय व्यवस्था को भी स्वीकार किया है, वास्तव में दण्ड जनता को बुरे आचरण से मुक्ति दिलाता हैं। राजा की दण्डयुकत नीति सभी कार्यो की सिद्धि कराती है और दण्ड धर्मो का परम रक्षक है।

III. दण्ड के प्रकार :-

शुक्र ने मनु व याज्ञवल्पय के समान ही न्यायिक प्रशासन या अपराध उन्मूलन के सन्दर्भ में दण्ड के अग्रलिखित चार प्रकार स्वीकार किए है -

(1) वाक्दण्ड

(2) धिक् दण्ड

(3) अर्थ दण्ड

(4) कार्य दण्ड

शुक्र के अनुसार केवल उत्तम पुरूष एवं मध्यम पुरूष को वाक्दण्ड या धिक्दण्ड दिया जाना उचित है, अधम पुरूषों पर इनका सुधारात्मक प्रभाव नहीं पड़ता है, अत: ये दण्ड इनके लिए नहीं है।

IV. अपराध और दण्ड :-

शुक्र ने अपराध व दण्ड के पारस्परिक सम्बन्ध को स्वीकार किया है। जो राजा अपराध व दण्ड के इस सम्बन्ध का ध्यान रखते हुए कार्य करता है, उससे प्रजा सन्तुष्ट रहती है। केवल अपराधी ही दण्डनीय है। निरपराधी सदैव अदण्डनीय है। दण्ड की मात्रा, अपराध के अनुसार ही होनी चाहिए। उसे मनमाने ढ़ग से दण्डित नहीं किया जा सकता। राजा को दण्ड देने में अत्यधिक कठोर नहीं होना चाहिए। शुक्र ने एक ही प्रकार के अपराध के लिऐ उत्तम, मध्यम, व अधम पुरूषों के लिए अलग-अलग दण्डों की व्यवस्था की है। जिससे शुक्र की दण्ड नीति का विषमता वादी पक्ष स्पष्ट होता है। परन्तु शुक्र ने ऐसे अपराधों का भी उल्लेख किया है, जिनमें दण्ड सबको समान दिया जाता है, जैसे-राजद्रोह। यह उल्लेखनीय है कि शुक्र ने मनु की में दण्ड के क्षेत्र में अधिक समतावादी व्यवस्था को अपनाया है। आधुनिक दण्ड सिद्धान्त की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि शुक्र ने प्रतिकारात्मक दण्ड सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया है परन्तु शुक्रनीति में अवरोधक, निरोधक और सुधारात्मक दण्ड सिद्धान्तों को अवश्य ही स्वीकार किया गया है।

4.12 पर राष्ट्र नीति

शुक्र ने प्राचीन भारतीय आचार्यो की परम्परा के अन्तर्गत ही 'परराष्ट्र सम्बन्धों अर्थात् अपने राज्य एवं अन्य राज्यों के आपसी सम्बन्धों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया, है। अध्ययन की दृष्टि से हम इन विचारों को दो प्रमुख भागों में विभाजित कर सकते है -

(1) सैद्धान्तिक पक्ष (2) व्यावहारिक पक्ष।

I. पर राष्ट्र सम्बन्धों का सैद्धान्तिक पक्ष :-

शुक्र ने कौटिल्य के समान मण्डल सिद्धान्त का उल्लेख नहीं. परन्तु चार प्रकार के राज्यों के अस्तित्व को स्वीकार किया है।

(1) स्वयं विजिगीषु राजा (विजय की इच्छा रखने वाला का राज्य (2) राज्य

(3) शत्रु राज्य (4) उदासीन राज्य।

शुक्र ने राज्यों के वर्गीकरण का आधार उनकी भौगोलिक को नहीं माना है अपितु विजिगीषु राजा एवं अन्य राज्यों के बीच उनके राजहित की स्थिति को माना है।

1. नीति के उपाय :-

शुक्र ने परराष्ट्र नीति के संचालन में राजहित एवं शक्ति तत्व को पर्याप्त महत्व दिया है। उनके अनुसार प्रत्येक राजा अपने राजहित को ही साध्य मानता है और विजिगीषु राजा अन्य राज्यों के सन्दर्भ में अपनी शक्ति के अनुसार नीति के उपायों एवं मंत्र के साधनों का कुशलतम प्रयोग करता हैं तो उसे सफलता मिलती है। शुक्र के अनुसार जिस प्रकार राजा द्वारा सर्प, हाथी तथा सिंह को अपने वश में किया जाता है, उसी प्रकार से को यथा योग्य उपायों से मित्र तथा

शत्रु को अपना वशवर्ती बनाना चाहिए। शुक्र ने नीति के चार परम्परागत उपायों का ही उल्लेख किया है -

(1) साम (2) दान (3) भेद (4) दण्ड।

साम नीति का प्रयोग, मित्र व शत्रु दोनों के विरूद्ध ही किया जा सकता है। शांति व मैत्री की नीति से जहां मित्रता अधिक मजबूत होती है। वहीं शत्रु राजा के प्रति भी सहायता व सहयोग निश्चित होता है। शत्रु के प्रति सामनीति का प्रयोग दोनों राज्यों की आपसी सुरक्षा में अभिवृद्धि करना है।

दान नीति का प्रयोग भी शत्रु व मित्र दोनों के प्रति किया जाता है। मित्र राजा से यह कहना कि मेरी सभी वस्तुएँ- यहाँ तक कि जीवन भी तुम्हारा है, मित्र के प्रति दान। कहलाती हैं। शत्रु राजा को प्रत्यक्ष धन देना उसके प्रति दान नीति कहलाती है।

भेद नीति के प्रयोग को शुक्र ने मित्र के विरूद्ध अनुचित माना है, किन्तु कुछ स्थितियों में उचित भी माना है। शत्रु राजा के प्रति तीन प्रकार से भेद नीति का प्रयोग किया जा सकता है -

(1) शत्रु राजा को सहायकों व साधनो की दृष्टि से कमजोर करना (2) शत्रु के विरूद्ध अन्य शक्तिशाली राजा का आश्रय लेना (3) शत्रु से हीन बल वाले राजा का साथ देकर उसे शक्तिशाली बना देना। इसमें अतिरिक्त भेद के द्वारा शत्रु राजा व उसकी राजभक्त प्रजा के मध्य मतभेद उत्पन्न कराए जा सकते है।

दण्डनीति का प्रयोग भी मित्र व शत्रु दोनों के विरूद्ध किया जा सकता हैं। मित्र राजा को यह चेतावनी देना कि वह यदि मनमाना व्यवहार करेगा तो मैं तुम्हारा मित्र नहीं रहूँगा- दण्ड नीति है। जबकि शत्रु राजा के दोष प्रकट करना, धन नष्ट करना, युद्ध में कष्ट देना उसके प्रति दण्ड नीति है। यद्यापि शुक्र द्वारा मित्र राजाओं के प्रति भेद व दण्ड नीति को अनैतिक कहा जा सकता है, लेकिन यह उनकी यथार्थवादी नीति है। शुक्र के अनुसार राजा को पर्याप्त सोच-विचार कर ही इन चारों नीति उपायों का प्रयोग करना चाहिए। शुक्र ने अत्यन्त प्रबल शत्रु के लिए साम और दान का, अपने से अधिक बलवान के लिए साम और भेद का, अपने बराबर शक्ति वाले के लिए भेद और दण्ड का प्रयोग उचित माना है।

II. षड्गुण नीति :-

इसका अर्थ है - 6 गुण वाली विशिष्ट धारणा। यद्यपि कौटिल्य के समान शुक्र ने इन गुणों का विस्तार से विवेचन नहीं किया है। इसके 6 गुण निम्नलिखित हैं-

(1) सन्धि :- शुक्र ने सन्धि को ऐसा साधन माना है, जिसके द्वारा शक्तिशाली शत्रु से हीनबल राजा की मित्रता होती है अर्थात् हीनबल राजा को सुरक्षा प्राप्त होती है। सन्धि के महत्व को रेखांकित करते हुए कहा है, "जिस प्रकार से घने कांटो से घिरे हुए दासों के समूह को कोई काट या उखाड़ नहीं सकता है, उसी प्रकार से स्तेच्छों से भी सन्धि किए हुए राजा को भी, कोई पराजित नहीं कर सकता।" शुक्र एकमात्र ऐसे प्राचीन आचार्य है, जो अपने हित की पूर्ति के लिए अनार्य राजा से भी सन्धि को भी उचित मानते है।

(2) विग्रह :- विग्रह का अर्थ है - राजाओं के मध्य शान्ति व सहयोग की नीति का अन्त एवं तनाव व संघर्ष का आरम्भ। जिस कार्य द्वारा शत्रु को पीडित किया जाए और अधीन किया जाए, उसे विग्रह कहते है। वस्तुत: विग्रह ऐसी नीति है, जिसके द्वारा शक्तिशाली राजा, निर्बल राजा को पीड़ित करके, उसे बिना प्रत्यक्ष युद्ध के ही, अपने अनुसार चलने को विवश करता है।

यही कारण है कि बुद्धिमान राजा को सन्धि से बंधे हुए शत्रु का भी विश्वास नहीं करना चाहिए। इन्द्र द्वारा वृत्रासुर-वध का उदाहरण देते हुए शुक्र ने कहा है कि इन्द्र ने द्रोह न करने की प्रतिज्ञा के साथ सन्धि करके भी ऐसा किया था। किन्तु शुक्र ने बलवान शत्रु से विग्रह का निषेध किया है। केवल रक्षा के लिए कोई विकल्प शेष न होने पर ही अन्त में विग्रह को शुक्र ने उचित माना है।

(3) यान - जब अपने इच्छित हित की प्राप्ति के लिए शत्रु राजा का नाश आवश्यक होता है और इस उदेश्य से उस पर आक्रमण किया जाता है, तब इसे यान कहते है। यान का नकारात्मक उद्देश्य है, शत्रु का नाश करना। किन्तु सकारात्मक उदेश्य है, आर्थिक सैनिक, व राजनीतिक लाभ की प्राप्ति। केवल शक्तिशाली राजा को निर्बल राजा के विरूद्ध ही यान का प्रयोग करना चाहिए।

(4) आसन - जहां अन्य आचार्यो ने आसन का अर्थ -शत्रु राजा के प्रति उपेक्षा तटस्थता एवं निष्क्रियता की नीति माना है। शुक्र ने इसे शत्रु राजा के किले या नगर की ऐसी सैनिक घेराबंदी माना है, जो स्वयं की रक्षा करते हुए शत्रु को अपनी शर्तो पर सम्पर्क के लिए विवश करे। आसन द्वारा शत्रु राजा की रसद पंक्ति नष्ट कर दी जाती है। युद्ध सामग्री एवं भोजन सामग्री ईधन आदि की कमी होने पर शत्रु पक्ष में आन्तरिक असंतोष उत्पन्न होता है। और तब वह शत्रु राजा विवश होकर अधीनता स्वीकार कर लेता है।

(5) आश्रय :- जब किसी शक्तिशाली शत्रु राजा द्वारा निर्बल का राज्य नष्ट कर दिया जाये अथवा ऐसी पराजय का संकट आ जाये तो निर्बल राजा को अपनी रक्षा के लिए किसी अन्य शक्तिशाली राजा का आश्रय लेना चाहिए, जिससे उसकी शक्ति मे वृद्धि हो सके।

(6) द्वैधी भाव :- इसका शाब्दिक अर्थ है एक ही समय में दो भावों का पाया जाना जो प्रकट रूप में दिखाया जाता है। गुप्त रूप में उससे ठीक विपरीत आचरण किया जाता है। प्रकट रूप में मित्रता एवं गुप्त रूप में शत्रुता इसकी विशेषता है। सेना के संचालन में भी द्वैधी भाव का शुक्र ने उल्लेख किया है। सेना को अनेक टुकडियों में बांटकर शत्रु को प्रकट कप में अपने सैनिक बल के बारे में रखना द्वैधी भाव है।

II. पर-राष्ट्र सम्बन्धों का व्यावहारिक पक्ष :-

शुक्र ने व्यावहारिक संचालन की दृष्टि से चार प्रमुख संस्थागत ' का उल्लेख किया है।

(1) दूत (2) गुपाचर (3) सेना (4) युद्ध।

1. दूत :- दूत को शुक्र ने मंत्रिपरिषद के 10 सदस्यों में भी स्थान दिया है। वह कूटनीति एवं विदेशनीति से सम्बन्धित कार्यो को करता है। वह राजा का ऐसा प्रतिनिधि है जो अन्य राजाओं से संवाद स्थापित करता है। अत: उसे देश व काल की स्थिति वाला भाषण कला में कुशल, अन्य की हृदयागत भावना समझने वाला एवं निर्भीक स्वभाव, होना चाहिए।

2. गुप्तचर :- शुक्रनीति में अर्थशास्त्र के समान गुप्तचर की व्यवस्था, व्यापक उल्लेख नहीं किया गया है। गुप्तचर के प्रकारों के विषय में भी शुक्रनीति मौन है, प्रशासन बाहय एवं आन्तरिक शत्रुओं से राजा एवं राज्य की रक्षा का प्रमुख साधन है। गुप्तचर का कार्य है- राजा के शत्रु सेवकों वं प्रजा के व्यवहार को जानना व उसकी जानकारी राजा को। राजा को भी उसकी सत्यता की परीक्षा करते रहना चाहिए तथा असत्यवादी गुपाचर को दण्डित करना चाहिए।

3. सेना :- शुक्र के अनुसार सेना व्यक्तियों, पशुओं आदि का समूह है, जो अस्त्र, शस्त्र से सुसज्जित होती है। सेना के कारण ही शत्रु का नाश सम्भव होता है तथा कोष, राज्य व पराक्रम की वृद्धि होती है। शुक्र ने सैनिक अनुशासन व आचारसंहिता पर भी विचार किया है। राजा को सदैव ऐसे प्रयत्न करने चाहिए कि उसकी सेना में भेद उत्पन्न न हो जबकि शत्रु सेना में अवश्य ही भेद उत्पन्न हो। युद्ध में विजय प्राप्त होने पर सैनिकों को भी लाभ मिलना चाहिए और उन्हें लूट के माल में भागीदार बनाकर संतुष्ट रखना चाहिए।

4. युद्ध :- शुक्र ने बाहय चुनौतियों से रक्षा के लिए और अपने राज्य के विस्तार के लिए युद्ध की आवश्यकता को स्वीकार किया है। सभी राजा राज्य विस्तार की कामला रखते है। इसलिए परस्पर शत्रुता भी रखते है। शुक्र के अनुसार जब नीति के विभिन्न उपाय एवं षड्गुण मंत्र से भी सफलता नहीं मिले, तब अन्तिम साधन के रूप में युद्ध को अपनाना चाहिए। शुक्रनीति प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में संभवत: एक मात्र ग्रन्थ है, जिसमें युद्ध को परिभाषित किया गया है। शुक्र के अनुसार, परस्पर शत्रु भाव रखते हुए दो राजाओं का अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग करना युद्ध है। शुक्र ने युद्ध में नैतिक नियमों के पालन एवं उल्लंघन के आधार पर, दो प्रकार के युद्ध का उल्लेख किया गया है। धर्म युद्ध, एवं कूटयुद्ध। शुक्र ने धर्म-युद्ध के नैतिक नियमों का विवरण दिया है। किन्तु उन्होंने मनु की तरह कूटयुद्ध पर धर्म युद्ध की श्रेष्ठता युद्ध का समर्थन नहीं किया है। शुक्र का स्पष्ट मत है कि धर्म युद्ध या कूट युद्ध जिसमें शत्रु का विनाश हो वही उचित है। वास्तव में शुक्र ने यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए धर्म युद्ध पर कूट युद्ध को वरीयता दी है। शुक्र ने युद्ध को पापपूर्ण एवं जधन्य कृत्य नहीं माना, अपितु उल्लेख किया है कि युद्ध में मरने पर क्षत्रिय को उत्तम फल की प्राप्ति होती है। क्षत्रिय के लिए युद्ध को पवित्र कर्त्तव्य मानने का आग्रह शुक्र की इस अपेक्षा को व्यक्त करता है कि वह अवसर आने पर युद्ध से पलायन न करें।

5. पराजित पक्ष के प्रति व्यवहार:- शुक्र ने युद्ध में विजय के बाद विजयी राजा को विजित राज्य व उसकी प्रजा के प्रति दुर्भावनापूर्ण कार्यवाही न करने का परामर्श दिया है। उन्होंने विजयी राजा को विजित राज्य की प्रजा को प्रसन्न रखने का निर्देश दिया है। शुक्र ने विजयी राजा से अपेक्षा की है कि वह शत्रु को जीतकर योग्यतानुसार उससे कर ग्रहण करे, परिस्थिति के अनुसार शत्रु के राज्य के आधे अंश या सम्पूर्ण राज्य पर अपना आधिपत्य कर ले।

उसके पश्चात् शत्रु की प्रजा को हर प्रकार से प्रसन्न रखे तथा अपनी प्रजा की भांति ही उसका पालन करे। शुक्र ने राजा को यह परामर्श भी दिया है कि वह विजित राज्य में कार्यरत मन्त्रि परिषद को हटाकर अपने प्रति निष्ठा रखने वाले नवीन मन्त्रि परिषद की नियुक्ति कर दे। यदि वह पराजित राजा का राज्य छीन ले तो उसे, जागीर आदि जीविका के लिए प्रदान करे।

विजेता राजा को जीते गए राज्य में स्वेच्छाचारी ढंग से शासन नहीं करना चाहिए। उसकी पुत्रवत् रक्षा करते हुए उसे प्रसन्न रखा जाना चाहिए और उसे अपना बना लेना चाहिए। वस्तुत: शुक्र के इस विवरण में यह भाव निहित है कि पराजित राज्य की प्रजा एवं समाज के धार्मिक नैतिक व सामाजिक मूल्यों की रक्षा की जानी चाहिए और प्रजा का पालन भी किया जाना चाहिए।

बोध प्रश्न-10

प्रश्न : नीति के चार उपाय कौन से है ?

उत्तर: .....

.....

4.13 शुक्र का महत्व व मूल्यांकन

मनु मूलत : धर्मशास्त्रीय विचारक है, कौटिल्य अ र्थशास्त्रीय विचारक है। जबकि शुक्र राजनीतिक विचारक है इसीलिए प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में उनका विशिष्ट स्थान व महत्व है। अल्टेकर का मत है, "शुक्रनीति में प्रशासनिक महत्व की ऐसी अनेक सूचनाऐं मिलती है, जो अ र्थशास्त्र सहित अन्य किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है। यह सत्य है कि शुक्र ने राज्य के सैद्धान्तिक पक्षों की विस्तार से विवेचना नहीं की है, परन्तु प्राचीन भारत में व्यावहारिक पक्ष पर ही प्रकाश डालने की परम्परा थी। अध्ययन की सुविधा के लिए शुक्र के योगदान को निम्नलिखित बिन्दुओं के रूप में समझा जा सकता है -

(1) दण्डनीति को सर्वप्रमुख विद्या के रूप में मान्यता

शुक्र ने दण्डनीति शास्त्रीय औशनस सम्प्रदाय का अनुकरण करते हुए सैद्धान्तिक एवं धर्म शास्त्रीय ज्ञान पर व्यावहारिक व लौकिक ज्ञान की श्रेष्ठता को प्रतिपादित किया है। दण्डनीति के प्रयोग से राजा को सभी फलों की सिद्धि होती है, यहां तक कि वह सतयुग की स्थापना भी कर सकता है

(2) उदार एवं व्यावहारिक सामाजिक -राजनीतिक व्यवस्था का प्रतिपादन

शुक्र ने समाज -संगठन के आधार के रूप में वर्ण व्यवस्था को मान्यता दी है। किन्तु उन्होंने कर्मानुसार वर्ण व्यवस्था की धारणा का समर्थन किया है। इस प्रकार शुक्र जन्म पर आधारित वर्ण व्यवस्था में निहित स्वार्थ एवं अयोग्यता की उपेक्षा करने की कोशिश की और कर्म, योग्यता व प्रतिभा के आधार पर वर्ण व्यवस्था के पुन: निर्माण का विचार दिया है। एवं जाति का महत्व विवाह एवं भोजन सामुदायिक जीवन में होता है। राष्ट्र प्रशासन जैसे सार्वजप्तिक व राजनीतिक कार्य में वर्ण एवं जाति की तुलना में कर्मशील व गुण पर आधारित योग्यता व का ही महत्व होता है। मनु की तुलना में शुक्र के विचार पर्याप्त उदार हैं और उस परिवर्तन की ओर संकेत करते है जो उनके युग में जन्म ले रहा था।

(3) राज्य का सावयव सिद्धान्त

भारतीय परम्परा का अनुकरण करते हुए 'सप्तांग राज्य' की धारणा स्वीकारा है। उन्होंने राज्य के सातों अंगों की तुलना मानव शरीर के अंगो से की है। शुक्र ने प को वृक्ष की भी उपमा दी है, राज्य जैसी अमूर्त रचना को स्पष्ट करने की दृष्टि से शुक्र का यह महत्वपूर्ण है।

(4) राज्यों का वर्गीकरण

शुक्रनीतिसार ऐसा एकमात्र प्राचीन भारतीय ग्रन्थ है, जिसने एक सुनिश्चित आधार पर राजतन्त्रीय राज्य के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख किया है। यह प्राचीन भारत की राजतन्त्रात्मक साम्राज्यवादी शासन प्रणाली की ओर भी संकेत देता है।

(5) राजपद पर यथार्थवादी ढंग से विचार

शुक्र ने मनु के समान राजा को नर देव नहीं माना है। शुक्र का मत है कि राजपद की समस्त गरिमा के उपरान्त भी राजा मूलत: प्रजा का सेवक ही होता है इसी रूप में उसे कर प्राप्त करने का अधिकार दिया है। शुक्र ने प्रजा पालन को राजा का कर्तव्य माना है।

(6) प्राचीन मन्त्रि परिषद का विकस

शुक्रनीति ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें स्पष्ट रूप से मन्त्रियों के क्रम, उनके वेतन में अन्तर, कार्यालय आदि को प्रकट किया गया है। शुक्र ने ही सर्वप्रथम मन्त्रि परिषद की विभागीय पद्धति मन्त्रियों के विभाग परिवर्तन, मन्त्रालयों के संगठन आदि का किया है। शुक्र ने ही सर्वप्रथम मन्त्रि परिषद की सुनिश्चित एवं लिखित कार्यप्रणाली का भी उल्लेख किया है।

(7) कोष, अर्थ-व्यवस्था एवं प्रजाहितकारी राज्य

यह उल्लेखनीय है कि काल-सापेक्ष, आदर्श कोश की धारणा का उल्लेख केवल शुक्र ने ही किया है। यह कोश इतना संपन्न होना चाहिए कि कर जमा न होने पर भी 20 वर्ष तक प्रजा व सेना की रक्षा करने में समर्थ हो। शुक्र एकमात्र ऐसे राजशास्त्री है, जिन्होंने राज्य की आय-व्यय की वार्षिक योजना का उल्लेख किया है। मनु, कौटिल्य आदि आचार्यो की में शुक्र का व्यय विवरण अधिक स्पष्ट, निश्चित एवं नियमबद्ध है। शुक्र ने अपने व्यय के विवरण मे, जन कल्याण एवं समाज कल्याण पर भी बल दिया है।

(8) विकसित प्रशासनिक व्यवस्था का विवरण

शुक्र की प्रशासनिक व्यवस्था मनुस्मृति की तुलना में पर्याप्त जटिल एवं विकसित है। इसमें लिखित कार्यालय पद्धति, राजसेवकों की आचार संहिता न्यूनतम एवं अधिकतम वेतन के सिद्धान्त आदि का भी उल्लेख किया गया है। शुक्र ने कार्मिकों की सेवा अवधि, पदोन्नति पदअवनति प्रशिक्षण, गणवेश आदि के नियमों का भी उल्लेख किया है। शुक्र ने की इस कार्मिक व्यवस्था के अन्तर्गत कुछ ऐसी व्यवस्थाओं का भी उल्लेख किया है, जो आधुनिक प्रशासनिक व्यवस्थाओं के पर्याप्त निकट प्रतीत होती हैं। उन्होनें सामान्य विश्राम, अवकाश, स्वास्थ्य अवकाश, पेंशन सहित सेवानिवृति, पारिवारिक पेंशन, भविष्य निधि, बोनस आदि का भी उल्लेख किया है।

(9) न्याय प्रशासन का श्रेष्ठ विवरण

यद्यपि शुक्र ने न्याय प्रशासन में धर्मशास्त्रीय परम्परा का अनुकरण किया है, किन्तु इसके साथ ही उन्होनें न्याय प्रशासन में कुछ नए तत्वों का उल्लेख किया है। न्याय सभा के लिए सदस्यता में केवल ब्राह्मण वर्ण की अनिवार्यता नहीं, जूरी प्रणाली, सम्मन, जमानत, अपील एवं पुन: विचार, नियोगी (वकील) आदि इसमें सम्मिलित है।

(10) पर-राष्ट्र सम्बन्धों की सैद्धान्तिक एवं यथार्थवादी विवेचना

जहां इस क्षेत्र में मनु आदर्शवादी अधिक हैं, वही शुक्र ने यथार्थवादी सम्बन्धों का प्रमुख आधार ही राज्यों की आपसी अविश्वसनीयता को स्वीकार किया है। उन्होंने राजहित एवं शक्ति के तत्वों को ही विदेश नीति के संचालन में प्रमुख स्थान दिया है, जो आधुनिक काल के समान है। यद्यपि शुक्र ने पराजित राजा एवं पराजित प्रदेश के आदर्शवादी पक्ष का समर्थन किया है। किन्तु ऐसे व्यवहार का अन्तिम उद्देश्य यथार्थवादी ही है। ऐसी नीति पराजित पक्ष पर विजेता राजा की विजय को स्थायित्व प्रदान करती है।

(11) शुक्र ने राज्य एवं राष्ट्र के मध्य भेद को स्पष्ट किया है तथा यह स्पष्ट किया है कि राष्ट्र सम्प्रदाय का नियंत्रण ही उसे राज्य का स्वरूप प्रदान करता है। इस प्रकार शुक्र ने अपने युग की राजतंत्रात्मक शासन प्रणाली के अन्तर्गत पाए जाने वाली राजनीतिक व्यवस्था का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। बेनी प्रसाद का मत है कि शुक्रनीतिसार प्राचीन हिन्दू समाजिक व राजनीतिक परम्परा में लिखा गया ऐसा अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसने सभी विषयों को स्पर्श किया है और उन्हें संवारा व समृद्ध भी किया है। अल्टेकर के अनुसार "प्राचीन भारतीय राजनीति के अध्ययनकर्ताओं के लिए यह अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके साथ ही भारतीय चिन्तन परम्परा में उनका विशिष्ट स्थान है।"

4.13 सारांश

शुक्र ने राज्य व शासन पर अपने ग्रन्थ शुक्रनीतिसार की रचना की, जिसमें 2200 श्लोक है एवं 4 मूल अध्याय हैं। के0पी० जायसवाल के अनुसार यह 8वीं शताब्दी की रचना है। शुक्रनीति में दण्डनीति (राजनीति) को श्रेष्ठ विद्या बताया गया है। शुक्र ने राजा को देवांश से निर्मित माना है, लेकिन उसके दैवी अधिकारों को स्वीकार नहीं किया है। शुक्र राज्य को स्वाभाविक एवं अनिवार्य मानता है तथा शुक्र ने भारतीय चिन्तन परम्परा के समान ही राज्य के सप्तांग सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। शुक्रनीति में राज्य के व्यापक कार्यक्षेत्र का प्रतिपादन किया गया है तथा राज्य को जनता के कल्याण का साधन स्वीकार किया गया है। राजा निरंकुश नहीं है, उस पर नियंत्रण के कई साधन शुक्रनीति में दिये गये हैं। यद्यपि शुक्र ने स्वेच्छाचारी राजा की पदमुक्ति का समर्थन किया है, परन्तु निरकुंश राजा के वध का नहीं। शुक्र के अनुसार, मन्त्रि परिषद में 10 सदस्य होने चाहिए। शुक्र ने प्रशासन एवं कार्मिक व्यवस्था के विभिन्न नियमों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है, जिसमें जनता, राज्य एवं कर्मचारियों के हित को आधार बनाया गया है। शुक्र ने मनु के विपरीत समाज व्यवस्था के क्षेत्र में उदार दृष्टि का परिचय देते हुए जातियों के निर्माण का आधार, व्यवसाय माना है और राजकीय सेवा में नियुक्ति का आधार वर्ण एवं जाति नहीं वरन् कर्मशील, एवं गुणों को स्वीकार किया है। शुक्र की कर नीति का आधार भी जनता का कल्याण है, जनता से अनैतिक कर वसूली को अनुचित माना गया है। शुक्र ने न्यायपालिका के संगठन एवं न्यायिक प्रक्रिया का व्यापक वर्णन किया है, जो आधुनिक एवं प्रासंगिक प्रतीत होता है। कायिक, वाचिक, मानसिक, सांसर्गिक अपराध के चार प्रकार एवं दण्ड के चार प्रकार-वाक् दण्ड, धिक् दण्ड,अर्थ दण्ड व कायिक दण्ड का भी

शुक्रनीति में उल्लेख किया गया है, जिससे स्पष्ट होता है कि शुक्र ने दैवी के स्थान पर अपराध एवं दण्ड के लौकिक स्वरूप को ही स्वीकार किया है। परराष्ट्र नीति के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों पक्षों का व्यापक विवेचन शुक्र ने किया है। भारतीय चिन्तन परम्परा के अनुरूप नीति के चार उपायों व षड्गुणनीति का उल्लेख किया है तथा विदेशनीति के व्यावहारिक पक्षों- दूत, गुप्तचर, सेना व युद्ध का भी विवरण प्रस्तुत किया है। यद्यपि परराष्ट्रनीति के क्षेत्र में शुक्र ने यथार्थवादी नीति अपनाई है परन्तु युद्ध को अन्तिम विकल्प स्वीकारना तथा पराजित पक्ष के प्रति नियमों का विवरण, शुक्र की नैतिक नीति को स्पष्ट करते हैं। शुक्र का कार्मिक प्रशासन, परराष्ट्रनीति, राजा को दिए गए निर्देश यथार्थवादी, आधुनिक एवं प्रासंगिक प्रतीत होते है।। यही कारण है कि शुक्र का भारतीय चिन्तन में विशिष्ट स्थान है।

4.15 अभ्यास प्रश्न

1. राज्य की उत्पत्ति, उद्देश्य एवं कार्य क्षेत्र के बारे में शुक्र के विचारों की विवेचना कीजिए।
2. शुक्रनीतिसार में वर्णित मन्त्रिपरिषद सम्बन्धी विचारों पर प्रकाश डालिए।
3. न्यायपालिका एवं न्यायिक प्रक्रिया के बारे में शुक्र के विचारों को कीजिए।
4. शुक्र द्वारा वर्णित प्रशासन की कार्मिक व्यवस्था अथवा राजकीय के प्रमुख नियमों पर प्रकाश डालिए।
5. परराष्ट्र सम्बन्धों के संचालन के विषय में शुक्र के विचारों का उल्लेख करते हुए, आधुनिक संदर्भ में उनकी **संदर्भ** प्रासांगिकता को स्पष्ट कीजिए।

4.16 ग्रन्थ सूची

1. एन.सी. बन्धोपाध्याय : हिन्दू पोलिटी एण्ड पोलिटीकल थ्योरिज प्रिंट पब्लिशरस जयपुर, 1989
2. पी.वी. काने : हिस्ट्री ऑफ अर्थशास्त्रा, वो.1,भण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इनस्टीट्यूट, पूना, 1968
3. यूएन. घोषाल : ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन पोलिटीकल आइडियाज, ऑक्सफोर्ड, 1966

इकाई-5

सामाजिक-सांस्कृतिक पुनरूत्थान एवं राष्ट्रवाद

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 भारत में सामाजिक-सांस्कृतिक पुरूत्थान

5.2.1 ब्रह्म समाज तथा आर्य समाज

5.2.2 18वीं-19वीं सदी के भारतीय समाज का स्वरूप

5.2.3 भारतवर्ष की सामाजिक दुर्दशा

5.2.3 अंग्रेजी शासकों का तत्कालीन भारतीय सामाजिक-राजनीतिक जीवन को योगदान

5.3 भारत में राष्ट्रवाद का आविर्भाव

5.4 आधुनिक एवं स्वतंत्र भारत में उदार

5.4.1 महात्मा गाँधी

5.4.2 जवाहरलाल नेहरू

5.5 सामाजिक-सांस्कृतिक पुनरूत्थान एवं उदार राष्ट्रवाद की पारस्परिकताएँ

5.6 सारांश

5.7 उद्देश्य

5.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान पायेंगे-

- सामाजिक-सांस्कृतिक पुनरुत्थान का अर्थ एवं रूप-प्रकार
- पुनरूत्थान की पृष्ठभूमि में भारतीय राष्ट्रवाद का आविर्भाव
- आधुनिक एवं स्वतंत्र भारत में उदार राष्ट्रवाद का उदय एवं प्रसार, और
- भारत में विद्यमान पुनरूत्थान की धाराओं तथा उदार राष्ट्रवाद की परस्परिकताएँ।

5.1 प्रस्तावना

भारत में सामाजिक-सांस्कृतिक पुनरूत्थान राष्ट्रवाद का एक प्रबल आधार रहा है। सामाजिक-सांस्कृतिक पुनस्थत्थान से क्या आशय है? उसका राष्ट्रवादी संकल्पनाओं के विकास-क्रम में क्या अवदान रहा है 'उक्त दोनों संदर्भो में विशिष्ट वैचारिक प्रतिपादन किसके हैं और क्या हैं?उनका भारतीय वैचारिक विकास पर क्या प्रभाव अंकित हुआ ये और इससे सम्बन्धित अन्य प्रसंग इस इकाई की विषय-वस्तु की रचना करते हैं।

इस इकाई में विशेषत: राजा राममोहन रॉय, दयानन्द, महात्मा गाँधी तथा जवाहरलाल नेहरू के विचारों का समावेश किया गया है। यह इकाई पुनरुत्थान तथा राष्ट्रवाद की पारस्परिकताओ के संधान को भी समर्पित है।

5.2 भारत में सामाजिक-सांस्कृतिक पुरूत्थान (Social Cultural Revival In India)

इस पाठ्यक्रम का मूल उद्देश्य भारतीय समाज में 18वीं-19वीं सदियों में अवतरित हुए सामाजिक सास्कृतिक एवं धार्मिक विचारों के प्रतिपादकों के उन प्रयासों एव विचारों का अध्ययन किया जायेगा जो उदार सुधारवादी विचारों के स्थान पर प्राचीन / काल के मूल्यों के आधार पर नये भारतीय समाज की रचना करना चाहते थे। ये विचारक। भी भारतीय समाज में सामाजिक-सांस्कृतिक सुधारों के पक्षपाती थे किन्तु उनके विचारों और कार्यकर्मों की प्रेरणा वे भारतीय समाज के वैदिक आदर्शो से लेते थे। वे उन प्राचीन, सनातन -सांस्कृतिक आदर्शो की पुनरावृत्ति करते हुए, उन आदर्शो / मूल्योंके अनुरूप भारतीय समाज पुनरूत्थान करने के पक्षपाती थे। उनका लक्ष्य भारत वर्ष के प्राचीन इतिहास की जड़ों तथा प्राचीन, हिन्दूवाद के सिद्धांतों और व्यवहारों का पुन: उत्थान करना था; वे भावी भारत को भूतकाल के आदर्शोके अनुरूप ढालने के पक्षपाती थे। यही भारत के पुनर्जन्म (rebirth) और पुनरूत्थान (revival) को आदर्शो का सैद्धान्तिक अन्तर है।

भारतीय पुनरूत्थान (revival) की धारणा को हम ऐतिहासिक उदाहरण के रूप में इन शब्दों में भी स्पष्ट कर सकते हैं:

भारतीय पुनरूत्थानवादी (revivalist) विचारक भी रोमन धर्म देवता (janus) "जेनस" जैसे देवता के समान थे जिसके दो मुँह हैं (द्विमुखी) हैं जिसका एक मुँह हिन्दुओं के भूतकाल के स्वर्णयुग की ओर है तथा जो अपने दूसरे मुँह को आगे की ओर इस आशा के साथ हैं कि भूतकाल के भारत की सामाजिक संस्थाओं, उस काल के धार्मिक विश्वासों तथा उस की राजनीतिक क्रियाओं को भावी भारत में पुन: स्थापित किया जायेगा। संक्षेप में, 18वीं- 19वीं सदी के इन समाज सुधारकों (social reformers) को हम पुनरूत्थानवादी (ravivalist) कहते हैं। दग्रीनन्द सरस्वती तथा विवेकानन्द को सामाजिक-सांस्कृतिक पुनरूत्थान का जनक माना जाता है।

इसकी तुलना में 18वी-19वीं सदी के भारतीय सामाजिक सुधारक (social reformers) यह स्वीकार करने में हिचकिचाहट नहीं करते कि कोई विचार पश्चिमी जगत का है अथवा प्राचीन भारत का; उनका दृष्टिकोण विवेकसंगत और भविष्य की ओर देखने वाला तथा समाज के विकास का समर्थक था। राजा राममोहन राय समाज सुधारकों की श्रेणी के अग्रज विचारक़ थे।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि 18वीं-19वीं सदियों में भारतीय समाज का जैसा आधुनिक स्वरूप विकसित हो रहा था, उस काल के सुधारकों / विचारकों के पुननिर्माण के दो भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण थे : पहले वर्ग के विचारकों का उद्देश्य भारत को की सड़ी-गली

सामाजिक धार्मिक एवं सांस्कृतिक कुप्रथाओं से निकाल कर हिन्दू समाज को मार्ग से आधुनिकता के मार्ग की ओर, नवीनता की ओर, अग्रसर करना था। इन्हें उदार "समाज सुधारक" कहते हैं। ये वो विचारक हैं जिन्होंने 18-19वीं सदी के भारत के लोगो की स्वतंत्रता, उनकी विवेकशीलता को प्रधानता देकर उसे वैज्ञानिक जीवन-दृष्टिकोण किया था; इन्होंने 18वीं शताब्दी के धार्मिक-नैतिक अनाचार तथा अज्ञान जैसी बुराइयों को दूर का बीड़ा उठाया था। राजा राममोहनराय भारतवर्ष के प्रथम महापुरूष थे जिन्होंने तत्कालीन, हिन्दू समाज की कुप्रथाओं के विरूद्ध विवेकपूर्ण सामाजिक सुधारों का श्रीगणेश किया था और उन्नीसवीं सदी के भारतवर्ष को आधुनिकता के मार्ग पर अग्रसर किया था। वे अभिनव एवं नव जागरणशील भारत के प्रथम पथ प्रदर्शक "समाज सुधारक (social refornar)" थे।

इसकी तुलना में 19वीं सदी के प्रारम्भिक काल में स्वामी दयानन्द सरस्वती (1824 - 1883) तथा इसी सदी के मध्यकाल के बाद स्वामी विवेकानन्द (1863 - 1902) के विचारों ने भारतवर्ष को आगे की ओर देखने के बजाय प्राचीन वैदिक काल की ओर देखने का संदेश दिया था; स्वामी दयानंद सरस्वती का आव्हान था ' 'वेदों की ओर लौट चलो" और स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय धार्मिक- आध्यात्मिक श्रेष्ठता के विचारों को विश्व पटल पर रखा था। वे लिखते हैं "एक बार पुन : भारत द्वारा विश्व विजय करनी होगी यही मेरे जीवन का सपना है। हे भारत! उठो और संसार को अपनी आध्यात्मिकता से जीत लो।"

अत: इस भाग में हम राजा राममोहन राय और उनके विचारों का अनुसरण करने वालों को "समाज सुधारकों" की श्रेणी में रखते हैं ओर स्वामी दयानन्द सरस्वती एवं उनके विचारों का अनुसरण करने वालों को " पुनरूत्थान " के मार्ग के अनुयायी कहते हैं।

बोध प्रश्न- 1

प्रश्न:1 ''समाज सुधारको" तथा पुनरूत्थानवादियों की श्रेणी के प्रतिनिधि- विचारक कौन हैं?

उत्तर: .....

.....

5.2.1 ब्रह्म समाज तथा आर्य समाज

उदारवादी विचारकों तथा पुनरूत्थानवादी विचारकों के विचारों के परिणामस्वरूप देश में ऐसी संस्थाओं का भी जन्म हुआ था जिनके द्वारा राजा राममोहन राय, दयानन्द सरस्वती तथा विवेकानन्द के विचारों का प्रसार किया गया था। ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज तथा भारतीय ब्रह्म समाज जैसी संस्थाओं के द्वारा इन विचारकों के उदार विचारों एवं सिद्धांतों का प्रसारण किया गया और उनके विचारों एवं सिद्धांतों को व्यावहारिक रूप देने के लिये संस्थागत प्रयास किये गये थे।

दूसरी ओर आर्य समाज ने वैदिक आदर्शों के प्रचार-प्रसार और आर्य लोगों को संगठित करने की भूमिका निभाई और रामकृष्ण मिशन द्वारा विवेकानन्द के विचारों का प्रसार किया गया।

संक्षेप में 19वीं शताब्दी में जहां एक ओर सामाजिक सुधारकों के विचारों का देश में विस्तार हुआ, वहीं इन विचारों को व्यावहारिक रूप देने के कार्य में ब्रह्म समाज, आर्य समाज तथा रामकृष्ण मिशन जैसी संस्थाओं ने अपने-अपने दायरों में अपना योगदान दिया। इन संगठनों के प्रयासों से दोनों प्रकार की विचारधाराओं उदारवादी तथा पुनरूत्थानवादी का प्रवाह आगे बढा और उन विचारधाराओं के अनेक अनुयायी उन वैचारिक धाराओं के साथ जुड़े और अपने संगठनों के आदर्शों को क्रियान्वित करने में जुट गये। यह इन विचारकों तथा उनके द्वारा स्थापित संगठनों के क्रियाकलापों का परिणाम था कि भारत में राष्ट्रवाद की दो भिन्न-भिन्न प्रकार की धाराएं विकसित हुईउदारवादी राष्ट्रवाद की और धार्मिक तथा आध्यात्मवादी राष्ट्रवाद की। इन दोनों विचारधाराओं के 20वी सदी में प्रमुख अनुयायी विचारक कौन थे और उनके सिद्धांतों क क्या स्वरूप था, इन प्रश्नों का उत्तर यहां संक्षेप में दिया जाता है।

5.2.2 18वीं-19वीं सदी के भारतीय समाज का स्वरूप

इस स्थल पर भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक पुनरूत्थान (social cultural revival) के अर्थ को तथा उसके स्वरूप को स्पष्ट किया जाता है। भारत में पुनरूत्थान (revival) का आन्दोलन 18 वीं सदी के अन्तिम वर्षो में हुआ था। यह आन्दोलन मूलत: सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक आन्दोलन था जिसका उद्देश्य 18 वीं सदी के भारतीय समाज की अनेक विकृत प्रथाओं और कुरीतियों को दूर करना था तथा अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार के कारण उत्पन्न भारतीय आदर्शो से मोह भंग एवं हिन्दू धर्म तथा उसके प्राचीन शास्त्रों और परम्पराओं को पतन के संसार से मुक्त कर भारत को पुन: उसके "स्वर्ण युग (golden age)" की ओर लौटाना था।सर रोपर लेथब्रिज ने अपने ग्रंथ "रामतनु लाहिरी" - बंगाल के पुनर्जागरण का इतिहास' में यह दर्शाया है कि तत्काल बंगाल का विद्यार्थी वर्ग प्राचीन हिन्दू सभ्यता-संस्कृति के आदर्शो से भटक कर, पश्चिमी जगत की शिक्षा प्रणाली से प्रभावित होकर हिन्दू धर्म की हँसी उड़ाता था। 18वीं सदी के बंगाल के तरूण हिन्दुओं पर विदेशी लोगों का विशेषत: डफ हेअर और डीरोजियों जैसे विदेशियों का प्रभाव इतना छा गया था कि वे खुलेआम घोषणा करते थे कि "यदि कोई ऐसी चीज हैं जिसे हम तहेदिल से घृणा करते हैं, वह हिन्दू धर्म है"। 'इसी तरह हिन्दू कॉलेज के प्रबुद्ध विद्यार्थी पुरातन हिन्दू आदर्शो की हंसी उडाते हुए व्यंग्य करते थे : "हम भारतीय कैसे सभ्य बन पायेगें और किस प्रकार हम अंधविश्वासों की तानाशाही से मुक्ति पायेगें, यदि हम शराब का सेवन नहीं करेगें'। कट्टर हिन्दुओं के सम्मुख नाचते हुए वे उनके कानों में जोर देकर कहते "हम गो माँस खाते हैं, सुनो हम गो माँस खाते है' ' संक्षेप में, 18वीं सदी के अन्तिम वर्षा तथा उन्नीसवीं सदी के आरंभिक काल में मध्यकालीन हिन्दू समाज के सामाजिक, नैतिक एवं राजनीतिक पतन के विरूद्ध तथा अंग्रेज़ी शिक्षा के कारण भारतीयों के नैतिक-धार्मिक जीवन में जो कुरीतियां पैदा हुई थीं, इनके 19वीं सदी के प्रारंभ में तत्कालीन समाज सुधारकों और धार्मिक नेताओं - राजा राममोहन, दयानन्द सरस्वती तथा विवेकानन्द आदि ने भारतीय समाज की सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के प्रयास किये थे।

उपर्युक्त सामाजिक-धार्मिक नैतिक पतन से उद्धार करने की दृष्टि से उदाहरणार्थ, राजाराम मोहनराय ने सामाजिक सुधारों को वैधानिक एवं शांतिपूर्ण मार्ग से प्राप्त करने के कदम उठाये थे इसकी बजाय दयानन्द सरस्वती ने भारतीयों का आव्हान किया था।" 'पुन: वेदों की ओर लौट चलो (back to vedas)"। इसी भांति स्वामी विवेकानन्द का भी लोगों को संदेश था "हमे संसार को अपनी आध्यात्मिकता तथा अपने दर्शन के माध्यम से जीतना होगा"। अत: यह लिखना युक्तिसंगत है कि भारत के 18वीं-19वीं सदी के समाज सुधारक विचारकों ने भारतीय समाज को अपने प्राचीन आदर्श समाज के मूल्यों को जिन्हें 18वीं सदी के लोगों को भुला दिया था, उनके सामने अपने देशज सांस्कृतिक विचारों और मूल्यों को पुन: अपनाने पर बल दिया जिससे कि भारतवर्ष एक बार पुन: अपने स्वर्णिम अतीत को प्राप्त कर लेगा, उसकी राष्ट्रीय एकता पुन: स्थापित होगी और राष्ट्रीय मुक्ति के द्वारा खुल जायेंगे। अत: सामाजिक सांस्कृतिक, पुनरूत्थान के प्रवर्तकों ने भारतीयों को वैदिक काल की संस्कृति, महाभारत काल की महानता, सम्राट अशोक तथा चन्द्रगुप्त मौर्य के युगों की याद दिलाते हुए पुन: उस काल के आदर्शो की ओर बढने का संदेश दिया था।

इस स्थल पर राजा राममोहन राय तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती और विवेकानन्द के विचारों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन भारत की सामाजिक कुप्रभाओं को दूर करने की दृष्टि से दो भिन्न-भिन्न मार्गो पर चलने वाले विचारक हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। सुधार के मार्ग के राही राजा राममोहन राय हैं तथा पुनरूत्थान के मार्ग पर चलने वाले स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा स्वामी विवेकानन्द हैं।

5.2.3 भारतवर्ष की सामाजिक दुर्दशा

17वीं सदी आते-आते भारतवर्ष के समाज का सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक पतन गहरा हो चुका था। प्रसिद्ध इतिहासकार प्रोफेसर ताराचंद का मत है कि 18वीं सदी के उच्च वर्ग के हिन्दुओं का धर्म अपने मूल रूप से बिल्कुल बहक गया था। इस काल में बहुत कम भारतवासी उपनिषदों और अपने दर्शनों का अध्ययन करते थे, और जो लोग करते थे वे भी पौराणिक कथाओं ओर कर्मकाण्डों में विश्वास करते थे। प्राचीन भारत में जिस एकेश्वरवाद(एक ईश्वर) की धारणा में हिन्दुओं की आस्था थी, ऐसे एकेश्वरवाद की उच्च कल्पना को एकदम भुला दिया गया था; अब एकेश्वरवाद के स्थान पर बहुदेववाद और मूर्तिपूजा का बोलबाला हो गया और विभिन्न देवताओं की पूजा पर आधारित बहुतसंख्यक सम्प्रदाय बन गये। इस काल में वाममार्गी तान्त्रिकों के आचार-विचार बिल्कुल ही अनैतिक बन चुके थे। लोगों का भूत-प्रेतों में विश्वास बहुत फैल चुका था और वे झाड़फूंक में विश्वास करते थे। समाज के निम्नतर वर्ग भयंकर कुसंस्कारों के सागर में डूब गये थे और वे देवी-देवताओं के अलावा जड़ और चेतन पदार्थो, साँपों, बंदरों, पेड-पौधों तथा पत्थरों की पूजा करने लगे थे।

इसके अतिरिक्त अठारहवीं सदी के भारतवर्ष में जात-पात का जोर था और ऊँच-नीच के सामाजिक विचारों को ईश्वरीय आदेश माना जाता था। "बंगाली ब्राह्मणों में कुलीन प्रथा अर्थात् बहुत सी स्त्रियों से विवाह प्रथा का प्रचलन हो गया था जिससे स्त्रियों की दशा समाज में ऊँची

नहीं रही। सती प्रथा, बच्चों को नदियों में चढाना, जगन्नाथ के रथ के पहियों के नीचे पिसकर मर जाना पुण्य कार्य माने जाते थे।"

18वीं सदी के भारतवर्ष की यह सामाजिक-धार्मिक पतन की अवस्था थी। 19वीं सदी में ऐसी अवस्था के विरूद्ध आवाज उठाने वाले राजा राममोहन रॉय (1772-1833), बंगाल में स्वामी दयानन्द सरस्वती (1824-1883) पंजाब में तथा बंगाल में स्वामी विवेकानन्द(1863-19०2) जैसे सामाजिक- धार्मिक आन्दोलनों के नेताओं का जन्म हुआ जिन्होंने मध्ययुग की कुरीतियों के विरूद्ध समाज सुधार करने का बीड़ा उठाया। इन सामाजिक सुधारकों के प्रयासों के फलस्वरूप भारत वर्ष में आधुनिक काल का जन्म होता है।

5.2.4 अंग्रेजी शासकों का तत्कालीन भारतीय सामाजिक राजनीतिक जीवन को योगदान

जहाँ एक ओर भारतीय पुनर्जागरण (rebith) के पुरोधा राजा राममोहन रॉय, दयानन्द सरस्वती और विवेकानन्द जैसे समाज सुधारक थे, वहीं दूसरी ओर इन विचारकों के पहले भारत वर्ष को आधुनिक स्वरूप प्रदान करने में अंग्रेज शासकों के योगदान को भी श्रेय दिया जाता हैं। भारत में ब्रिटिश शासकों ने अपने उपनिवेशी हितों के लिये अनेक कदम उठाये थे, जैसे देश में रेल मार्गो, सड़कों, स्कूलों, विद्यालयों की स्थापना। व्यापार के लिये बाजारों को सुधारा गया, देश को एक सूत्र में बांधने के लिये कानून तथा प्रशासन प्रणाली की व्यवस्था की गई, संचार व्यवस्था में सुधार किया और नये उद्योगों को स्थापित किया गया।

अंग्रेजों के उठाये कदमों के परिणामस्वरूप भी मध्ययुग के अंधेरे में डूबे देश में ज्ञान का प्रकाश आया था और देश एकता के सूत्र में बंधने लगा था। इन प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभिक काल में भारत में मध्यम वर्ग, श्रमिक वर्ग एवं बुद्धिजीवी वर्गो का उदय हुआ। इन सारे सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं प्रशासनिक सुधारों के परिणास्वरूप भारतवर्ष का आधुनिक चेहरा प्रकट हुआ।देश मध्ययुग की बेड़ियों से मुक्तहोकर आधुनिकता के मार्ग पर अग्रसर हुआ। संक्षेप में अंग्रेज शासकों द्वारा प्रारम्भ किये गये अनेक प्रकार के सुधारों ने भी भारतवर्ष को आधुनिकता की ओर प्रवृत्त करने में योगदान दिया था और कालान्तर में भारत को आगे गतिमान करने में भारतीय सुधारकों का योगदान रहा था।

19वीं सदी के आरंभिक काल के नेता राजा राममोहन रॉय, स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा विवेकानन्द आदि का महत्वपूर्ण योगदान था। इन नेताओं का जीवन, उनके द्वारा स्थापित विभिन्न समाज सुधारक संगठनों और उनके द्वारा राष्ट्रीय उत्थान "विचारों का यहाँ वर्णन प्रस्तुत

भारतीय पुनर्जागरण : उन्नीसवीं सदी के अग्रणी नेता

इस भाग में 19वीं सदी की उन महान् हस्तियों का विवरण किया जाता है जिनके कर्मठ प्रयासों के परिणामस्वरूप भारतवर्ष मध्ययुग की पतनावस्था से मुक्त होकर आधुनिक समाज का रूप धारण कर सका। यहां पहले संकेत दिया जा चुका है कि इस "सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन के शिल्पी मुख्यत: बंगाल में राजा राममोहन रॉय, उत्तरी भारत में स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा बंगाल में ही स्वामी विवेकानन्द थे।

बोध प्रश्न-2

प्रश्न:1 "बैक टू वेदाज" किसका संदेश था और क्यों ?

उत्तर: .....

.....

5.3 भारत में राष्ट्रवाद का आविर्भाव

प्रस्तुत अभिलेखों में यहाँ यह स्पष्ट करना भी आवश्यक है कि 19वीं सदी में भारत में विकसित हुए सामाजिक-धार्मिक आन्दोलनों का ब्रह्म समाज तथा दयानन्द सरस्वती के आर्य समाज का क्या परिणाम निकला। संक्षेप में इतना लिखना ही पर्याप्त होगा कि काल के विचारकों के चिन्तन का तथा तत्कालीन सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तनों के ने देश में राष्ट्रवाद की भावनाओं को जन्म दिया, राष्ट्र के प्रति प्रेम ओर राष्ट्रीय स्वतंत्रता के भावों प्रसार किया तथा इस राष्ट्रीय चेतना ने भारतीयों में प्रेरणा प्रदान की जिसके परिणामस्वरूप को 1947 में विदेशी शासकों से स्वतंत्रता मिली। अत: यहाँ "राष्ट्रवाद" की धारणा का किया जाता है।

राष्ट्रवाद का आधारभूत शब्द "राष्ट्र" है। राष्ट्र का साधारण तात्पर्य एक ऐसा सामाजिक समुदाय होता हैं जिसके सदस्य किसी भौगोलिक क्षेत्र के निवासी होते हैं; यह समुदाय सांस्कृतिक दृष्टि से संगठित होता हैं। उसके सदस्यों में एकता के भाव निहित होते हैं। उसके नागरिकों में देश की स्वतंत्रता, देश प्रेम तथा देशभक्ति के भाव भरे होते हैं। लोगों की अनेक, प्रकार की विभिन्नताओं के होते हुए भी वे एकता से जुड़े रहते हैं। भारतवर्ष में 19वीं शताब्दी को सामाजिक-सांस्कृतिक आदोलनों के कारण भारतवासियों में राष्ट्र के प्रति प्रेम और आराधना की भावनाएँ उत्पन्न हुई थीं।

अत: निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता हैं कि 19वीं सदी के भारत वर्ष में जिस प्रकार की सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना का जन्म हुआ था उसके परिणास्वरूप पूरे देश में राष्ट्रीय एकता, राष्ट्र के प्रति प्रेम, श्रद्धा तथा उसके लिये त्याग और समर्पण के भाव पैदा हुए थे, इन भावों को हम भारतीय राष्ट्रवाद के नाम से संबोधित करते हैं। भारतीय पुनर्जागरण का परिणाम हमारे देश में राष्ट्रवाद की भावनाओं का जन्म था, जिन भावनाओं से प्रेरित होकर - भक्त लोगों ने देश की स्वतंत्रता का बिगुल बजाया था और जिसके परिणामस्वरूप भारत वर्ष, शासन से मुक्त हुआ था।

राष्ट्रवाद के स्वरूप के संबंध में कुछ विद्वान लेखकों का मत है कि यह भविष्य की ओर देखने वाला समावेशी (integrative) उदार, शांतिप्रिय. वैधानिक साधनों का प्रयोग-कर्ता, सुधारवादी और धर्मनिरपेक्षता के आदर्शो का पालन करने वाला होता है। किन्तु राष्ट्रवाद का एक दूसरा पक्ष भी हैं: यह उग्र तथा आक्रामक भी होता है, और अनन्य(exclusive) भी जो समाज के अन्य वर्गो-जातियों को अलग रखते हुए केवल अपने लोगों के हितों की रक्षा करता है। अनन्य कोटि का राष्ट्रवाद देश के भूतकाल की ओर देखने वाला तथा भूतकाल के सनातन एवं आध्यात्मिकता के विचारों को आधुनिक काल के समाज में पुन: स्थापित करने के उद्देश्य का

समर्थक होता है। साधारण भाषा में हम यह कह सकते हैं कि राष्ट्रवाद के दो प्रमुख स्वरूप होते हैं। उदारवादी एवं पुनरूत्थानवादी। इतना ही नहीं, राष्ट्रवाद का स्वरूप क्रांतिकारी भी होता हैं।

आधुनिक भारतवर्ष के इतिहास में 19वीं-20वीं सदियों में तथा उसके बाद उदारवादी, पुनस्वत्थानवादी तथा हिंसक-क्रांतिकारी राष्ट्रवाद की विचारधाराओं का आविर्भाव हुआ था। राजा राममोहन रॉय के विचारों का अध्ययन करने से स्पष्ट होगा कि राजा राममोहन रॉय के विचारों का स्वरूप सुधारवादी, उदार, संवैधानिक साधनों में आस्था रखने वाला तथा समाज की विभिन्न जातियों की एकता का समर्थन करने वाला था। हिन्दुओं द्वारा की जाने वाली मूर्ति-पूजा और बहुदेववाद की पूजा से उत्पन्न होने वाले धार्मिक झगड़ों के बारे में उनके विचार उपर्युक्त कथन के सत्य को स्पष्ट करते हैं कि "हिन्दू मूर्ति-पूजा' द्वारा की गई विचित्र, असुविधाजनक एवं हानिप्रद औपचारिक धार्मिक संस्कारों ने देश की एकता के ताने-बाने को नष्ट किया हैं।' संक्षेप में राजा राम मोहन रॉय के राष्ट्रवादी विचारों की उदारवादी धारणा को आगे बढ़ाने में दादाभाई नौरोजी(1 825-1917) महादेव गोविन्द रानाडे(1842-1901) फिरोजशाह मेहता(1845-1915) सुरेन्द्रनाथ बनर्जी(1848-1925) गोपाल कृष्ण गोखले(1866-1915) श्री निवास शास्त्री(1869-1946) तथा बीसवीं सदी में भारतीय राष्ट्रवादी कांग्रेस के नेताओं ने, विशेषत: गांधी, नेहरू, सरदार पटेल जैसे उदार राष्ट्रवादी विचारकों ने अपना योगदान दिया था।

दूसरी ओर, स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा विवेकानन्द के विचारों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि उनके तथा उनके जैसे विचारकों के विचारों में भारत के अतीत काल क विचारों के प्रति श्रद्धा हैं और वे अपने देशवासियों के सम्मुख वैदिक संस्कृति के आदर्शो को अपनाने का आव्हान करते हैं। संक्षेप में, स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा स्वामी विवेकानन्द जेसे विचारकों के विचारों का स्वरूप अतिवादी (अतीत से प्ररेणा लेने वाला) था जो आधुनिक काल में प्राचीन आदर्शो की पुन: स्थापना करना चाहते थे। ऐसे विचारकों के राष्ट्रवाद संबंधी विचारों को हम पुनरूत्थानवादी कहते हैं। स्वामी दयानन्द भारत में पुनरूत्थानवादी आन्दोलन के प्रेरक थे, जिनका नारा था "पुन: वेदों की ओर लौट चलो"। दयानन्द की भांति कालान्तर में आधुनिक काल में भारत में पुनरूत्थानवादी विचारों का प्रतिपादन बंकिमचन्द्र चटर्जी, विपिनचन्द्र पाल(1858- 1932) अरविन्द घोष, लोकमान्य तिलक, वी. डीसावरकर(1883-1966) लाला लाजपतराय तथा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (RSS) प्रमुख एम.एस. गोलवलकर जैसे नेताओं ने किया था।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होगा कि आधुनिक भारत की उन्नीसवीं तथा बीसवीं सदी के प्रारंभिक काल के चिंतन में दो प्रकार के राष्ट्रवादी विचारों की धाराएं प्रवाहित हो रही थीं - उदारवादी धारा तथा अतीतोन्तुखी पुनरूत्थानवादी धारा।

5.4 आधुनिक एवं स्वतंत्र भारत में उदार राष्ट्रवाद

राष्ट्रवाद की विस्तृत चर्चा के उपरान्त अब हमारे सामने यह जटिल प्रश्न उपस्थित होता है कि 1924 के बाद से वर्ष 2000 के बीच की अवधि में उदार राष्ट्रवाद संबंधी चिन्तन का क्या भविष्य रहा।

1915 से आज तक के भारत की राजनीतिक गतिविधियों पर ध्यान केन्द्रित करने से स्पष्ट होगा कि इस अवधि में भारतीय राजनीतिक रंगमंच पर अनेक विचाराधाराओं के प्रतिनिधि विचारक अपनी विचारधाराओं के आधार पर भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में अपनी नीतियों पर प्रकाश डालते दिखाई पड़ते हैं कि उनकी विचारधारा के प्रताप से देश को विदेशी शासन से स्वतंत्र कराया जायेगा: भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, समाजवादी पार्टी, हिन्दू महासभा, फॉवर्ड ब्लॉक, रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी, स्वतंत्र पार्टी तथा सामाजिक न्याय का समर्थन करने वाले अनेक दलों के नेताओं की सक्रिय भूमिका इस अवधि में हमारे सामने आती है, जिन्होंने अपने-अपने दलों की नीतियों ' एवं विचारधाराओं पर प्रकाश इस उद्देश्य से साथ डाला कि उनके दल की विचारधारा से भारत को 'स्वतंत्रता प्राप्त होगी। विचारधाराओं के इस द्वन्द्व में देश के मूर्धन्य नेताओं ने सक्रिय भाग लिया था। स्थानाभाव के कारण यही उन सभी देशभक्त नेताओं के नाम तथा उनकी विचारधाराओं और नीतियों का ब्यौरा प्रस्तुत करना असंभव हैं, अत: इस भाग में कुछ अधिक प्रभावशाली एवं सक्रिय महामना व्यक्तियों को स्थान दिया गया हैं। इन नेताओं के विशाल समूह में महात्मा गांधी, आचार्य नरेन्द्र देव, मोतीलाल नेहरू, जवाहरलाल नेहरू, जयप्रकाश नारायण, डी. आम्बेडकर, मोरारजी देसाई, पट्टाभि सीतारमैया, डी. राममनोहर लोहिया, एम.एन.रॉय, विनोबा भावे, सरदार पटेल, यू.एन. ढेबर,। गोविन्द बल्लभ पंत, सुभाषचन्द्र बोस, मीनू मसानी, अच्युत पटवर्धन, बारदोलोई आदि प्रमुख थे। सत्य यह है कि 1925 से 1947 तक के काल में भारतवर्ष के हर प्रान्त में देश भक्त नेताओं की एक विशाल जमात थी जिनका यहां उल्लेख करना संभव नहीं है, किन्तु इस काल में समूचे भारत पूर्व से पश्चिम तक और उत्तर से दक्षिण तक प्रत्येक प्रांत में वरिष्ठ नेताओं का अम्बार था जो भारतवर्ष की स्वतंत्रता के लिये अपनी विचारधारा के प्रति प्रतिबद्ध थे; उन सभी महान देशभक्तों और उनकी विचारधाराओं का वर्णन यहाँ संभव नहीं है। अत: इस काल के दो प्रतिनिधि विचारकों के उदारवादी राष्ट्रवाद संबंधी विचारों को इस भाग में स्थान दिया गया हैं। ये दो प्रतिनिधि विचारक हैं-महात्मा गांधी तथा जवाहरलाल नेहरू। इन दो विचारकों की उदार राष्ट्रवाद संबंधी मान्यताओं को संक्षिप्त रूप में यहाँ प्रस्तुत किया गया

5.4.1 महात्मा गांधी

(i) राजनीति का आध्यात्मिक आधार :

महात्मा गांधी का सम्पूर्ण दर्शन सत्य तथा अहिंसा के सिद्धांतों पर आधारित है। गांधीवाद नैतिक आदर्शो का ऐसा दर्शन है जो सभी प्राणियों को समान एवं. ईश्वर का मानकर सत्य और अहिंसा के साधनों द्वारा सर्वोदयी समाज की स्थापना करने की कामना है। गांधीवाद का प्रत्येक सिद्धांत नैतिक आदर्शो पर आधारित है।

गांधीजी ने भी राजनीति का आध्यात्मीकरण किया है, किन्तु उनकी आध्यात्मीकरण की धारणा पुनरूत्थानवादी की धारणा से सर्वथा भिन्न है। उनकी यह दृढ मान्यता है कि "यदि राजनीति को मनुष्य मात्र के लिये अभिशाप (curse) न बनाकर आशीर्वाद बनाये रखना है, तो यह आवश्यक है कि राजनीति को धर्म, नैतिकता तथा सदाचार के ध्रुव तारे को सदैव। अपना

लक्ष्य बनाकर उस ओर अग्रसर होना चाहिए।" सत्य यह है कि गांधीजी की आध्यानिक मान्यताएं उनके सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन में प्रकट होती हैं।

राजनीतिक जीवन में साधनों की पवित्रता पर उनकी असीम आस्था है। उनकी मान्यता है कि व्यक्ति के कार्य-साधन भी पवित्र हों और उतना ही पवित्र हमारा साध्य(उद्देश्य) होना चाहिए। इसका कारण वे यह मानते हैं कि साध्य तथा उसे प्राप्त करने के साधनों का परस्पर अटूट संबंध होता है। जैसे बीज तथा वृक्ष के बीच होता है जैसा बीज है वैसा ही वृक्ष होगा। अत: वे कहते हैं कि "साध्य साधनों से जन्म लेते हैं।" (Ends grow out of means)

गाँधीजी राजनीति में सफलता प्राप्त करने के इच्छुक राजनीतिज्ञों को सलाह देते है कि राजनीतिक सफलता प्राप्त करने के लिये नैतिकता के मार्ग का त्याग नही करना चाहिए। उनकी दृढ़ मान्यता है कि जो वस्तु नैतिक दृष्टिकोण से सही है वह राजनीतिक दृष्टि से भी सही नहीं होगी : उनका कथन हैं, "what is morally can never be politically right" (जो नैतिक दृष्टि से गलत हैं वह राजनीतिक दृष्टि से भी कभी सही नहीं होगी)।

गांधी जी के उपर्युक्त विचारों में नैतिक मूल्यों तथा साधनों की पवित्रता के आदर्शो का समावेश है।

(ii) सभी धर्मो के प्रति आस्था

गांधी जी की धार्मिक सहिष्णुता में गहरी आस्था है। अपनी इस आस्था को वे इन शब्दों में व्यक्त करते हैं:

"मेरे लिये बाइबिल वैसा ही धर्म-ग्रन्थ है जैसे कि मेरे लिये गीता और पवित्र कुरान हैं।" इससे भी आगे बढ़ते हुए वे लिखते हैं संसार के जितने बड़े-बड़े धर्म हैं मैं उनको अपने धर्म के बराबर ही समान रूप से सत्य मानता हूँ।

(iii) सत्याग्रही के आवश्यक गुण

गाँधी जी का समस्त जीवन भारत में प्रचलित राष्ट्रीय आन्दोलनों से जुड़ा था, अत: इन आन्दोलनों में भाग लेने वाले "सत्याग्रही" के आवश्यक गुण क्या होने चाहिए, इस प्रश्न की व्याख्या वे विस्तार में करते हैं। उनके इस संबंध में विचारों का सार यही प्रस्तुत है:

सत्याग्रही में भद्रता (civility) का होना नितान्त आवश्यक हैं। यदि उसके विरोध के तरीकों में थोड़ी सी भी अभद्रता आ जाय, उसका तरीका वैसे ही दूषित हो जायेगा, जैसे दूध में एक बूँद विष की पड़ जाने से पूरा दूध विषाक्त हो जाता है।वे यह भी सीख देते हैं कि सत्याग्रही को "बुराई को भलाई से, क्रोध को प्रेम से, असत्य को सत्य से तथा हिंसा को अहिंसा से' जीतना चाहिए। यदि सत्याग्रही अपना कोई गलत निर्णय लेता है अथवा भूल करता है, गांधी जी की मान्यता है कि सत्याग्रही को ऐसे अवसर पर "भूल को स्वीकार करना चाहिए। " इस सम्बन्ध में उनका मत है कि सत्याग्रही द्वारा "भूल स्वीकृति ऐसे झाड़ू की तरह है जो गन्दगी को साफ कर देता है और स्थान को पहले की अपेक्षा और स्वच्छ कर देता है"। इसके अतिरिक्त उनकी अन्य सीखें भी हैं, जैसे सत्याग्रही न्याय पथ से कभी विचलित नहीं होता, निर्भय होता है, विरोधी को समाप्त करने के बजाय वह समझौता करने के लिये तत्पर रहता है तथा धृणा तथा दुर्भावना जैसी बुराइयों से दूर रहता है। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलनों में एक

सत्याग्रही के रूप में भाग लेने वाले गांधी जी ने भावी सत्याग्रहियों के लिये अपने अनुभवों का यहाँ सार प्रस्तुत किया है।

राष्ट्रवाद एवं अन्तर्राष्ट्रवाद

गांधीजी राष्ट्रवाद को किसी तरह की बुराई नहीं मानते थे। उनकी मान्यता है कि राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रवाद की पहली सीढ़ी है। उनके राष्ट्रवाद का स्वरूप सहिष्णु एवं शांतिप्रिय हैं" वे उग्र राष्ट्रवाद का समर्थन नहीं करते। उनका मत है कि राष्ट्र की एकता(राष्ट्रीय एकता) इसलिये आवश्यक हैं जिससे कि अन्तर्राष्ट्रीयता के भावों को बल मिलता है। इस संबंध में उनका कथन हैं कि "किसी व्यक्ति के राष्ट्रवादी हुए बिना अन्तर्राष्ट्रवादी होना असंभव है।" अत: स्वयं के बारे में वे घोषणा करते है कि मेरा राष्ट्रवाद तीव्र अन्तर्राष्ट्रवाद है। आज के संसार के राज्यों के पारस्परिक संबंधों के बारे में उनकी धारणा है कि संसार आज इस बात की मांग नही करता कि राज्य पूर्णरूप से स्वतंत्र हों अथवा एक दूसरे से लड़े। आज की मांग यह है कि संसार में मित्रतापूर्ण स्वतंत्र राज्यों का संघ बने। इससे विश्वस्तर पर राज्यों के पारस्परिक संबंधों में शांति रहेगी। संक्षेप में, गांधीजी की राष्ट्रवाद की धारणा शांतिवादी है, हिंसात्मक अथवा उग्र नहीं। को स्वदेश के लिये इसलिये जीना सीखने की आवश्यकता हैं जिससे कि वह सम्पूर्ण के लिये जीना सीख सके। संक्षेप में हम राष्ट्रवाद संबंधी गांधी जी के विचारों के सार को इन शब्दो में यहां प्रस्तुत करते हैं। गाँधीजी के राष्ट्रवाद संबंधी विचारों का सार है साम्प्रदायिक, राष्ट्रीय एकता, अहिंसा, जनसमूह का उत्थान (mass upliftment), धार्मिक सहिष्णुता, सिविल " तथा सभी जातियों धर्मो तथा समुदायों के लिये बिना किसी प्रकार के भेदभाव के अधिकारों की स्थायी व्यवस्था। महात्मा गांधी की राष्ट्रवाद की धारणा का आधार ऐसे सम्पन्न एवं बहुसाखी राष्ट्रवाद "rich and diversified nationalism" का था जिसमें समाज के प्रत्येक संघटक के लिये पूर्ण तथा स्वतंत्र रूप से विकसित होने की गुंजाइश हो। उनकी आस्था थी कि - की सभी अल्पसंख्यक सामाजिक इकाइयों के धार्मिक, भाषाई तथा सांस्कृतिक अधिकारों की सुरक्षा बनी रहे। उनका राष्ट्रवाद मूलत : कुबेरतंत्र का विरोधी था जिससे कि देश के करोड़ों "दरिद्रनारायाणो" के जीवन की सुरक्षा संभव हो सके।

गांधीजी के विचारों पर मनन करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उनके विचारों स्वरूप आध्यात्मवादी नैतिकतावादी एवं शांतिवादी है और इन्हीं गुणों के आधार पर उनका सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक चिन्तन खड़ा है। गांधीजी के विचारो में मानवीय व्यक्तित्व की गरिमा और उसकी पवित्रता पर विश्वास है, सत्ता के केन्द्रीयकरण के स्थान पर वे विकेन्द्रीकरण को प्राथमिकता प्रदान करते हैं और हिंसा के स्थान पर वे अहिंसात्मक विश्व - आदर्श का समर्थन करते हैं। उनके उदारवादी एवं शांतिप्रिय राष्ट्रवादी विचारों ने भारतीय रचतंत्रता के मार्ग को प्रशस्त किया था।

बोध प्रश्न-3

1. गांधीजी का “राजनीति के आधार” से क्या अभिप्राय था ?

उत्तर: .....

.....

5.4.2 जवाहरलाल नेहरू

जवाहरलाल नेहरू ने स्वतंत्रता संग्राम के दौरान तथा स्वतंत्रता प्राप्त हो जाने के बाद अपने भाषणों तथा अपने ग्रंथों में जिन विचारों का प्रतिपादन किया था, उन विचारों मे हमें नेहरू के भारतीय राष्ट्रवाद के स्वरूप की स्पष्ट व्याख्या मिलती है; उनके द्वारा अनेक ग्रंथ **एन ऑटोबायोग्राफी** (1936) **ग्लिम्पसेजु ऑफ वर्ल्ड हिस्ट्री** (1939) (विश्व की झलक), **भारत की खोज** (1946), **इंडिया एण्ड दा वर्ल्ड, द यूनिटी ऑफ इंडिया, ए बंच ऑफ ओल्ड लैटर्स** तथा प्रथम प्रधानमंत्री के रूप में दिये गये उनके भाषणों में उनके राष्ट्रवादी विचारों का स्वरूप हमारे सम्मुख स्पष्ट होता हैं। भारत के प्रसिद्ध न्यायाधीश पी. दी. गजेन्द्रगडकर ने अपने एक संस्करण का वर्णन किया है, जब वे प्रधानमंत्री नेहरू से मिलने गये थे। उनसे चर्चा करते समय गजेन्द्रगडकर ने नेहरू के विचारों के संबंध में "नेहरूवाद " की व्याख्या करते हुए 'स्पष्ट किया कि "नेहरूवाद से उनका आशय केवल उन सिद्धांतों से था जिनसे देश में विधि शासन (rule of law) के द्वारा सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय की प्राप्ति की जा सके। "स्पष्ट है कि नेहरू के विचारों के स्वरूप को, उनके राष्ट्रवाद के स्वरूप को, हम उनके द्वारा लिखे ग्रंथों, उनके भाषणों तथा प्रसिद्ध नेताओं, लेखकों के साथ चर्चाओं में खोज सकते है। इन आधारों पर यह कहा जा सकता है कि नेहरूवाद "सत्य की खोज का सामन्जस्य स्थापित करके व्यक्ति के लिये सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक समानता, स्वतंत्रता तथा न्याय की लोकतंत्रीय साधनों द्वारा स्थापना करना है"। उनके विचारों का स्वरूप विज्ञानवादी एवं अनुभववादी है जिसमें किसी भांति का सैद्धातिक दुराग्रहों का कोई स्थान नहीं है।

विज्ञान में आस्था

नेहरू की विज्ञान में गहरी आस्था है। वे कोलम्बो विश्वविद्यालय में दिये गये अपने भाषण में कहते है:

"मेरा विज्ञान में बहुत बड़ा विश्वास हैं और वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने संसार को पूर्णत: बदल दिया है। मेरा विचार है कि यदि संसार को अपनी समस्याओं को हल करना है तो अपरिहार्य रूप से उन्हें विज्ञान के माध्यम से हल करना होगा, विज्ञान का परित्याग करके नहीं"। इन शब्दों से हमें उनकी विज्ञान के प्रति गहरी आस्था दिखती है जिसके आधार पर वे समाज के पुराने मार्गो को छोड़ कर नये समाज की रचना करना चाहते थे।

राष्ट्रवाद की आलोचना : अन्तर्राष्ट्रवाद का समर्थन

नेहरू की धर्म निरपेक्षता के मूल्यों में आस्था है जिस आधार पर वे समाज के विभिन्न धर्मो के बीच समरसता स्थापित करना चाहते है। वे राजतंत्र, सैनिकतंत्र साम्राज्यवाद तथा कुलीनतंत्र के सिद्धांतों के विरोधी हैं; उनके विचारों में सामाजिक अन्याय, नस्लवाद, हिंसा, अनैतिकता, तानाशाही शासन, साम्राज्यवाद-उपनिदेशवाद जैसी व्यवस्थाओं के विरूद्ध घोर विरोध के भाव हैं। उनके राष्ट्रवाद का स्वरूप शांतिप्रिय हैं, धार्मिक सहिष्णुता के वे अनन्य पुजारी हैं तथा भारतवर्ष जैसे देश के लिये वे बहु जातीय राष्ट्र की विभिन्न संस्कृतियों पर आधारित राष्ट्रीय एकता के आदर्श को भारतीय राष्ट्र की रचना का आधार मानते हैं। भारत में प्रचलित

विभिन्न धर्मों, विभिन्न भाषाओं एवं क्षेत्रीय विविधताओं को वे मिश्रित संस्कृति (composite culture) के आदर्श के अनुरूप ढालने में विश्वास करते हैं।

नेहरू का सम्पूर्ण जीवन इस सत्य को प्रमाणित करता है कि उनकी अपने राष्ट्र के प्रति अगाध श्रद्धा थी। यह उनके राष्ट्रवाद का द्योतक किन्तु नेहरू की राष्ट्रवाद की संकल्पना संकीर्ण नहीं है। नेहरू लिखते हैं कि भारतवर्ष में 1930 के बाद तीन प्रकार की राष्ट्रवाद की धारायें प्रवाहमान थीं हिन्दू राष्ट्रवादी, मुस्लिम राष्ट्रवादी, तथा सिक्ख राष्ट्रवादी जिन्हें नेहरू "group nationalism" कहते हैं। वे स्वीकार करते हैं कि संकीर्ण राष्ट्रवाद साम्प्रदायिक शक्तियों को उभारता है अत: वे उदात्त राष्ट्रवाद को "अन्तरर्राष्ट्रवाद की पूर्व शर्त मानते हैं"। उग्र राष्ट्रवाद के आलोचक नेहरू ऐतिहासिक उदाहरणों के आधार पर सिद्ध करते हैं कि उग्र-राष्ट्रवाद ने विश्व में युद्धों को प्रोत्साहित किया है, तानाशाही शासकों की निरंकुश शक्तियों का समर्थन किया है तथा साम्राज्यवादी शासनों की स्थापना में योगदान दिया है।

नेहरू की राष्ट्रवाद की धारणा भी गांधीजी की भांति राष्ट्रवाद को अन्तर्राष्ट्रवाद की पहली सीढ़ी मानती है। इसी संदर्भ में उनका कथन है कि "राष्ट्रवाद वास्तव में अन्तर्राष्ट्रवाद की पूर्व-शर्त (Pre-conduction) है"। जर्मन दार्शनिक इमानुअल कान्त की भांति नेहरू भी "प्रखर अन्तर्राष्ट्रवादी" हैं। इस दृष्टिकोण के समर्थन में वे पिछली अनेक शताब्दियों के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि विज्ञान के अविष्कारों ने अपरिहार्य रूप से सम्पूर्ण मानवता को एक विश्व इकाई के रूप में बांध दिया है।

अत: मानवता की यह मांग है कि संकीर्ण राष्ट्रीय हितों की सीमाओं से बाहर निकलकर व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय समाज की रचना की ओर मानव समाज को आगे बढ़ना होगा। इस उद्देश्य की सफलता के लिये सम्प्रभुता की धारणा को तिलांजलि देनी होगी, अन्तर्राष्ट्रीय विधि की मान्यताओं के आधार पर राज्यों के पारस्परिक संबंधों की पुनर्रचना करनी होगी तथा युद्धों को त्याग कर राज्यों को पारस्परिक सहयोग और शांति के मार्ग को अपनाना होगा। इस संबंध में उनका कथन है कि "हम मानवीय मामलों में ऐसी स्थिति पर-पहुंच गये हैं जब एक विश्व अथवा किसी प्रकार के विश्व संघ की आवश्यकता प्रतीत होती है, यद्धपि इसकी प्राप्ति में अभी भी अनेक बाधाएं एवं खतरे हैं"। राजनीति शास्त्र तथा अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के अध्येता जानते हैं. कि सम्प्रभुता की धारणा की बुराइयों को ध्यान में रखते हुए जवाहरलाल नेहरू ने "पंचशील" तथा "शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व (peaceful-co-existence)" के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया था।

"पंचशील"

पंडित नेहरू की "पंचशील" की धारणा के पाँच आधारभूत हैं, जिनके आधार पर राज्यों के पारस्परिक संबंधों का संचालन किया जाये। ये पाँच सिद्धांत हैं:

1. राज्यों द्वारा एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता एवं सर्वोच्च के लिये पारस्परिक सम्मान की भावना रखना;
2. अनाक्रमण,
3. एक-दूसरे के आन्तरिक मामलों में अहस्तक्षेप;

4. समानता तथा पारस्परिक लाभ; तथा

5. "शांतिपूर्ण सह अस्तित्व (peaceful-co-existance)"

पंचशील सिद्धांत के व्यावहारिक प्रयोग से प्राप्त होने वाले लाभों की विवेचना करने से स्पष्ट होता है कि इस व्यवस्था से युद्ध, हिंसा, शोषण, बल प्रयोग, की भावनाओं का अन्त होगा तथा शक्तिशाली राष्ट्रों द्वारा निर्बल राष्ट्रों में सैनिक हस्त कम होंगे। सकारात्मक रूप से ये सिद्धांत आदर्श अन्तर्राष्ट्रीय विरोधी राजनीतिक आर्थिक व्यवस्था को शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की प्ररेणा देते हैं तथा युद्ध के स्थान पर पारस्परिक सहयोग एवं वार्ताओं का मार्ग बताते हैं। गहराई से ध्यान देने से स्पष्ट होता है कि पंडित नेहरू का का सिद्धांत उनके अन्तर्राष्ट्रीय आदर्शों का एक प्रतिरूप (model) है जिसका अनुसरण से विश्व शांति का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

नेहरू द्वारा पंचशील सिद्धांत के प्रतिपादन करने के पीछे, मन्तव्य था कि यदि विश्व के राज्य इन नियमों का ईमानदारी से पालन करें तो इससे, साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद जैसी अन्तर्राष्ट्रीय बुराईयों का अन्त संभव हैं। किन्तु संबंधों एवं शक्तिपरक राजनीति (real politik)" के विद्वान जानते हैं कि "राजनीतिक " का अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अधिक महत्व नहीं है। तिब्बत के मामलें में भारत तथा साम्राज्यवादी के संबंधों से शायद नेहरू ने यह सबक लिया हो।

धर्म-निरपेक्षता (Secularism) के प्रति आस्था

भारतवर्ष की धार्मिक सामाजिक संरचना को ध्यान में रखते हुए नेहरू धर्म-निरपेक्षता के मूल्यों के अनुयायी हैं। वे मानते हैं कि राज्य का कोई धर्म नहीं; राज्य के अन्तर्गत व्यक्ति के सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन में राज्य का हस्तक्षेप अनुचित है राज्य को इस दायरे में तटस्थ ही रहना चाहिए क्योंकि एक धर्म-निरपेक्ष वह होता है जो एक धर्म की कीमत पर दूसरे धर्म की रक्षा नहीं करता।

नेहरू इतना अवश्य मानते हैं कि धर्मनिरपेक्षता का अर्थ धर्महीनता नहीं है। धर्मनिरपेक्षता का अर्थ है - "सभी धर्म के प्रति राज्य का समान आदर भाव, सभी व्यक्तियों के लिये समान अवसर" धर्म-निरपेक्षता के आदर्श के आधार पर प्रत्येक धर्म सह-अस्तित्व की भावना के साथ रहता हैं। पंडित नेहरू के विचारों का अध्ययन करते समय हमे ध्यान में रखना होगा कि उनके विचारों की पृष्ठभूमि में भारतीय इतिहास का समृद्ध बोध निहित है जिस ज्ञान के आधार पर वे भारतवर्ष के लिये उपयोगी एवं आवश्यक सिद्धांतों का प्रतिपादन करते हैं।

बोध प्रश्न-4

1. "पंचशील क्या है ?"

उत्तर: .....

.....

5.5 सामाजिक-सांस्कतिक पुनरूत्थान एवं उदार राष्ट्रवाद की पारस्परिकताएँ -

इस लेखन के अन्तिम दो भागों में महात्मा गांधी तथा पंडित जवाहरलाल नेहरू के राष्ट्रवाद संबंधी विचारों पर प्रकाश डाला गया है। जब हम इन विचारों को राजा राममोहन रॉय

के विचारों के साथ रख कर उनके स्वरूप पर निष्पक्ष रूप से ध्यान केन्द्रित करते हैं तो हम पायेंगे कि 19वीं सदी के अन्तिम वर्षो (1885) तथा 20वीं सदी के प्रथम 5-10 वर्षा में दादाभाई नौरोजी, सर फिरोजशाह मेहता, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, महादेव गोविन्द रानाडे तथा गोपालकृष्ण गोखले जैसे नेताओं ने अपने जिन विचारों का प्रतिपादन किया था, न्यूनाधिक रूप से उनके विचारों का स्वरूप ठीक वैसा ही था जिन विचारों का सर्व प्रथम प्रतिपादन राजा राममोहन रॉय ने अपने काल (1772 - 1883) में किया था भारतीय इतिहास इस सत्य का साक्षी है कि जिन उदार राष्ट्रवादी चिन्तन का प्रतिवादन राजा राममोहन रॉय ने अपने काल में किया था, उन विचारों की पुनरावृत्ति हमें दादाभाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, रानाडे तथा गोखले के विचारों में होती है। महात्मा गांधी तथा जवाहरलाल नेहरू के विचारों के भी कुछ अंश हैं जिनकी समानता राजा राममोहन रॉय के विचारों से है।

यह सर्वविदित है कि राजा राममोहन रॉय ने भारत में मूर्ति-पूजा तथा हिन्दू धर्म के अन्धविश्वासों, सती प्रथा, बाल विवाह, अस्पृश्यता, बहु-विवाह प्रथा की बुराईयों को दूर करने में अपना सारा जीवन समर्पित कर दिया था; इन कुरीतियों को दूर करने के लिये उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना की थी। हिन्दू धर्म की रूढिगत मान्यताओं को सुधारने की दृष्टि से वैज्ञानिक विषयों का प्रशिक्षण आरंभ कराया, सभी धर्मो की एवं मानवता के एक ईश्वर के सिद्धांत का प्रतिपादन किया; उन्होंने पौरोहित्यवाद की निरंकुशता जैसी बुराइयों को दूर करने की दृष्टि से आद्य हिन्दू धर्म ग्रंथों का अंग्रेजी तथा बंगला भाषा में अनुवाद कराया, "वैदिक ऐकेश्वरवाद" के प्राचीन धर्म की मान्यताओं के आधार पर बहुदेववाद की कुप्रथाओं की आलोचना की।

राजा राममोहन रॉय का स्वरूप तर्क बुद्धिवादी (rational) है और उनका राजनीतिक आदर्श' विश्वनागरिकतावादी (cosmopolitian) है। ब्रह्मसमाज की रचना के लिये उन्होंने जिस न्यास पत्र (trust-deed)" की रचना की थी उसमें उन्होंने सभी धर्मावलंबियों वे लिये "मिलीजुली संस्कृति (composite culture)" का आदर्श प्रस्तुत किया था। उनका लक्ष्य था कि सभी धर्मो एवं सम्प्रदायों के मनुष्यों के बीच एकता का सूत्र स्थापित हो। उनके सामाजिक एवं धार्मिक सुधारों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट होता है कि उनका दृष्टिकोण उदारवादी तथा प्रजातांत्रिक (liberal and democratic) था।

उनके राजनीतिक विचारों के स्वरूप का अध्ययन करने से यह निष्कर्ष हमारे सामने उभर कर आता है कि उनके विचार उदारवादी हैं, (Liberal) लोकतांत्रिक मूल्यो (Democratic values) के समर्थक तथा उदार राष्ट्रवादी एवं मानवतावादी (Humanist) हैं। राजनीतिक सुधारों के लिये उन्होंने विदेशी शासकों के सम्मुख प्रार्थना-पत्र तथा प्रतिवेदन देने का मार्ग अपनाया; यह उनका राजनीतिक सुधारों के लिये संवैधानिक साधनों का प्रयोग था। इसलिये उन्हें आधुनिक भारत में "संवैधानिक आन्दोलन का जनक (Father of Constitution Agitation in India)" स्वीकार किया गया है। संवैधानिक साधनों के इस मार्ग में उन्होंने भारत में राजनीतिक सुधारों की मांगें करने की परम्परा को आरंभ किया। दूसरे शब्दों में यह कह सकते

हैं कि राजा राममोहन राँय ने राजनीतिक समस्याओं को हल करने की शांतिपूर्ण एवं संवैधानिक-राजनीतिक आन्दोलनों की परम्परा की नींव डाली थी।

संक्षेप में, उपर्युक्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं की 18वीं- 19वीं सदी के भारत के सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं प्रशासनिक जीवन का शायद ही ऐसा कोई पक्ष हो जिसके सुधार के लिये राजा राममोहन रॉय ने अपना तर्क-सम्मत, तथा सुधारात्मक विचार प्रस्तुत न किया हो। यह उनके विचारों का ही परिणाम था तत्कालीन सामाजिक- धार्मिक-राजनीतिक अंधेरे में डूबे हुये भारतवर्ष का उद्धार हुआ सुधारों के परिणामस्वरूप आधुनिक भारत का शिलान्यास हुआ था। इसीलिये भारतीय इतिहास राजा राममोहन रॉय को "आधुनिक भारत का जन्मदाता" स्वीकार किया जाता है।

राजा राममोहन रॉय के विचारों के सार को इस लेखन के अंत में एक बार फिर याद करने के पीछे हमारा यह उद्देश्य है कि जिन उदार विचारों का प्रतिपादन उन्होंने 1772- 1833 वर्षा की अवधि में किया था उनका प्रभाव बीसवीं सदी के विचारकों पर तथा बीसवीं सदी के भारतीय समाज पर इतना गहरा पड़ा था कि उस काल के लेखकों के ऊपर तथा स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के भारतीय राष्ट्रीय नेताओं ने राजा राममोहन रॉय के विचारों के आधार पर आधुनिक भारत की रचना करना अपना आदर्श माना। न्यूनाधिक रूप से राजा के विचारों की पुनरावृत्ति कांग्रेस के उदारवादी नेताओं-दादाभाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, महादेव गोविन्द रानाडे तथा गोपालकृष्ण गोखले के विचारों में होती है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि भारत की स्वतंत्रता के बाद जिन सामाजिक-राजनीतिक मूल्यों के आधार पर संविधान की रचना की गई उसमें भी राजा राममोहन रॉय द्वारा प्रतिपादित अनेक सामाजिक-राजनीतिक आदर्शो को स्थान दिया गया है। इतना अन्तर अवश्य हैं कि स्वतंत्र भारत में अंग्रेजी शासकों का अब भोई स्थान नहीं है जिनको कि भारतीय अब "प्रतिवेदन" प्रस्तुत करें; प्रतिवेदनों की संस्कृति का स्थान अब "शांतिपूर्ण, संवैधानिक मार्गो से सरकार के सम्मुख जनता की आवश्यकताओं को प्रस्तुत करने :_वाली संस्कृति ने ले लिया है। भारत की मिलीजुली संस्कृति, उत्तरदायी शासन प्रणाली, प्रतिनिध्यात्मक शासन, धम निरपेक्ष समाज, उदार राष्ट्रवाद इत्यादि ऐसे राजनीतिक मूल्य है जिनका प्रतिपाद्रन राज राममोहन रॉय ने आज से करीब 200 वर्षो पूर्व किया और जिन मूल्यों को 1947 के बाद के भारतीय समाज ने अपनी सामाजिक-राजनीतिक जीवन की व्यवस्था में स्वीकार किया है"। (इस। लेखन का यह अर्थ नहीं लिया जाये कि स्वतंत्र भारत ने राजा के प्रत्येक राजनीतिक आदर्श को मूंद कर अपना लिया है; स्वतंत्र भारत ने राज राममोहन रॉय के अपने उदार विचारों एवं कार्य को अपने राजनीतिक जीवन में स्थान दिया है। इससे अधिक कुछ न समझा जाये

5.6 सारांश

अन्त में निष्कर्ष रूप से यह लिखना उचित प्रतीत होता है कि राज राममोहन रॉय ने जिस उदार राष्ट्रवाद की धारणा का प्रतिपादन किया था उसके मूल तत्व आधुनिक भारतवर्ष के सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक जीवन के प्रेरक आदर्श हैं : धर्म-निरपेक्षता, जातीय एकता,

व्यक्ति की स्वतंत्रता, मिलीजुली संस्कृति, सभी धर्मो, जातियों एवं वर्गो को समान अधिकार एवं प्रतिष्ठा,लोकतंत्रात्मक शासन प्रणाली, लोकतात्रिक विकेन्द्रीकरण, सामाजिक आर्थिक, न्याय, वर्गहीन समाज तथा लोककल्याणकारी राज्य के आदर्श आधुनिक भारत के मार्गदर्शक सिद्धांत हैं।

आधुनिक भारत एक बहु सांस्कृतिक, बहु भाषी, बहु जातीय एवं बहु धर्मी समाज है। अत: ऐसे समाज के जीवन के संचालन का आदर्श उदार राष्ट्रवाद ही है जिसके अन्तर्गत समाज का प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक सदस्य अपने जीवन के आदर्शो के अनुकूल सहानुभूति और शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की भावना के साथ अपने दैनिक जीवन का संचालन करता है। आधुनिक भारतीय समाज का इतिहास की कसौटी पर परखा हुआ प्रेरक आदर्श उदार राष्ट्रवाद है।

5.7 अभ्यास प्रश्न

1. सामाजिक-सांस्कृतिक पुनरूत्थान से आप क्या समझते हैं? भारत में सामाजिक-सांस्कृतिक पुनरूत्थान की प्रमुख वैचारिक स्थापनाओं की विवेचना कीजिये।
2. भारत में राष्ट्रवाद के आविर्भाव की चर्चा करते हुए उदार राष्ट्रवाद की वैचारिक प्रवृत्तियों की समीक्षा कीजिये।
3. महात्मा गांधी तथा जवाहरलाल नेहरू के विशेष संदर्भ में भारतीय उदार राष्ट्रवाद का अर्थ, प्रकृति व स्वरूप स्पष्ट कीजिये।
4. उदार राष्ट्रवाद के अन्तर्गत राष्ट्रवाद तथा अन्तर्राष्ट्रवाद को महात्मा गांधी तथा जवाहरलाल नेहरू ने किस प्रकार समन्वित-समायोजित किया? स्पष्ट कीजिये।
5. सामाजिक-सांस्कृतिक पुनरूत्थान तथा उदार राष्ट्रवाद की पारस्परिकताओ से क्या आशय है? स्पष्ट कीजिये।

5.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. विश्वनाथ प्रसाद वर्मा: आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, जुलाई 1971।
2. पुरूषोताम नागर: आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1999, छठा संस्करण।
3. बी.आर पुरोहित: आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।

इकाई-6

राममोहन रॉय

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 जीवन परिचय

6.3 प्रमुख रचनाएँ

6.4 चिंतन के प्रेरणा स्त्रोत

6.5 राममोहन रॉय के धार्मिक विचार

6.6 राममोहन रॉय के सामाजिक विचार

6.7 राममोहन रॉय के राजनीतिक विचार,

- 6.7.1 स्वतंत्रता
- 6.7.2 मध्यमार्ग का अनुसरण
- 6.7.3 राज्य का कार्यक्षेत्र
- 6.7.4 शक्ति पृथक्करण का समर्थन
- 6.7.5 विधि एवं न्यायिक व्यवस्था
- 6.7.6 प्रशासनिक सुधार
- 6.7.7 यूरोपवासियों का भारत में पुर्नवास
- 6.7.8 मानवतावाद एवं भ्रातृत्व

6.8 आर्थिक विचार

6.9 शिक्षा सम्बन्धी विचार सारांश

6.10 सारांश

6.11 अभ्यास प्रश्न

6.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची

6.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन उपरान्त आप जान पायेगे-

- राजा राममोहन राय के समय की सामाजिक-राजनीतिक पृष्ठभूमि
- राय की रचनाएँ तथा उनके चिंतन के प्रेरणा स्रोत
- राय का धार्मिक व सामाजिक चिंतन
- राय के राजनीतिक विचार, और
- राय के आर्थिक एवं शैक्षणिक विचार

6.1 प्रस्तावना

"समष्टि व व्यक्ति, ईश्वर व मनुष्य, मानवता व राष्ट्रीयता तथा समुदायवाद व व्यक्तिवाद के मध्य अनिवार्य तादात्म्य राजा राममोहन रॉय के चिन्तन का केन्द्रीय तत्व है।"

-विपिनचन्द्र पाल

भारतीय पुनर्जागरण के अग्रदूत राजा राममोहन राय ने मध्ययुगीन अंधविश्वासों व कुरीतियों को बुद्धि व तर्क की कसौटी पर परीक्षा करने की दिशा में भारतीयों को अग्रसर किया। अकर्मण्यता, भाग्यवादिता, जातिवाद, कर्मकांड व रूढ़ियों से बंधनग्रस्त भारतीय समाज को वे एक ईश्वर, समानता व स्वतंत्रता से पूर्ण (जाति, धर्म, लिंग की श्रृंखलारहित) आधुनिक समाज में परिवर्तित करने वाले सुधारक थे। टैगोर ने उन्हें 'आधुनिक भारत का सूत्रधार' इसी कारण कहा। राय कोरे आदर्शों के प्रतिपादक न होकर व्यावहारिक सुधारों में विश्वास करते थे। सती प्रथा का तीव्र विरोध एवं स्त्री के सम्मान व अधिकार प्राप्त कराने की दिशा में वे प्रयत्नशील थे। भारतीय पुनर्जागरण के प्रारम्भिक समाज सुधारकों में राय का विशेष योगदान है। इसी सुधार ने आगे उदारवादी व्यक्तिवादी राजनीतिक चिन्तकों के लिए मार्ग प्रशस्त किया। सामाजिक-धार्मिक आन्दोलन ने वृहद् भारतीय कलेवर धारण कर समय के अन्तराल के साथ राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष का रूप धारण किया।

राजनीतिक, आर्थिक सामाजिक एवं बौद्धिक परिवेश विचारकों के चिंतन को प्रभावित करते है। परतंत्र राष्ट्रों में राजनीतिक चिंतन के उदाहरण इसी कारण कम हैं। 19वीं और 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध में परतंत्र भारत में अंग्रेजी सरकार के साथ-साथ अधिकांश भारतीय कुलीनतंत्र भी प्राय प्रगतिशील विचारों का कट्टर विरोधी था। कट्टरपंथी होना तत्कालीन समाज में आदर की दृष्टि से देखा जाता था जबकि आज बुरा माना जाता है।

उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में एक अति लघु व अधिकांश असाक्षर जनसंख्या वाला देश इंग्लैण्ड एक साम्राज्यवादी औद्योगिक शक्ति में परिणत हो गया था। इस साम्राज्य में सूर्य अस्त नही होता-ऐसा कहा जाता था। इसी समय में सांस्कृतिक रूप से सम्पन्न व साक्षर देश से भारत् सामाजिक व आर्थिक रूप से पिछड़ेपन व विघटन की दशा में पहुँच चुका था।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक भारत के विभिन्न भागों में कई राजनीतिक व सामाजिक् संगठनों (एसोसिएशन) की स्थापना हो गयी थी, जैसे-ब्रिटिश इंडिया एसोसिएशन (1851) इण्डियन एसोसिएशन ऑफ कैलकटा (1879), बाम्बे एसोसिएशन (1852) सार्वजनिक सभा (1870) महाजन सभा ऑफ मद्रास (1884)। अखिल भारतीय राजनीतिक संगठन की आवश्यकता महसूस कराने में पहली बार भारतीय शहरों को जोड़ने वाली रेल, प्रैस एवं टेलीग्राफ का भी हाथ था। पूरे भारत से संबंद्ध कुछ प्रश्न भी उपस्थित थे: जैसे-आई.सी.एस. की परीक्षा हेतु आयु को घटाना, भारत व इंग्लैण्ड में एक साथ इसके लिए परीक्षा का आयोजन आदि।

तत्कालीन समाज में अनेक धार्मिक तथा आध्यात्मिक नेता थे। समाचार पत्र उद्योग भी प्रारम्भ हो चुका था। शिक्षित भारतीयों के एक लघु समूह का भी राजनीतिक सामाजिक चेतना की जागृति में योगदान था। यूरोपीय उद्योग, व्यापार, ईसाई मिशनरी, उनकी भाषाओं,

प्रशासनिक सुविधा हेतु स्थापित रेलवे, प्रिंटिंग प्रैस (मुद्रणालय), पोस्ट तथा टेलीग्राफ व्यवस्था आदि ने भारत के विस्तृत तथा बिखरे हुए भूभाग व जनसंख्या में राष्ट्रीय चेतना के प्रसार तथा उसकी अस्तित्व रक्षा के लिए अंतत: एक बुनियादी ढांचे की भूमिका भी निभायी। भारत के विभिन्न क्षेत्रों के समाचार पत्रों ने एकता की भावना के साथ-साथ प्रांतीय भाषाओं को समृद्ध व लोकप्रिय बनाने के अतिरिक्त अन्याय व कानून के समक्ष भेदभाव का विरोध व भारतीय पक्ष भी प्रस्तुत किया।

उन्नीसवीं सदी का भारत कुछ महान स्त्री-पुरुषों की कर्मस्थली बना। आध्यात्मिक क्षेत्र मे श्री रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविन्द घोष, स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि थे राजनीतिक क्षेत्र में बाल गंगाधर तिलक, गोपाल कृष्ण गोखले, महादेव रानाडे, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, विपिन चन्द्र पाल, सी.आर.दास दादाभाई नौरोजी, लाल लाजपत, फीरोजशाह मेहता, के टी. तैलंग, मैडम भीकाजी रुस्तम, एनी बेसेन्ट, मदन मोहन मालवीय, मोतीलाल नेहरू, सर सैयद अहमद खान, बदरुद्दीन तैयबजी, लुकुल्ला, मिर्जा असदुल्ला खान गालिब, इतिसमुद्दीन तफल्युल हुसैन खान, मिर्जा अबू तालिब लन्दनी, अब्दुर रहीम दाहरी आदि थे। महान साहित्यिक हस्तियां थीं-रवीन्द्रनाथ टैगोर, अरविन्द, तिलक, आरजी भंडारकर, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, बंकिम चन्द्र चटर्जी। महान समाज सुधारक ज्योतिबा गोविन्द फुले व करसनदास मुलजी भी समकालीन थे।

भारतीय नेतृत्व में गुणात्मक परिवर्तन विशेषत: सामाजिक व नवनिर्माताओ व अग्रदूतों के रूप में दृष्टिगत होता है-केशव चन्द्र सेन, राजा राममोहन राय, दयानन्द सरस्वती और स्वामी विवेकानन्द आधुनिक काल के अग्रदूतों में से कुछ ऐसे ही नाम हैं। इनकी पहल के बिना हिन्दु समाज प्राचीन परम्पराओं व हिन्दू संस्कारों की रूढ़ियों को चुनौती नहीं सकता था। सांस्कृतिक व धार्मिक पुनर्जागरण हेतु विभिन्न धार्मिक समुदायों ने अपने यशस्वी से प्रेरणा ली तथा उनमें से कुछ मूल्यों की पुनर्जागति हेतु सभी ने शिक्षा पर बल दिया।

हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों के बारे में विचारों में काफी भिन्नता है। क्रगर के एक ग्रंथ में हीरेन मुकर्जी व आर.सी. मजूमदार के विचार बिल्कुल विपरीत हैं। मुकर्जी हिन्दु-मुस्लिम सम्बन्धों को मैत्रीपूर्ण बताते हैं तो मजूमदार के अनुसार हिन्दू मुस्लिम शासन के बजाय ब्रिटिश शासन के प्रति कम विद्वेषपूर्ण हैं। उदात्त दृष्टि राजा राममोहन रॉय भी के विचारों की पुष्टि करते हैं।

उन्नीसवीं सदी के भारतीय समाज के विभिन्न पक्षों पर दृष्टि डालने से उनकी निरन्तरता बीसवीं सदी के समाज में भी दृष्टिगोचर होती है। हिन्दू समाज जाति पर आधारित था। जाति पहचान का सूचक थी। इस्लाम भी जाति जैसी संरचना से प्रभावित था। 1901 की जनगणना में 133 मुस्लिम जातियों का वर्णन है। ईसाई व सिख भी इससे अछूते नहीं रह पाये। विभिन्न सामाजिक बुराइयाँ व कुरीतियाँ समाज में व्याप्त थीं-बाल विवाह, नवजात कन्या हत्या, व्यापक अशिक्षा, विदेश यात्रा का निषेध, कट्टर सामाजिक व धार्मिक आचार, शूद्र व अन्त्यजों'' (untouchables) की एक बड़ी संख्या, जाति व धार्मिक समूहों की बड़ी संख्या, सामाजिक व विभाजन आदि।

भारतीय स्त्रियों, विशेषकर विधवाओं की स्थिति शोचनीय थी। सदी के भारत के कुछ महानतम नेता भी स्त्रियों की समस्याओं के प्रति सहानुभूतिपूर्ण थे। बाल विवाह अति सामान्य बात थी। तिलक और उनके कई सम्माननीय पत्रकार साथी भी इसका खुले रूप से समर्थन करते थे। उस समय के अधिकांश बड़े नेताओं के विवाह वयस्क होने से पूर्व ही 10- 12 वर्ष की बाल वधुओं से हो चुके थे। हिन्दुओं के साथ-साथ पारसी समाज में भी ऐसा प्रचलन था। इस असहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण व विवाह के मानकों ने भी स्त्रियों के लिए विभिन्न सामाजिक-शैक्षिक समस्याओं को जन्म दिया। शिक्षा इन विभिन्न समस्याओं में से एक थी-शिक्षा का अभाव अपनी रुचियों, क्षमताओं और शक्तियों के अनुसार कार्य करने से वंचित करता था। शिक्षा एक बड़ा मुद्दा थी। स्कूलों की संख्या भी पर्याप्त नहीं थी। स्वयं इंग्लैण्ड में स्त्री शिक्षा की व्यवस्था न होने पर भी सरकार भारत में कन्या पाठशालाएँ खोलने को तत्पर थी तथा अन्य व्यक्तिगत प्रयासों को भी इस दिशा में प्रोत्साहित कर रही थी। ज्योतिबा फुले की सोसायटी के पूना के स्कूलों में 237 छात्राएँ थीं पर इनके परीक्षा परिणाम बहुत अच्छे थे। स्त्री शिक्षा की दर 1881 के जनगणना के अनुसार 2 प्रतिशत से कम थी। यह दर नियमित रूप से नोट की जाती थी तथा सरकारी व सामाजिक रूप से स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहित किया जाता था।

कुछ लोगों द्वारा स्त्री शिक्षा हेतु विद्यालय खोलने पर उच्च जाति के हिन्दू अपनी बेटियों व बहुओं को भेजने के अनिच्छुक थे। महात्मा ज्योतिबा फुले के प्रयास (स्त्री शिक्षा) में बाधा डाली गयी। तिलक का महाराष्ट्रीय समाज पर प्रभाव (सरकारी ब्रिटिश समर्थन के बावजूद भी) स्त्री शिक्षा में बाधक बना। कई पहलुओं में अग्रगामी होते हुए भी बंगाल में व्याप्त अंधविश्वास व पूर्वाग्रह स्त्री शिक्षा में बाधक थे। अत: राजा राधाकान्त देव और ईश्वर चन्द्र विद्यासागर के प्रयास उदासीनता एवं नकारात्मक चिंतन के कारण सफल नहीं हो सके। एम.जी. रानाडे व दादाभाई नौरोजी आदि भी स्त्री शिक्षा व सामाजिक उत्थान के समर्थक थे। पूना में सात महान महाराष्ट्रियों ने डेकन एजूकेशन सोसायटी 1884 में स्थापित की। भारत के अन्य कई भागों में भी नेतृत्व धीरे-धीरे समय की चुनौतियां स्वीकार कर रहा था। हिन्दू मुस्लिम पारसी और अन्य धर्मों के भी महान नेता उभर रहे थे-सर सैम्पद अहमद खान, बदरुद्दीन तैयबजी, सर फीरोजशाह मेहता, दादाभाई नौरोजी आदि।

विधवा विवाह पर एक सामान्य चेतना के बावजूद भी सफलता दर स्त्री शिक्षा से भी कम थी। 1881 के जनगणना के अनुसार 10 वर्ष से कम की बंगाल में 14%, महाराष्ट्र में 10% और मद्रास में 4.5% लड़कियां विवाहित या विधवा थीं। उन्नीसवीं सदी के विभिन्न सामाजिक व धार्मिक सुधारक भारतीय लड़कियों व स्त्रियों की दशा सुधारने हेतु प्रयासरत थे। ईश्वर चन्द्र विद्यासागर बंगाल में, करसनदास मुलजी गुजरात में, बाल गंगाधर शास्त्री महाराष्ट्र में इस आन्दोलन में अग्रणी थे। केवल कुछ हिन्दू विवाह हेतु आगे आये पर वे सभी धनलाभ से प्रेरित थे जैसा कि आज भी दीखता है। मार्च 1872 में द्विविवाह निषेध कानून ने तलाक हेतु मार्ग प्रशस्त किया व विवाह हेतु स्त्री-पुरुष की आयु क्रमश: 14 व 18 तय की। यह कानून केवल ब्रह्म समाज सदस्यों तक सीमित था। हिन्दू सिख, जैन, मुस्लिम, पारसी इससे परे थे।

भारतीय समाज में विशेषकर हिन्दुओं में दहेज के कारण मृत्यु, सती प्रथा, नवजात कन्या की हत्या आदि व्याप्त थे। लड़कियों की बुरी सामाजिक स्थिति भी इसका कारण थी। नवजात कन्याओं की हत्या के विरुद्ध भी आवाज उठायी गयी। विधवा जीवन की दुर्दशा से बचने के लिए भी हिन्दू लड़कियाँ सती हो जाती थीं। सामाजिक दबाव तथा परम्पराएँ भी इस ओर प्रेरित करती थीं। इसके अतिरिक्त विधवा के दायित्व से बचने हेतु भी परिवार के सदस्य जबरन भी सती कर देते थे। राजा राधाकांत देब भी सती प्रथा व कुछ अन्य कट्टर हिन्दू परम्पराओं के समर्थक थे (सुरेश शर्मा)। उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्द्ध सामाजिक व धार्मिक तनावों व बहसों से परिपूर्ण है। दुर्भाग्यवश उनमें से कई के उत्तर आज भी हमारे पास नहीं हैं। ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा प्रवर्तित शोषण की मुस्लिम विजेताओं व शासकों द्वारा व्यापक रूप से लूट व विध्वंस से भी तुलना नहीं की जा सकती। आक्रमणकारी विजेताओं के अतिरिक्त अन्य मुस्लिम शासक यहां का धन बाहर नहीं ले गये, और न भारतीय उद्योगों को व्यवस्थित रूप से उन्होंने नष्ट किया, न अपने माल के बाजार के रूप में भारत का प्रयोग किया। इस आर्थिक दोहन से भारतीय उद्योग नष्ट हो जाने से गरीबी अत्यधिक व्यापक रूप से बढ़ गयी।

6.2 जीवन परिचय

बंगाल के हुगली जिले के राधानगर ग्राम में 22 जनवरी सन् 1772 में जन्मे रॉय के पिता रमाकान्त बनर्जी तथा माता तारिणी देवी दोनों ही धार्मिक प्रवृत्ति के ब्राह्मण थे। दादा कृष्णकांत बनर्जी को बंगाल के नवाब के उच्च पदाधिकारी के रूप में रॉय की उपाधि को परिवार ने अपनी विशिष्ट पहचान के रूप में बनर्जी के स्थान पर प्रयुक्त किया। 1830 में मुगल सम्राट अकबर द्वितीय के राजदूत के रूप में इंग्लैण्ड जाने पर सम्राट ने उन्हें राजा की उपाधि से सम्मानित किया। इस प्रकार राममोहन के नाम के साथ राजा और रॉय शब्द जुड़ गये।

प्रतिभाशाली राजा राममोहन राय अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। बंगला, फारसी, अरबी, हिन्दी, संस्कृत तथा अंग्रेजी में वे पारंगत थे। ग्रीक, हिब्रू फ्रैन्व तथा लैटिन भाषाएँ भी रॉय जानते थे। इस्लाम, बौद्ध, हिन्दू तथा ईसाई धर्मों का उन्होंने तुलनात्मक अध्ययन किया। हिन्दु धर्म में उपनिषद उनके अध्ययन का आधार बना।

फारसी भाषा में मूर्ति पूजा के विरोध में एक पुस्तक प्रकाशित पर 16 वर्ष की अवस्था में पिता से सम्बन्ध तनावपूर्ण होने पर राममोहन को घर छोड़ना पडा। तिब्बत में बौद्ध लामाओं के संपर्क में रॉय ने बौद्ध धर्म को जाना। सन् 1603 से 1814 तक ईस्ट इंडिया कम्पनी में नौकरी की। सन 1814 में सरकारी नौकरी त्याग कर स्वतंत्र सार्वजनिक जीवन प्रारम्भ किया। 1815 में कलकत्ता में आत्मीय सभा का गठन धर्म व दर्शन में रुचि रखने वाले विद्वानों लिए किया। इसी साल 'ब्रह्मसूत्र' का बंगला अनुवाद प्रकाशित किया। सन् 1818 में सती प्रथा उन्मूलन हेतु आन्दोलन प्रारम्भ किया जिसकी परिणति सन् 1829 में गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बैंटिक के सती प्रथा अवैध करने पर हुई।

रॉय ने सन् 1827 में ब्रिटिश इण्डिया अनइटेरियन एसोसिएशन के बाद 20 अगस्त सन् 1828 में ब्रह्म समाज की स्थापना की। ब्रह्म समाज की स्थापना उनके जीवन की अति

महत्वपूर्ण घटना थी। इसके विचार बंगाल से बाहर तक फैल गये। इनसे प्रणीत उदारतावाद, और आधुनिकता के वातावरण ने भारतीय चिंतन व समाज में पुनर्जागरण की क्रांति सी दी।

15 नवम्बर, 1830 को मुगल सम्राट अकबर द्वितीय के राजदूत के रूप में राममोहन ब्रिटिश सम्राट से मिलने इंग्लैण्ड गये। वही प्रसिद्ध अंग्रेज दार्शनिक जेरेथी बेन्थम से घनिष्ठ मित्रता हुई। इंग्लैण्ड से वे फ्रांस भी गये जहाँ वे बीमार हो गये। पुन: इंग्लैण्ड वापस पर स्वास्थ्य में गिरावट से 20 सितम्बर, 1633 को ब्रिस्टल में 61 वर्ष की आयु में उनका देहान्त गया।

6.3. प्रमुख रचनाएँ

- पुस्तक-तुहफत-उल मुवाहिदीन
- ऑन दि राइट्स ऑफ हिन्दुज ओवर एन्सेस्ट्रल प्रॉपर्टी
- ऑन मॉडर्न एंकरोचमेन्ट्स ऑन दि एनशेयन्ट राइट्स ऑफ
- दि प्रिसेप्टस ऑफ जीसस
- प्रेस नियमन के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय एवं सम्राट को याचिका 1823)
- 1823 : अंग्रेजी शिक्षा पर लार्ड एम्हर्स्ट के नाम एक पत्र (1823)
- ईसाई जनता के नाम अन्तिम अपील (1823)
- धार्मिक सहनशीलता पर एक निबंध (1823)
- यूरोपवासियों को भारत में बसाने के सम्बन्ध में विचार (1831)
- 1832 : भारत की न्यायिक एवं राजस्व व्यवस्था आदि पर प्रश्नोत्तर 1832)
- भारत की प्राचीन एवं आधुनिक सीमाएँ एवं भारत का इतिहास (1832)
- अनुवाद-ब्रह्मसूत्र (बंगला) (1815)
- केनोपनिषद / बंगला व अंग्रेजी
- ईशोपनिषद।
- समाचार पत्र-संवाद कौमुदी (बंगला) (1821 से)
- मिरात-उल-अखबार (फारसी)
- वेदान्तसार (1816), हिन्दू धर्म का समर्थन (1817), ईश्वर उपासना (1827), विश्वव्यापी धर्म (1828)
- पत्र एवं भाषण आदि।

6.4 चिंतन के प्रेरणा स्रोत

परिवार, विभिन्न धार्मिक ग्रंथों का मूल रूप में अध्ययन, ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सेवाकाल में ब्रिटिश पदाधिकारियों व दार्शनिकों से सम्पर्क एवं फ्रांसीसी क्रांति व पाश्चात्य दार्शनिकों के प्रभाव ने राय के विचारों को विभिन्न बिन्दुओं पर प्रभावित किया।

1. **परिवार**-परिवार में नियमित पूजा-पाठ, कर्मकांड, 1811 में बड़े भाई जगमोहन की मृत्यु के पश्चात भाभी के सती होने से आघात व 16 वर्ष की आयु में पिता से मतभेद के पश्चात गृहत्याग ने राय को प्रभावित किया।

2. **विभिन्न धर्मो का अध्ययन**-इस्लाम, हिन्दू बौद्ध व ईसाई धर्मों के गहन अध्ययन ने राम को इनकी तुलना का अवसर मिला। इस्लाम के तौहीद (एक ईश्वर) व उपनिषदों के अद्वैतवाद के साथ ही ईसाई धर्म के नैतिक व उदारवादी विचारों ने उन पर छाप छोड़ी। उपनिषदों के नैतिक मूल्य, विवेक, मानवता व स्त्री-पुरुष समानता वे अछूते न रह सके।

3. **पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव**-फ्रांसीसी क्रांति के स्वतंत्रता, समानता व भ्रातृत्व के आदर्श ने व्यक्ति की गरिमा का पाठ सिखाया।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के नौकरी के काल (1603- 1814) में रॉय एच. एच. विल्सन, मैकाले, सर विलियम जोन्स, सर हाइड ईस्ट, एडम, जेरेमी बेंथम, रंगपुर के कलेक्टर जॉन डिग्बी आदि पदाधिकारियों व दार्शनिकों ने अंग्रेजी भाषा, संस्कृति व लोकतांत्रिक उदारवाद से राय का परिचय कराकर उन्हें उदारवाद व अंग्रेजी शासन का प्रशंसक बना दिया।

पाश्चात्य दार्शनिकों का प्रभाव-मॉन्टेस्क्यू (शक्ति पृथक्करण व विधि का शासन), बेंथम (शासन, नैतिकता एवं व्यवस्थापन सम्बन्धी विचार, दीवानी तथा फौजदारी दण्ड संहिता), न्याय शास्त्री ब्लैकस्टोन (न्यायिक सुधार), लॉक, टॉमस पेन (प्राकृतिक अधिकार), वॉल्टेयर व रूसो (स्वतंत्रता का सिद्धांतद्ध आदि ने रॉय के विचारों को प्रभावित किया।

6.5 राममोहन रॉय के धार्मिक विचार

फारसी व अरबी के गहन व विस्तृत ज्ञान से राय सादी व हाफिज जैसे सूफी कवियों के साहित्य व कुरान को समझ सके। इस छाप ने उन्हें एकेश्वरवादी समर्थक व मूर्ति पूजा व अनेकेश्वरवाद का आलोचक बनाया।

संस्कृत में वेदान्त व उपनिषदों के अध्ययन से राय पर पड़े सूफी प्रभाव और अधिक गहन हो गये। मूर्ति पूजा में उनका विश्वास समाप्त हो गया। मानव विकास की असीम सम्भावनाओं से वे परिचित हो गये।

देशाटन करते हुए उन्होंने तिब्बत में बौद्ध धर्म का अध्ययन कर उसकी व्यावहारिक विकृतियां भी अनुभूत कीं। बाइबिल का अध्ययन कर ईसाई धर्म को समझा। उसके त्रिदेव (परमात्मा, पुत्र व होली घोस्ट) सिद्धांत की आलोचना की। ईसाई धर्म ग्रंथ की व्याख्या "प्रिसेप्टस ऑफ जीजस" से मूर्ति पूजा की निन्दा व बौद्ध धर्म की विकृतियों की आलोचना के समान ही विवाद उत्पन्न हुआ। ईसा के चमत्कारों का इसमें कोई उल्लेख नहीं था। नैतिक व आध्यात्मिक उपदेशों का यह संकलन ईसाई धर्म को नैतिकता, शांति व आनन्द का मार्गदर्शक मानता था। इस्लाम को तौहीद (एकसत्ता) तथा मानव मात्र की समानता के वे कायल थे। ज्ञान की दृष्टि से ब्रह्म में समस्सु जीवों व सम्पूर्ण जगत की एकता के आधार पर वेदान्त को राय सर्वोत्कृष्ट मानते थे। मूर्ति पूजा, एकेश्वर, सती व हिन्दू धर्म की अन्य कुरीतियों के प्रश्नों पर राय ने उपनिषदों के आधार पर रूढ़िवादी ब्राह्मणों से शास्त्रार्थ कर उन्हें हराया। हिन्दू धर्म का मौलिक रूप उन्हें प्रिय था जो विवेक, मूल्य व समानता पर आधारित था।

किशोरावस्था की उनकी प्रथम रचना 'तुहफत-अल-मुवाहिदीन' (एकेश्वरवादी को उपहार) एकेश्वरवाद का समर्थन व समस्त धर्मों में मूर्ति पूजा के तत्व का विरोध करती है। विभिन्न

धर्मों के अध्यन से उनमें सहिष्णुता व एक विश्व धर्म का विचार उपजा व वे कट्टारपन से ऊपर जा सके। हेमचन्द्र सरकार के अनुसार राय के विचारों व कार्यों की धुरी धर्म था।

धर्म व दर्शन सम्बन्धी चर्चा हेतु राय ने 1815 में आत्मीय सभा की स्थापना की तो 1827 में ब्रिटिश इण्डिया यूनीटेरियन एसोसिएशन व 1828 में ब्रह्म समाज की स्थापना की। ब्रह्म समाज राय के जीवन की सबसे महत्वपूर्ण घटना बन गया। इसके विचार बंगाल से बाहर भी दूर-दूर तक प्रसारित हो गये। ब्रह्म समाज विभिन्न धर्मों के लिए एक ईश्वर की उपासना का मार्ग था। इसका विश्वास था कि ईश्वर निराकार, शाश्वत, अज्ञेय तथा नित्य है। इसको कोई नाम नहीं दिया गया। यह हिन्दुत्व के मूल रूप की स्थापना भी थी। इसके प्रथम मन्दिर के लिए 1830 में राय ने एक भवन भी दिया। मंदिर में मूर्ति पूजा की स्थापना, बलि देना, किसी भी धर्म की निंदा करना निषिद्ध था। जाति, धर्म व रंग की कोई सीमा नहीं थी। इसका उद्देश्य समस्त धर्मों में सहिष्णुता व एकता था। इससे समाज सुधार के व्यक्तिगत प्रयासों को सामूहिक व संस्थागत शक्ति प्रदान करने में सहायता मिली व प्रतिबन्द्ध कार्यकर्ताओं के दल तैयार हो गये।

राय की धर्मों के प्रति यह सहिष्णुता एक विश्व धर्म के स्वप्न का आधार भी बनी जो कि स्वामी रामकृष्ण परमहंस व स्वामी विवेकानन्द का भी विचार था। इस वैश्विक आध्यात्मिक स्वप्न में सभी धर्मों के प्रेरक तत्व समाहित थे (हेमचन्द्र सरकार)। राय का दृष्टिकोण समन्वयवादी था। 'सभी धर्मों में कुछ विविधताओं के साथ एक ही ईश्वरवाद पाया जाता है' (सर ब्रजेन्द्रनाथ सियाल)। आज की समस्त प्रगति के उपरान्त भी विभिन्न धर्मों के मध्य विश्व में हो र,हे टकराव, विवादों व कट्टरपंथिता की पृष्ठभूमि में आज भी राय का यह स्वप्न उतना ही प्रासंगिक है जितना कि शांति व लोगों के मध्य सहिष्णुता।

राय के विचारों का मूल था-विवेकपूर्ण चिंतन।

(1) **एकेश्वरवाद का समर्थन एवं बहुदेववाद का विरोध-**राय का समस्त चिंतन संसार में एक ही सत्ता का समर्थक है। एकेश्वर का यह विचार कुरान के तौहीद तथा उपनिषदों के अद्वैतवाद दोनों से प्रभावित था। इसी से ईसाई धर्म के त्रिदेव सिद्धांतव तत्कालीन हिन्दू धर्म में प्रचलित अनेकेश्वरवाद की राय ने आलोचना की।

(2) **मूर्तिपूजा का विरोध-**मूर्तिपूजा के राय कटु आलोचक थे। एक निराकार सत्ता को मूर्ति के रूप में पूजन के विरोधी थे। मूर्ति पूजा से हिन्दुओं में उत्पन्न भेदभाव, विभाजन तथा कट्टरता को राय विवेकरहित व राजनीतिक दृष्टि से हानिकर मानते थे। विभिन्न समूहों में बंटकर भारतीय शक्तिशाली नहीं हो सकते थे। मूर्ति पूजा की मूल धर्म से असंबद्धता दिखाने हेतु व मूल रूप दर्शाने हेतु राय ने कई उपनिषदों का अंग्रेजी व बंगाली में अनुवाद किया।

(3) **अनैतिक धार्मिक प्रथाओं, परम्पराओं व अंधविश्वासों का विरोध-**धार्मिक मान्यताओं को तार्किक परीक्षण एवं व्यावहारिक औचित्य की कसौटी पर परखना चाहिये। केवल परम्परा का मानदंड ही स्वीकृति का आधार नहीं होना चाहिये। विवेकहीन रूढ़ियां, कर्मकाण्ड व संस्कार जैसे बलि प्रथा आदि अनैतिक, मानवता विरोधी एवं घृणित हैं।

(4) मानवतावाद एवं धार्मिक सहिष्णुता का समर्थन-राय सम्पूर्ण मानव जाति को एक महान परिवार के रूप में देखते थे जैसा कि सहज बुद्धि व धर्म के साथ- साथ वैज्ञानिक शोध भी दर्शाते हैं। विभिन्न राष्ट्र तथा जातियाँ इस परिवार की शाखाएँ हैं। अत : वह समस्त बाधाओं को यथासंभव दूर कर मनुष्यों को एक- दूसरे से मिलने के लिए प्रोत्साहित करना चाहते थे। धर्म को वह ऐसा बनाना चाहते थे जो मानवों के मध्य भेद व घृणा को नष्ट कर मानव जाति की एकता व शांति का प्रेरक हो। उपनिषदों का अद्वैतवाद भी सभी में एक ब्रह्म को बताकर जीवों की मूल एकता को दर्शाता है।

अपने धार्मिक विचारों से राय ने एक ओर तो तत्कालीन हिन्दू धर्म की विकृतियों व कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया तो दूसरी ओर ईसाई मिशनरियों के धर्म प्रचार के प्रयास को। हिन्दू धर्म का शुद्ध मूल रूप दिखाकर कटुतारहित मार्ग से रोकने का भी कार्य किया। धार्मिक कुरीतियों व विभाजनों को हटाकर वे भारतीयों को एक राजनीतिक शक्ति बनाने का मार्ग भी प्रशस्त कर सके। वेदान्त व उपनिषदों को अंग्रेजी तथा बंगाली भाषाओं में अनुवाद करके भारतीय व पश्चिम दोनों तक व्यापक रूप से पहुँचा सके।

बोध प्रश्न-1

प्रश्न: रॉय के प्रमुख धार्मिक विचार क्या है ?

उत्तर: .....

.....

6.6 सामाजिक विचार

सामाजिक सुधार राय के चिंतन व कार्यों का प्रमुख आधार था। समाज सुधार के मार्ग से ही उन्होंने राजनीतिक विकास का मार्ग प्रशस्त किया। समाज सुधार के बिना राजनीतिक विकास अधूरा रहता। साथ ही हिन्दुओं के राजनीतिक ह्रास का उत्तरदायी वे उनके धार्मिक व सामाजिक पतन व विभाजन को समझते थे। इस कारण भी धार्मिक-समाज़िक सुधार अनिवार्य थे। मूर्ति, पूजा, बहुदेववाद व जातिवाद के प्रबल विरोध का यही कारण था। धर्म सुधार का मूल उद्देश्य भी समाज सुधार ही था क्योंकि धर्म भारतीय जीवन का एक अभिन्न अंग है। समाज का आधा भाग स्त्रियों की दशा सुधारने व उसे सम्मान व समता दिलाने हेतु राय ने सती प्रथा, बहुपत्नी प्रथा का विरोध किया तो मृत पति की संपत्ति से उत्तराधिकार सुनिश्चित करने व विधवा स्त्रियों के साथ मानवीय व्यवहार व नारी शिक्षा की वकालत की। अपने रूढ़िवादी विरोधियों को धर्मग्रन्थो के उद्धरण व प्रमाण (शास्त्रार्थ) प्रस्तुत करने के साथ ही सरकार की सहायता भी ली।

सुधार हेतु राय ने विभिन्न प्रकार के साधन अपनाये- मानवता व नैतिक भावना को अपील, धर्मग्रंथों से उद्धरण देना। इनके विफल रहने पर सरकार की सहायता लेने में भी इस उदारवादी विचारक ने संकोच नहीं किया।

(1) सती प्रथा का विरोध - राय की अनुपस्थिति में उनके बड़े भाई का देहान्त हो गया और उनकी भाभी सती हो गयी। इस आघात के प्रतिकार रूप में उन्होंने सन् 1818 में इस स्थापित परम्परा के विरुद्ध अभियान छेड़ दिया। सती प्रथा या सहमरेण हत्या व आत्महत्या ही थी।

स्वेच्छा व स्वविवेक के स्थान पर परिवार व समाजजनित वातावरण के दबावस्वरूप एक विवश व बेबस प्रतिक्रिया थी। प्राय: विधवा को पति की चिता के साथ बांधकर या धकेल कर जला दिया जाता था। स्वार्थी सम्बन्धी विधवाओं के भरण-पोषण से बचने हेतु भी इस प्रथा का प्रयोग करते थे।

रॉय जीवन को ईश्वर का अनमोल उपहार मानकर उसे छीनने का अधिकार किसी व्यक्ति या संगठन को देने के विरोधी थे। स्त्री के चरित्र पर संदेह करने वाली प्रथा को वे शास्त्रसम्मत के स्थान पर शास्त्रविकृत अवांछनीय व अनैतिक कुप्रथा मानते थे। इसके विरोध हेतु राय ने आन्दोलन, वाद-विवाद, गोष्ठियों व लेखकों का उपयोग कर जनमत निर्माण का प्रयास किया। सरकार भी इस समस्या से अवगत थी पर हिन्दू भावनाओं को ठेस लगने के डर से निष्क्रिय थी। सती प्रथा विरोधी अभियान का सहारा लेकर लार्ड विलियम बैंटिक ने एक आज्ञा जारी कर सन 1829 में सती प्रथा को गैरकानूनी घोषित कर दिया।

(2) जाति प्रथा का विरोध - जाति व उपजातियों को राय हिन्दु के मध्य विभाजन तथा असमानता का कारण मानकर देशभक्ति में बाधा मानते थे। यही विभाजन उनकी राजनीतिक कमजोरी था। अन्तर्जातीय आदान-प्रदान होने से ही यह एक बन्द व समाज था। इसी कारण उसे शताब्दियों की पराधीनता से गुजरना पड़ा।

जाति प्रथा के रॉय घोर विरोधी थे। यह इस्लाम, सूफी व उपनिष्दों के साथ-साथ पाश्चात्य प्रभाव भी था। एक व्यक्ति की श्रेष्ठता अथवा हीनता की कसौटी उसके व कर्म हैं, न कि जन्म। जातीय एकीकरण हेतु राय अन्तर्जातीय भोज तथा अन्तर्जातीय को प्रोत्साहित करते थे। शास्त्र के आधार रूप में उन्होंने उस, वंश व जाति के बंधन से रहित शैव विवाह पद्धति का समर्थन किया।

राजनीतिक दलों व राजनीतिज्ञों द्वारा वोट बैंक राजनीति हेतु ज़ाति व आरक्षण का प्रयोग (या दुरुपयोग) आज भी हमें जातिविहीन समाज की या अविभाजित मुक्त समाज की संकल्पना की सार्थकता व प्रासंगिकता याद दिलाता है। अत्यधिक वैज्ञानिक विकास तथा जातिगत लचीलेपन व आदान प्रदान के उपरान्त भी अन्तर्जातीय, अन्तर्धर्म के विवाह से उद्भूत हत्याएँ, विवाद व झगड़े आज भी राय की कल्पना को स्वप्न ही दर्शाते हैं।

(3) नारी अधिकार एवं नारी हित का समर्थन - नारी स्वतंत्रता, अग्रदूत के रूप में राय ने हिन्दू नारी के साथ हो रहे अन्याय व अत्याचार का विरोध किया उसे सम्मान व समानता दिलाने का भी समर्थन किया।

(A) सती प्रथा का विरोध व सरकार द्वारा इसे निषेध करवाना राय के दसवर्षीय आन्दोलन का परिणाम था।

(B) विधवा विवाह-राय विधवा विवाह को कुछ स्थितियों में वांछनीय समझते थे, विशेषकर बाल विधवाओं के लिए।

(C) स्त्री शिक्षा पर बल-पुरुषों के समान ही राय स्त्री शिक्षा के समर्थक थे।
प्रौढ़ विधवाओं के लिए राय आत्म सम्मान हेतु शिक्षा पर बल देते थे। वे स्त्रियों को मंदबुद्धि मानने को तैयार नहीं थे वरन् उन्हें लीलावती, गार्गी, मैत्रेयी के विदुषी बनने

को प्रेरित करते थे। इन नामों से वे नारी शिक्षा को शास्त्रसम्मत भी बताते थे। स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में राय अधिक कुछ कर नहीं पाये।

(D) बहुपत्नी विवाह का विरोध - कानून द्वारा ऐसी व्यवस्था राय का स्वप्न थी जिससे कोई भी हिन्दू एक मजिस्ट्रेट से लाइसेंस लिये बिना पहली पत्नी के जीवनकाल में दूसरा विवाह न कर सके। केवल शास्त्रसम्मत कुछ परिस्थितियों में ही दूसरे विवाह की अनुमति थी।

(E) स्त्री को मृत पति की संपत्ति में अधिकार का समर्थन-इस सन्दर्भ में उचित अधिकार न देने के राय विरोधी थे। प्राचीन हिन्दू धर्मशास्त्र व न्यायशास्त्र की स्त्री को पति की संपत्ति में पुत्रों के समान भाग देने की व्यवस्था विकृति के कारण शून्य कर दी गयी थी। राय इस अधिकार को पहले की भांति स्थापित करना चाहते थ। उनके अनुसार इससे विधवा असम्मान व संकट से भी बच सकेगी। राय का प्रयास हिन्दू विधवा के जीवनकाल में मृत पति की संपत्ति में समुचित आधा भाग देने तक सीमित था, चौथाई भाग पुत्रों व चौथाई भाग पुत्रियों में बंटे, जिससे स्त्री आत्मनिर्भर रहे। संपत्ति के विषय में उनके दो निबन्ध थे जिनमें प्राचीन मनीषियों मनु, याज्ञवल्क्य, कात्यायन आदि के उद्धरण थे। ये थे पूर्वजों की सम्पत्ति के ऊपर हिन्दुओं के अधिकार (On the Rights of the Hindus over Ancestral Property) तथा (On morden Enroachments on the Asian Right of Female) स्त्रियों के प्राचीन अधिकारों पर आधुनिक आघात।

(F) दहेज प्रथा समान कन्याओं की बिक्री का विरोध-इससे बेमेल विवाह होते थे। बाल विधवाओं की संख्या तथा उन पर अमानवीय व्यवहार में वृद्धि होती थी।

(G) देवदासी प्रथा का विरोध-देवदासी प्रथा ईश्वर के नाम पर पूजा स्थलों में व्यभिचार था।

(4) बलि प्रथा का विरोध - ईश्वर को प्रसन्न करने हेतु बलि देने को राय अंधविश्वास के नाम पर हत्या मानते थे और इसका विरोध करते थे।

(5) परम्पराओं के अन्धानुकरण को विरोध - विवेक व बुद्धि की कसौटी पर परम्पराओं की परीक्षा आवश्यक है। केवल रूढ़ि के तौर पर अपनाना अविवेकपूर्ण हो सकता है।

(6) संसदीय एवं विनम्र भाषा का समर्थन - अशिष्ट व अपशब्द युक्त अपमानजनक भाषा का राय विरोध करते थे। अपनी बात स्पष्ट रूप से पर बिना अशिष्टता के व्यक्त करना उनकी विशेषता था।

(7) समुद्र यात्रा - उस समय समुद्र पार कर विदेश जाना वर्जित था। राममोहन राय ने इस रूढ़ि को स्वयं इंग्लैण्ड जाकर तोड़ा।

राय द्वारा स्थापित आत्मीय सभा में भी हिन्दू धर्म के साथ-साथ सामाजिक समस्याओं पर भी नियमित चर्चा होती थी। जैसे - जाति-भेद की समस्या, पंक्ति भोजन और निषिद्ध खाद्य की समस्या, बाल विधवा और कठोर ब्रह्मचर्य पालन, बहु विवाह प्रथा, सती प्रथा, मूर्ति पूजा आदि। इस सभा को वर्तमान बंगाल की प्रथम समाज सुधार संस्था कह सकते हैं। ब्रह्म समाज ने तटस्थ, धर्म निरपेक्ष मार्ग का अनुसरण कर विविध धर्मानुयायियों में एकता का प्रयास किया।

वैयक्तिक तथा स्वैच्छिक संगठित प्रयासों के साथ-साथ राय सरकार से कानून द्वारा भी सामाजिक कुरीतियों पर अंकुश लगाना चाहते थे।

अपने सामाजिक-धार्मिक विचारों से राममोहन राय कलकत्ता के कुछ प्रतिभाशाली एवं प्रभावपूर्ण व्यक्तियों के प्रिय बन गये; जैसे-द्वारकानाथ ठाकुर, प्रसन्न कुमार ठाकुर, नंद कुमार बोस, आनन्द प्रसाद बनर्जी, राजा कालीशंकर घोषाल, ब्रज मोहन मजूमदार, डा. राजेन्द्र लाल मित्र आदि

6.7 राजनीतिक विचार

गोपाल कृष्ण गोखले, तिलक और सुरेन्द्र नाथ बनर्जी जैसे न होते हुए भी राजनीति में राय की रुचि थी। यूरोप विशेषत: इंग्लैण्ड की राजनीति का ज्ञान था। राजनीति राजनैतिक संगठनों तथा संस्थाओं के व्यवहार का राय ने गहन किया था। जनता की शिकायतों को सत्ता के केन्द्र तक ले जाने के प्रथम प्रयासों के कारण सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने उन्हें भारत में संवैधानिक आन्दोलन का जनक कहा।

उस समय जनता में नागरिक अधिकारों के विषय में चेतना नहीं थी और न कोई सरकार के समक्ष अपनी बात / शिकायतें रखने की सोचता था। राय ने भारत में व इंग्लैण्ड में भारतीय पक्ष शासन सत्ता के समक्ष व ब्रिटिश जनता व प्रैस के समक्ष प्रस्तुत कर भारत क परिचय दिया व जनमत को दोनों देशों में तैयार किया। भारत में भी उन्होंने इंग्लैण्ड की व्याख्या की। इंग्लैण्ड प्रवास के तीन वर्षों में भारत के दावे को सुशासन हेतु उत्तरदायी लोगों के सम रखने के प्रत्येक अवसर का उन्होंने उपयोग किया। सामाजिक-धार्मिक सुधारों द्वारा राय ने राजनीतिक जागरण का आधार तैयार किया।

राय आधुनिक भारत मे संवैधानिक उदारवाद के प्रथम नेताओं में से थे। राजनीतिज्ञों आन्दोलनकर्ताओं व समाज सुधारकों. द्वारा यह उदारवादी विरासत सौ वर्ष तक जारी रही। राजनीतिक आन्दोलन के ब्रिटिश तरीकों का सूक्ष्म निरीक्षण कर राय ने शिकायतों के निराकरण हेतु संवैधानिक राजनीतिक आन्दोलन शांतिपूर्ण साधनों द्वारा चलाकर दूसरों के लिये मार्ग प्रशस्त किया। दादा भाई नैरोजी, रानाडे तथा गोखले आदि उदारवादियों (नरम दल) को इसी कारण वे अग्रणी थे। सदशासन उनकी वरीयता था। 'स्वशासन' की प्रतीक्षा हो सकती थी। श्रेय के लिए कोई भी शासक स्वीकार्य है-ब्रिटिश या सामन्तवादी राजा-महाराजा। राज्य का लक्ष्य 'लोकश्रेय' होना चाहिये।

राज्य का उद्देश्य लोकश्रेय। जो अन्य शासनों की अपेक्षा संसदीय लोकतंत्र इस लक्ष्य की प्राप्ति में बेहतर है। इसमें जनता के, जनता के द्वारा और जनता के लिए शासन है। अधिकतम लोगों को शासन व्यवस्था में भागीदारी का अवसर मिलता है, वे अपने प्रतिनिधिड़ो द्वारा शासन व्यवस्था को संचालित एवं नियंत्रित कर सकते हैं। शायद इस कारण भी रॉय ने सामलवादी देसी राजघरानों के शासन की अपेक्षा ब्रिटिश शासन को बेहतर समझा। भारतीयों को रमे अधिक नागरिक तथा धार्मिक स्वतंत्रता होने के कारण ही राय ने ब्रिटिश शासन का समर्थन। वे निरंकुश शासन या अनुदार नौकरशाही के समर्थक नहीं थे। रॉय शासक व शासितों के मध्य! घनिष्ठ

सम्बन्ध के समर्थक थे। शायद इसी कारण वे सरकार द्वारा जनता के विवेकशील तथा सम्मानित वर्गों का सद्भाव व सहयोग प्राप्त करने की इच्छा करते थे।।

रॉय के द्वारा प्रस्तावित कुछ सुझाव शक्ति पृथक्करण तथा किसानों के हित के प्रति उनके झुकाव को दर्शाते हैं। फारसी के स्थान पर अंग्रेजी की सरकारी भाषा के रूप में प्रतिष्ठा, दीवानी मामलों में भारतीय मूल्यांकनकर्त्ताओं की नियुक्ति, जूरी द्वारा अभियोग की सुनवाई, न्यायाधीश व राजस्व अधिकारी एवं न्यायाधीश व मजिस्ट्रेट के पदों का पृथक्करण, कंपनी की नागरिक सेवा में भारतीयों को अधिक संख्या में स्थान देना व कानून बनाने से पूर्व जनमत जानने का प्रयास, लगान निर्धारण का अधिकार जमींदार के स्थान पर कंपनी के हाथ में।

राय के राजनीतिक विचारों में लोकश्रेय, स्वशासन एवं को झलक दिखती है। व्यक्ति, उसकी गरिमा तथा स्वतंत्रता का प्रेम उनके चिंतन तथा कार्यो का आधार है।

6.6.1 स्वतंत्रता - स्वतंत्रता के इस प्रेम की जडें हिन्दुत्व के व पाश्चात्य साहित्य दोनों से उपजती दीखती हैं।

वैश्विक राय को स्वतंत्रता व्यक्ति तथा देश दोनों के लिए अनिवार्य जान पड़ती है। स्वतन्त्रता की सफलता में राय का विश्वास **आशावादी** है। स्वतंत्रता का उनका प्रेम देश की सीमाओं संकुचित न होकर **वैश्विक** है। विश्व के किसी भी कोने में होने वाली स्वतंत्रता की मांग उनके लिए सहानुभूतिपूर्ण थी-चाहे नेपल्स हो या कहीं और। यूरोपीय स्वतंत्रता व भातत्व की अवधारणा संकीर्ण थी। उसमें एशियाई व निर्बल देशों व समाजों के लिए कोई स्थान नहीं था।

बहु आयामी स्वतंत्रता - राय का स्वतंत्रता प्रेम उनके धार्मिक-सामाजिक-राजनीतिक विचारों कार्यों-सुधारों में व्यक्ति की गरिमा की स्थापना, संविधानिक शासन, रूढियों के अंधानुकरण के स्थान पर तर्क व विवेक से परीक्षण (जाति विभाजन, मूर्ति पूजा, बलि प्रथा, बहु देववाद, सती प्रथा विरोध आदि) में दृष्टिगोचर होता है।

राजनीतिक क्षेत्र में रॉय का स्वत्रन्ता प्रेम, संवैधानिक शासन, नागरिक अधिकारों, नारी अधिकार, प्रेस की स्वतंत्रता, शक्ति पृथक्करण के समर्थन में मुखरित होता है

(A) व्यक्ति की निजी स्वतंत्रता का समर्थन पर सामाजिक हित हेतु राज्य के हस्तक्षेप को स्वीकृति।

(B) राष्ट्रों की स्वांतत्र्य का समर्थन जैसे-यूरोपीय राज्य व एशियाई उपनिवेश। फ्रांसीसी क्रांति के स्वतंत्रता, समानता व बंधुत्व तथा अमेरिका स्वतंत्रता की घोषणा से राय प्रभावित थे।

(C) स्वतंत्र एवं लोकतांत्रिक शासन का समर्थन-स्वतंत्रता संघर्ष में रत सभी व्यक्तियों को (जाति, धर्म, राष्ट्रीयता के भेदभाव के रहित) राय का समर्थन था। जैसे-तुर्कों के साम्राज्यवाद के विरुद्ध यूनानी संघर्ष, दक्षिण अमेरिका स्वतंत्रता संग्राम, स्पेन के गृहयुद्ध में उदारवादी लोकतांत्रिकों का, 1822 में अंग्रेजों के दमन के शिकार आयरलेण्ड के कैथोलिक आदि के प्रति सहानुभूति। स्वतंत्रता प्रेम के कारण ही वे संवैधानिक शासन के पक्षधर थे व निरंकुश शासन के विरोधी थे।

(D) प्रेस की स्वतंत्रता का समर्थन-प्रेस की स्वतंत्रता को जनता व सरकार के मध्य संवाद हेतु व जनमत के लिए आवश्यक सुरक्षा नली मानते थे। सरकारी अनियमितताओं व अत्याचारों को बताने हेतु भी लोकतंत्र के रक्षक की भूमिका स्वतंत्र प्रैस निभाती है। जॉन एडम्स द्वारा अपने पूर्ववर्ती गवर्नर जनरल लार्ड हेस्टिंग्स की प्रैस के प्रति उदार नीति के स्थान पर एक कठोर प्रैस अध्यादेश जारी कर समाचार पत्र / पत्रिका के प्रकाशन हेतु लाइसेंस की व्यवस्था की गयी। सरकार के प्रति निष्ठा रखने वालों को ही अनुमति प्राप्त होती। रॉय व साथियों ने इस अध्यादेश के विरु (आपत्ति के प्रदर्शन, प्रार्थना पत्र पहले उच्चतम न्यायालय तथा फिर ब्रिटिश राजा (किंग-इन-काउंसिल) के समक्ष प्रस्तुत किया। कलकत्ता के प्रभावशाली तथा सम्मानित व्यक्तियों के हस्ताक्षर वाले ये स्मरण पत्र प्रेस की स्वतंत्रता के लिए जोरदार प्रभावशाली अपील थे जो निकल रहे। सोफिया कीलेट ने तो इन्हें राय की उदात्ततम अंग्रेजी रचना कहा। ज्ञान के प्रसार तथा मानसिक विकास के लिए सहायक होने के साथ-साथ शासन की गुणवत्ता में भी प्रेस की स्वतंत्रता सहायक होती है। विरोध प्रदर्शन हेतु राय ने अपने समाचार पत्र मिलत-उल (फारसी) का प्रकाशन रोक दिया। वे अपरिमित स्वतंत्रता के पक्षधर नहीं थे। आवश्यकता पड़ने पर अधिक बंधन भी स्वीकार्य थे (मानहानि सम्बन्धी कानून द्वारा स्थापित बंधन को ही राय पर्याप्त मानते थे)। प्रेस की स्वतंत्रता की मांग सरकार को मजबूत बनाने के लिए ही थी।

(E) ब्रिटिश शासन का समर्थन-ब्रिटिश शासन, कानून प्रणाली, उनके ज्ञान, बुद्धित्व, संतुलित आचरण के विषय में ज्ञान प्राप्त कर राय ब्रिटिश शासन के पक्षधर हो गये। यह झुकाव भारत की अंग्रेजी शासन से होने वाले लाभ, नागरिक तथा धार्मिक स्वतंत्रता के कारण भी थी जो कि पूर्ववर्ती शासकों के निरंकुश शासन से भिन्न था। ये अधिकार संभवत: नागरिक स्वतंत्रता,सामाजिक आनन्द, स्वतंत्र शिक्षा, जीवन व संपत्ति के, विचारों की स्वतंत्रता व धार्मिक उपासना से संबद्ध थे। इसी कारण राय ने ब्रिटिश को भारतीयों का सौभाग्य बताया। इसके शताब्दियों तक जारी रखने की कामना करते थे। (Bramhanical Magazine Article, no नोव. 15, 1823 Pt। Shiv Pd Sharma)

विश्वनाथ प्रसाद वर्मा ने भारत के आधुनिक काल का निर्माता माने जाने वाले, यूनान व नेपल्स आदि की राजनीतिक स्वाधीनता में रुचि रखने वाले राय के शताब्दियों तक भारत में ब्रिटिश शासन की प्रार्थना करने पर आश्चर्य किया है। राय स्वतंत्रता के प्रशंसक थे पर शहीद नहीं थे। वे देशप्रेमी थे। बौद्धिक समाज सुधारक व विद्वान थे। 1818 में मराठे पं सिक्स स्वाधीनता के लिए संघर्ष में रत थे। स्वराज्य राय का लक्ष्य नहीं था। शक्ति के आधार भारत ब्रिटेन से मुकाबला नहीं कर सकता था। उस समय ब्रिटेन विश्व में सर्वाधिक शक्ति सम्पन्न था। दूसरे रॉय मूलत: एक सामाजिक सुधारक थे। उन्होंने पश्चिमी सभ्यता के बुद्धिवाद व उदरवाद को स्वीकार कर बहुत सी सामाजिक कुप्रथाओं-कुरीतियों व रुढ़ियों को हिन्दू समाज से छूकर उसे

जाग्रत व विवेकयुक्त करने का प्रयास किया। राजनीतिक स्वतंत्रता का बिगुल बजाने वाले नेताओं में फड़के चाकेकर लोकमान्य तिलक आदि महाराष्ट्र के नेता हैं।

6.7.2 मध्य मार्ग का अनुसरण - पुनर्जागरण के प्रारम्भिक उदारवादी नेताओं की भांति राय दूरदर्शी लाभ हेतु धीमी गति से किये गये सुधारों का समर्थन करते हैं। इंग्लैण्ड से 'रिफार्मर' (Reformer) नामक पत्रिका को भेजे गये पत्र में अंग्रेजों के शासन में भारत को प्राप्त ज्ञान व लाभों हेतु व भविष्यगामी लाभों के लिए स्थिति में सुधारार्थ जल्दबाजी न करने की सलाह देते हैं।

6.7.3 राज्य का कार्यक्षेत्र - उदारवादी राय व्यक्तिवादी हैं। संपत्ति के अधिकार व व्यक्तिगत स्वतंत्रता के पक्षधर हैं। शक्तिशाली व सम्पन्न मध्यवर्ग अस्तित्व की महत्ता को स्वीकारते हैं। किन्तु वह न तो यद्भाव्यम् (Laissezfare) को स्वीकारते है और न समाजवाद को। कल्याणकारी राज्य जैसी अवधारणा के अनुसार वह राज्य से सतीप्रथा जैसी कुरीति का निषेध चाहते हैं तो राज्य द्वारा किसानों को जमींदारों के अन्याय से भी बचाने के पक्षधर हैं। सरकार को एक सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली की व्यवस्था करनी चाहिये।

6.7.4 शक्ति पृथक्करण का समर्थन - व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के मध्य शक्तियों के विभाजन के राय अच्दे शासन हेतु पक्षधर हैं, अत: भारत के लिए विधि निर्माण कार्य-व्यवस्थापिका ब्रिटिश संसद (सपरिषद् सम्राट) द्वारा होना चाहिये जो कि व्यवस्थापिका है। भारत स्थित गवर्नर जनरल (कार्यपालिका) द्वारा यह विधि केवल लागू की जानी चाहिये। कार्यपालिका एवं न्यायपालिका का सम्बन्धी कार्य एक पदाधिकारी के हाथ में नहीं होने चाहिये। कलेक्टर के पद के साथ प्रबन्धकारिणी व न्यायिक शक्ति के मिश्रण का भी राय ने विरोध किया।

6.7.5 विधि एवं न्यायिक व्यवस्था - विधि सम्प्रभु का आदेश है एवं वही विधि को परिवर्तित कर सकता है, किन्तु मान्य जनकल्याणकारी विधि कानूनद्ध में परिवर्तन स्वेच्छाचारिता से नहीं होना चाहिये। विधि का स्त्रोत अभिसमय रीति-रिवाज, रूढ़ियाद्ध सामाजिक मान्यताएँ व धार्मिक स्त्रोत भी हैं। पर सम्प्रभु की आज्ञा से ही वे विधि बन सकते हैं। विधि नैतिक दृष्टि से अच्छी या बुरी हो सकती है पर सभी विधि बाध्यकारी हैं। कुछ नैतिक नियम विधि से भी अधिक बाध्यकारी होते हैं। राय ने 1831 में बोर्ड ऑफ कंट्रोल के सामने सुझाव प्रस्तुत किये थे। उनकी पुस्तिका 'एन एक्सपोजीशन ऑफ दी रेवैन्यू एण्ड ज्यूडीशियल सिस्टम ऑफ इण्डिया' भी इन्हें बताती है।

कम्पनी का न्याय विभाग देश की परम्पराओं से दूर व अकुशल था। राय ने इस दिशा में व्यापक सुझाव प्रस्तुत किये-कार्यपालिका / शासन एवं न्याय विभागों को प्रथक करना, देश की भाषा के ज्ञाता व ईमानदार न्यायाधीशों की नियुक्ति, उच्च वेतन पर भारतीयों की नियुक्ति, जालसाजी एवं झूठी गवाही को समाप्त करना, देश के न्यायालयों का यूरोपीय लोगों पर क्षेत्राधिकार, जूरी व उसमें अवकाश प्राप्त व अनुभवी भारतीय विधिवेत्ताओं का चयन, विधि निर्माण (दीवानी-फौजदारी) में जनता (संभ्रान्त) से परामर्श, कानूनों का संक्षिप्त, स्पष्ट, सरल, संहिताकरण, न्यायालयों के निर्णयों का सार्वजनिक समाचार पत्रों में प्रकाशन, जातीय भेदभाव की

समाप्ति, न्याय पंचायत जैसी जनसंबद्ध संस्था द्वारा न्याय, रैयत की दशा के सुधार हेतु व रक्षा हेतु विधि।

6.7.6 प्रशासनिक सुधार - प्रशासनिक व्यवस्था हेतु राय के सुझाव थे-किसानों पर लगान की दर घटाना, सिविल सेवकों की आयु कम से कम 22 वर्ष, भारतीय सेवाओं में अधिक संख्या में योग्यतानुसार दायित्वपूर्ण पदों पर भारतीयों की नियुक्ति, उच्च वेतन वाले अंग्रेज कलेक्टरों के स्थान पर निम्न वेतनमान में भारतीयों की नियुक्ति, स्थायी सेनाओं के स्थान पर नागरिक सेनाएँ, विलासिता की वस्तुओं पर कर लगाना।

6.7.7 यूरोपवासियों को भारत में बसाना - राय उच्च चरित्र वाले संपन्न यूरोपवासियों के भातर में बसाने के पक्षधर थे। 1813 के चार्टर एक्ट से उनके भारत में भूमि खरीदने या पट्टे पर देकर बसने का निषेध था। राय के विचार से उनके भारत में अपनी पूंजी लगाकर रहने से वैज्ञानिक प्रणाली की कृषि, खनिज, व्यापार, शिल्पकला आदि का विकास संभव था। राय उन्हें शासक वर्ग का होने के नाते विशेष सुविधाएँ न देने व अपराधों पर कानून की समान दृष्टि के पक्षधर थे। 1833 के अधिकार अधिनिमय द्वारा यूरोपीय लोगों पर भारत में बसने सम्बन्धी प्रतिबंध हटा दिये गये।

6.7.8 मानवतावाद एवं विश्व भ्रातृत्व -राय विश्व भ्रातृत्व में विश्वास रखते थे और एक विश्वव्यापी धर्म का स्वप्न देखते थे जो परम्परागत बंधनों से पूरे हो। आज भी देशों के अन्दर व मध्य धर्म पर आधारित भेद वैमनस्य पैदा कर रहे हैं। सम्पूर्ण मानवता को राय एक परिवार व विभिन्न जातियों-बिरादरियों को उसकी अनेक शाखाएँ मानते थे। वे मानव सम्पर्क को विकसित करने व इसमें रुकावटों को मानव कल्याण हेतु दूर कर देना चाहते थे। इसीलिये वे सबके लिए स्वतंत्रता चाहते थे।

राय ने एक ऐसे विश्व संगठन की कल्पना की थी जिसमें राष्ट्रों के आपसी मतभेदों का पंच फैसले द्वारा समाधान हो सके। इस प्रकार की कांग्रेस की कल्पना संयुक्त राष्ट्र संघ का पूर्वाधार मानी जा सकती है। आज के आणविक युग में आतंकवाद व अन्तर्राष्ट्रीय तनाव व संघर्षों की पृष्ठभूमि में समन्वय, सहयोग अथवा संघर्ष व विनाश के दो ही मार्गों के समक्ष राय की कल्पना आज भी प्रासंगिक है।

6.8 आर्थिक विचार

लार्ड कार्नवालिस के बंगाल के भूमि प्रबन्ध से उत्पन्न समस्याओं को राय ने समझा। जमींदारी व जागीरदारी से सरकार को अपनी मांग कम करने का सुझाव दिया जिससे किसानों पर लगान कर रहे। स्वतंत्र व्यापार का राय ने समर्थन किया। वे अंग्रेजों द्वारा इंग्लैण्ड ले जा रहे माल पर से कर हटवाना चाहते थे जिससे विदेशी व्यापार में भारतीय माल की खपत अच्छी हो, परिवारिक संपत्ति पर हिन्दू स्त्रियों (पुत्री व पत्नी)के अधिकार की उन्होंने प्राचीन धर्म ग्रंथों के उद्धरण देकर वकालत की थी। भारत में उच्च चरित्र वाले सम्पन्न यूरोपीय लोगों को भारत में बसाने के पीछे भी आर्थिक विकास का कारण था। उदारवादी के रूप में राय सम्पन्न मध्य वर्ग के समर्थक थे।

बोध प्रश्न-2

प्रश्न-: सती प्रथा तथा स्वतंत्रता के सम्बन्ध में रॉय की मूल स्थिति क्या थी।

उत्तर: .....

.....

6.9. शिक्षा सम्बन्धी विचार

शिक्षाविद के रूप में राय पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान व अंग्रेजी भाषा के पक्षधर थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा शिक्षा विस्तार के लिए स्वीकृत धनराशि संस्कृत विद्यालयों पर व्यय करने के विरोध में ही राय ने 11 दिसम्बर, 1823 में लार्ड एम्हर्स्ट को पत्र लिखा। उनका विचार था कि संस्कृत शिक्षा व्यवस्था देश को अंधेरे में ले जायेगी। अंग्रेजों द्वारा 1835 में पाश्चात्य शिक्षा देने से पूर्व ही इस शिक्षा की देश में मांग थी और सभी प्रारम्भिक शैक्षिक संस्थाएँ व्यक्तिगत प्रयासों तथा गैर सरकारी संस्थाओं से सम्बन्धित थीं। इस प्रकार अंग्रेजी भाषा के समर्थकों में राय अग्रिम में नहीं हैं।

राय भारतीय जनता की प्रगति हेतु गणित, प्राकृतिक दर्शन, शास्त्र, शरीर विज्ञान एवं अन्य उपयोगी वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा देने के पक्ष में थे। वे कुलीन वर्ग को शिक्षित (पाश्चात्य शिक्षा) करना चाहते थे।

विभिन्न भाषाओं के ज्ञाता राय ने पूर्व एवं पश्चिमी ज्ञान व संस्कृति मध्य की बाधाएँ गिराने एवं सवर्ण हिन्दुओं के मध्य यूरोपीय शिक्षा के द्वारा पाश्चात्य विचारों व मनदण्डो को लाने का प्रयास किया। मिशनरी स्कूलों में पढ़ने से ईसाई बनने या जाति भ्रष्ट होने की आशंका को भी उन्होंने दूर करने का प्रयास किया।

सन् 1816- 17 में कलकत्ता में रॉय ने एक अंग्रेजी स्कूल की स्थापना की व 1822-23 में हिन्दू कॉलेज की स्थापना को भी प्रेरित किया। वेदान्त कॉलेज की राय ने भारतीय संस्कृति के प्राचीन ग्रंथों के अध्ययन हेतु किया। गीता व अनेक उपनिषदों का व्यापक प्रसार हेतु बंगाली व अंग्रेजी में अनुवाद किया। बंगाली गद्य को संवाद कौमुदी पत्र, अनुवाद व लेखों के द्वारा निरन्तर समृद्ध किया। शास्त्रार्थ में भी उन्होंने इसी भाषा का किया। नारी शिक्षा का भी समर्थन किया। यद्यपि इसमें कोई ठोस कार्य वे नहीं कर पाये।

पुरोहित वर्ग के एकाधिकार वाली प्रचलित शिक्षा पद्धति व संकीर्ण थी। मानसिक व वैचारिक स्वतंत्रता को प्रोत्साहन नहीं देती थी और न बालिकाओं व के पिछड़ी जातियों कीं शिक्षा को। इसके विपरीत पाश्चात्य शिक्षा भारत के लिए विश्व के व समृद्ध देशों में सम्मिलित होने का मार्ग थी।

6.10 सारांश

राजा राममोहन राय एक नवीन तथा आधुनिक भारत के कहलाते हैं। भारत में सामाजिक सुधार व पुनर्जागरण के अग्रिम पंक्ति के नेताओं में उनका नाम। सामाजिक न्याय की मांग तत्कालीन समय के संदर्भ में महत्वपूर्ण है। सामाजिक क्षेत्र के साथ-साथ धार्मिक, आर्थिक, प्रशासनिक, न्यायिक आदि क्षेत्रों में भी राय की पैनी दृष्टि थी। पाश्चात्य -विज्ञान व बुद्धिवाद के समर्थन के साथ भारतीय वेदान्त में राय की गहरी आस्था थी। पश्चिम उपयोगी

यांत्रिक कला व वैज्ञानिक भावना से राय समृद्ध भारत का स्वप्न देखते थे। उनके द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज तथा अन्य गतिविधियों व प्रगतिशील चिंतन ने बंगाल को सर्वाधिक प्रगतिशील व राजनीतिक पुनर्जागरण का केन्द्र बना दिया। अन्धविश्वास व रूढ़ि से बद्ध समाज में सुधार की मशाल जलाने का श्रेय राय को है। यद्यपि आज भी भारतीय समाज कर्मकाण्ड, बहुदेववाद आदि से पूर्णत: मुक्त नहीं हुआ है और न ही बंग समाज में ऐसा आमूल परिवर्तन दृष्टिगत होता है (आर. सी मजूमदार- 'ऑन राजा राममोहन राय' एशियाटिक सोसायटी)। परन्तु आज ये रूढियॉ व कर्मकाण्ड बाध्यता नहीं हैं, आदत जरूर हो सकती हैं और यही राय का आधुनिक भारतीय समाज को विशेष योगेदान है।

बंगाल में प्रारम्भ किये गये सामाजिक-धार्मिक सुधार आन्दोलन, ब्रह्म समाज व उसके उत्तरकालीन अन्य संस्थाओं-प्रार्थना समाज, थियोसोफिकल सोसायटी, आर्य समाज आदि ने ही प्रकारान्तर में राष्ट्रीय स्वाधीनता या पराधीनता से मुक्ति के संघर्ष की नींव डाली। आज भारतीय नारी को भी अपनी वर्तमान शिक्षा व स्वतंत्रता का कुछ श्रेय राय उनके समकालीन नेताओं व उनके चिंतन व गतिविधियों को देना होगा। धार्मिक उदारता, समन्वय, सहिष्णुता, व्यक्ति व प्रेस की स्वतंत्रता आदि राय के अन्य योगदान हैं जिनके लिए राय जैसे नेताओं का संघर्ष रंग लाया। इसीलिए उनकी जीवनी की लेखिका सोफिया कॉलेट ने उन्हें अतीत से भविष्य की ओर ले जाने वाले भारत का महासेतु बताया।

राय-एक तुलनात्मक दृष्टि

उनके समकालीन अनेक महान नेता थे जो सामाजिक, राजनीतिक. साहित्यिक विभिन्न क्षेत्रों में भारत के विभिन्न कोनों में कार्यरत थे। जैसे-राजा राधाकान्त देब, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविन्द घोष, स्वामी दयानन्द सरस्वती, तिलक, गोखले, रानाडे, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, विपिन चन्द्र पाल, दादाभाई नौरोजी, सी.आर दास, लाजपत राय, के. टी. तैलंग, ऐनी बेसेन्ट, मदन मोहन मालवीय, पं. मोतीलाल नेहरू, टैगोर, बदरुद्दीन तैयबजी, सर सैयद अहमद खान, ज्योतिबा फुले, ईश्वरचन्द्र विधासागर, अक्षय कुमार दत्त आदि।

इस सन्दर्भ में राजा राधाकांत देब का वनस्पति विज्ञान का गंभीर अध्ययन, वैज्ञानिक अध्ययन के प्रति समर्पण, आधुनिक संस्थाओं के संगठन में योगदान, स्त्री शिक्षा के प्रति निष्ठा, अंग्रेजी भाषा का समर्थन उल्लेखनीय है। देव के 1821 -23 के मध्य अंग्रेजी में 1500 व बंगाली में 451 प्रकाशन हैं। संस्कृत में 'शब्दकल्पदुम' जैसी उत्तम रचना है। संस्कृत में 'शब्दकल्पदुम' जैसी उत्तम रचना के लिए उन्होंने 20 वर्ष का अथक परिश्रम किया। प्रारब्ध के सहारा लेकर अकर्मण्यता का सहारा लेने वाले हिन्दू दृष्टिकोण का उन्होंने विरोध किया व अपनी समस्त ऊर्जा देश की भलाई के लिए अर्पित करने हेतु देशवासियों का आव्हान किया। उनके द्वारा अनेक शिक्षा संस्थाएँ खोली गयीं। 'कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी' के साथ वे 1817 से 1850 तक जुड़े रहे। रचनाएँ अमेरिकी सैन्दुअल जॉनसन ने देव के स्त्री शिक्षा में सक्रिय सहायता का उल्लेख किया है जबकि स्त्री शिक्षा का बाल गंगाधर तिलक जैसे नेता भी विरोध कर रहे थे। देब ने संस्कृत तथा अंग्रेजी दोनों को समान महत्व दिया संस्कृत को हिन्दू विरासत व संस्कृति की समृद्धि हेतु तो अंग्रेजी को वर्तमान समृद्ध ज्ञान हेतु। उन्होंने शासक की भाषा को

प्राथमिकता देने की पुरातन परम्परा को दर्शाया- 'हिन्दू राजाओं के समय में संस्कृत, मुस्लिम राजाओं के समय में अरबी व फारसी, आज विदेशी भाषाओं के चयन के सन्दर्भ में अंग्रेजी का पलड़ा सबसे भारी है। देब का यह दृष्टिकोण तर्कपूर्ण व राय से कहीं अधिक संतुलित है तो स्त्री शिक्षा के सन्दर्भ में रूढ़िवादी दीखते हैं। देब का उल्लेख प्राय: सती व कुगं अन्य हिन्दू परम्पराओं के सन्दर्भ में संकीर्ण व रूढ़िवादी व प्रगति विरोधी के रूप में ही किया जाता है। वास्तव में शिक्षा, स्त्री शिक्षा, व वनस्पति विज्ञान के गंभीर अध्ययन व अंग्रेजी, बंगला व संस्कृत के प्रकाशनों के सन्दर्भ में वे रॉय व तिलक से बहुत आगे व प्रगतिशील हैं। रॉय के प्रकाशनोंव उनके द्वारा स्थापित व सम्बन्धित शिक्षा संस्थाओं की संख्या देब के आगे नगण्य सी है। इतिहासज्ञों द्वारा स्थापित मिथकों में राय की अति महानता भी एक है (आर.सी. मजूमदार)

6.11 अभ्यास प्रश्न

1. राजा राममोहन रॉय भारतीय पुनर्जागरण के अग्रदूत क्यों कहलाते हैं? स्पष्ट कीजिये।
2. राजा राममोहन रॉय मूलत: एक सामाजिक सुधारक थे', विवेचना कीजिये।
3. राजा राममोहन रॉय के मुख्य राजनीतिक विचारों की व्यखाया' कीजिये।
4. राजा राममोहन रॉय के आर्थिक व न्याय सम्बन्धी विचारों का विश्लेषण कीजिये।
5. स्त्री स्वांतत्र्य हेतु राजा राममोहन रॉय का योगदान बताइये।
6. निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये
   (1) रॉय के विचारों के स्त्रोत।
   (2) रॉय के धर्म सम्बन्धी विचार।
   (3) स्वतंत्रता सम्बन्धी विचार।
   (4) राज्य का कार्य क्षेत्र।
   (5) शक्ति पृथक्करण।

6.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. सूद, ज्योति प्रसाद, आधुनिक भारतीय सामाजिक तथा राजनीतिक विचार की मुख्य धाराएँ, जयप्रकाश नाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ, 1970
2. रतन राम, रुचि त्यागी एवं के. डागर, भारतीय राजनीतिक चिंतन, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा, 1996
3. गिरीश मेहता, मॉडर्न इंडियन पालिटिकल थिंकर्स, मुरारीलाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली 2006
4. सिंह, आर. पी., एजूकेशन एंड दी इण्डियन नेशनल कांग्रेस (1885-1947), सीनेरियो पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1965

इकाई - 7

महर्षि दयानन्द सरस्वती

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 जीवन परिचय

7.3 स्वामी दयानन्द सरस्वती की रचनाएँ

7.4 दयानन्द सरस्वती के सामाजिक विचार

7.5 दयानन्द सरस्वती के शैक्षणिक विचार

7.6 दयानन्द सरस्वती के धार्मिक विचार

7.7 दयानन्द सरस्वती के राजनीतिक विचार

7.8 दयानन्द सरस्वती का राष्ट्रवाद

7.9 दयानन्द का योगदान

7.10 सारांश

7.11 अभ्यास प्रश्न

7.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची

7.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान पायेंगे -

- स्वामी दयानन्द सरस्वती का जीवन परिचय,
- स्वामी दयानन्द सरस्वती के सामाजिक, शैक्षणिक, धार्मिक एवं राजनीतिक विचारों की
- प्रासंगिकता,
- स्वामी दयानन्द सरस्वती के राष्ट्रवादी चिंतन का निरूपण एवं
- भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था में स्वामी दयानन्द सरस्वती का योगदान।

7.1 प्रस्तावना

भारत में धर्म सुधार के प्रणेताओं में महर्षि दयानन्द सरस्वती का विलक्षण स्थान है। बंगाल में जिस प्रकार राजा राममोहन रॉय ने धर्म सुधार का प्रर्वतन किया उसी प्रकार उत्तर भारत में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज और वेद दर्शन के प्रतिपादन क्रम में महत्वपूर्ण समाज सुधारों का प्रवर्तन किया। दोनों ही स्थितियों में धर्म सुधार सीमित अर्थ नहीं रखता। धर्म के माध्यम से दोनों ही विचारकों ने समाज, राजनीति और शिक्षा के क्षेत्रों में प्रासंगिक सुधारों कीं। रूपरेखाएँ प्रस्तुत की हैं। इस इकाई में आप महर्षि दयानन्द सरस्वती और आर्य समाज विषयक्र विविध प्रसंगों का सविस्तार अध्ययन करेंगे।

7.2 जीवन परिचय

आधुनिक भारत में राष्ट्रवादी चेतना को जाग्रत करने वाले स्वामी दयानन्द सरस्वती का जन्म गुजरात प्रदेश के टंकारा शहर में सन् 1824 में हुआ था। इनके बचपन का नाम मूल शंकर था। बालक मूलशंकर का जन्म एक धार्मिक परिवार में हुआ था। इनके पिता मोरवी राज्य में एक उच्च पद पर कार्य करते थे और माता धर्मपरायण उदार प्रवृत्ति की महिला थीं। अपने पिता की देखरेख में मूलशंकर ने पाँच वर्ष की आयु में शिक्षा ग्रहण करना आरम्भ कर दिया था। पिता के निर्देशन में मूलशंकर ने नीतिशास्त्रों, यजुर्वेद, काव्य, साहित्य एवं व्याकरण इत्यादि का अध्ययन कर, 14 वर्ष की अल्प आयु में पूरी यजुर्वेद संहिता को कंठस्थ कर लिया था।

दयानन्द विचारवान प्रकृति के व्यक्ति थे। किसी भी विचार मान्यता अथवा विश्वास को यथारूप में अपनाने की अपेक्षा वे उस विचार, मान्यता अथवा विश्वास का तर्कसंगत परीक्षण करते थे। चूंकि, दयानन्द का जन्म एक धार्मिक परिवार में हुआ था, इसलिये इनका व्रत, पूजा, अनुष्ठान इत्यादि में सम्मिलित होना स्वाभाविक था। एक बार, महाशिवरात्री पर्व के अवसर पर अन्य परिजनों के साथ ही बालक मूलशंकर ने भी व्रत रखा, तथा शिव मंदिर में होने वाले रात्रि जागरण में भी भाग लिया। रात्रि में धीरे-धीरे सभी भक्तजनों को नींद आ गयी, लेकिन मूलशंकर जागता रहा। तभी एक ऐसी घटना घटी जिसने मूलशंकर के मन पर ऐसा प्रभाव डाला कि परम्परागत धार्मिक अनुष्ठान, व्रत एवं मूर्ति-पूजा से बालक मूलशंकर का विश्वास ही उठ गया। मूलशंकर ने देखा कि भगवान शिव के मंदिर में शिव की प्रतिमा पर चढ़कर एक चूहा उछल-कूद कर रहा है और फल-फूल आदि खा रहा है जिन्हें उपासकों ने शिव की प्रतिमा को ईश्वर मानकर अत्यन्त श्रद्धा से उस पर चढ़ाये हैं। मूलशंकर के विचारवान मन में एक प्रश्न उपस्थित हुआ कि यह प्रतिमा ईश्वर कैसे हो सकती. है, जो एक चूहे के आतंक से अपनी रक्षा नहीं कर सकती है। उन्होंने उत्सुकतावश अपने पिता को तत्काल जगाकर इस घटना से सम्बधित अपनी शंका उनको बतायी, लेकिन पिताजी कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दे पाये। इससे बालक मूलशंकर के कोमल मन-मस्तिष्क, पर बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ा जिसके कारण मूर्ति-पूजा से उन्हें विरक्ति उत्पन्न हो गयी। पारिवर में घटी अन्य दो घटनाओं जिनमें प्रथम उनकी बहिन की मृत्यु तथा द्वितीय उनके चाचा की मृत्यु से मूलशंकर का युवा मन गहरे संताप में डूब गया तथा जीवन-मृत्यु के जटिल प्रश्नों की गुत्थियों को सुलझाने में वे संलग्न रहने लगे। मूलशंकर को सांसारिक कार्यो से विरक्ति उत्पन्न होने लग गयी, और उनका मन ईश्वर कहीं है ' इसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है। संसार में इतने कष्ट क्यों हैं' इन्हें कैसे दूर किया जा सकता है, इनसे मुक्ति के उपाय क्या हैं ? इत्यादि प्रश्नों पर विचार करने में डूबता चला गया। दयानन्द की इस नवीन उत्पन्न मनःस्थिति से उनके पिता चिन्तित हुये, उन्होंने सोचा कि मूलशंकर का विवाह कर दिया जाये, जिससे मूलशंकर सांसारिक कार्यो में पुन: रूचि लेने लग जायें तथा सांसारिक क्रिया कलापों की ओर आकृष्ट होने लगें। लेकिन मूलशंकर सांसारिक बन्धनों में बंधने कोक एकदम तैयार नहीं थे, उनके पिता द्वारा निश्चित की गई। विवाह के तिथि से कुछ दिन पूर्व ही मूलशंकर घर छोडकर चले गये और साधु बन गये तथा अपना नाम दयानन्द सरस्वती रख

लिया। सच्चा ज्ञान प्रदान करने में सक्षम गुरू की खोज में यत्र-तत्र भ्रमण करने लगे। स्वामी विरजानन्द के सानिध्य में पहुंचकर दयानन्द को अनुभव हुआ कि जिस गुरू की खोज में वे भटक रहे हैं, वह उन्हें अन्ततः मिल गया है। स्वमी विरजानन्द के शिष्यत्व में उनके अर्जित ज्ञान का परिमार्जन हुआ और वेदों की व्याख्या के प्रति उनका दृष्टिकोण सुनिश्चित हुआ। दयानन्द ने वेदों के प्रचार के लिये देशव्यापी अभियान चलाया और इसी संदर्भ में वे बम्बई पहुंचे। 19 अप्रेल 1875 को बम्बई में दयानन्द सरस्वती द्वारा आर्य समाज की स्थापना की गई। इसके उपरान्त देश के विभिन्न स्थानों पर भी 'आर्य समाज' की स्थापना में 1877 से लेकर 1883 तक दयानन्द सरस्वती संलग्न रहे। अब स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति दो प्रमुख कार्यो प्रथम, आर्य समाजों के संगठन को मजबूत बनाने में एवं द्वितीय, वैदिक धर्म एवं संस्कृति के प्रचार में लगा दी। अपने अभियान के संचालन हेतु दयानन्द सरस्वती ने पंजाब, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश एवं राजस्थान का भ्रमण किया जहाँ उन्हें अपार जन समर्थन मिला। इसी संदर्भ में 17 मई 1883 ई. को स्वामी दयानन्द सरस्वती जोधपुर पहुंचे, जहाँ जोधपुर महाराजा की एक कृपा-पात्र वेश्या नन्हीबाई ने उनके अति आदर्शवादी विचारों से खिन्न होकर धोखे से उनके भोजन में विष दिलवा दिया। जोधपुर में स्वामीजी की समुचित चिकित्सा व्यवस्था नहीं हो पायी, इसलिये भक्तों के आग्रह पर वे अजमेर चले गये, यहीं पर 30 अक्टूबर 1883 को उनका देहान्त हो गया।

7.3 स्वामी दयानन्द सरस्वती की रचनाएँ

अपने विचारों को प्रसारित करने हेतु दयानन्द सरस्वती ने तीन ग्रन्थ लिखे :-

1. ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका
2. वेदभाष्य
3. सत्यार्थ प्रकाश

स्वामी जी की उपर्युक्त की तीनों रचनाओं में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना सत्यार्थ प्रकाश है। इस ग्रन्थ में उन्होंने सभी मुख्य धर्मों का आलोचनात्मक विश्लेषण करते हुए यह सिद्ध किया कि वैदिक धर्म अन्य धर्मों से श्रेष्ठ है।

7.4 दयानन्द सरस्वती के सामाजिक विचार

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने गुरू और सत्य की खोज में भारत के बहुत बडे भाग का भ्रमण किया। भारत में व्याप्त दरिद्रता, धार्मिक विकृतियों, सामाजिक कुरीतियों, धर्म गुरूओं के स्वार्थ का उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से अनुभव किया। उनका यह विचार था कि जब तक भारत में फैली सामाजिक कुरीतियों का अन्त नहीं होगा, भारत का विकास असंभव है, साथ ही उनकी यह मान्यता थी कि सुधार की इस प्रक्रिया के लिए आवश्यक सब साधन व सामग्री भारत की प्राचीन गौरवमयी संस्कृति में ही मौजूद है।

स्वामी दयानन्द ने भारत में समाज सुधार के यथेष्ट प्रयास किए। उन्होंने हिन्दू समाज में व्याप्त कुरीतियों को दूर करने की चेष्टा की तथा समाज सुधार के विषय में समय-समय पर

अपने विचार व्यक्त किए। समाज से सम्बन्धित उनके दृष्टिकोण को निम्न बिन्दुओं के माध्यम से व्यक्त किया जा सकता है :-

(1) वर्ण व्यवस्था के पक्षधर: स्वामी दयानन्द वर्ण व्यवस्था के पक्षधर थे किन्तु उन्होंने जन्म को वर्ण व्यवस्था का आधार नहीं माना। उन्होंने गुण और कर्म को महत्ता दी। दयानन्द ने जन्म से सब मनुष्यों को समान माना। दयानन्द के अनुसार कर्म व गुण आधारित व्यवस्था रखने से सब मनुष्य अपनी उन्नति का प्रयास करेंगे क्योंकि उत्तम वर्ण वालों को यह भय रहेगा कि यदि हमारी संतान गुणहीन रही तो वह शूद्र कहलाएगी। इसी प्रकार शूद्र वर्ण का यह प्रयास होगा कि वे उन्नत स्थिति प्राप्त करें।

(2) आश्रम व्यवस्था का समर्थन: दयानन्द ने वेदों द्वारा प्रस्तावित आश्रम व्यवस्था का समर्थन किया है। वेदों में 4 आश्रमों का उल्लेख है - 1 ब्रह्मचर्य आश्रम, 2. गृहस्थ आश्रम 3. वानप्रस्थ आश्रम एवं 4. सन्यास आश्रम। दयानन्द आश्रम व्यवस्था को श्रेष्ठतम गुणों के विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण मानते हैं।

(3) विवाह सम्बन्धी विचार: स्वामी दयानन्द ने विवाह को एक पवित्र बंधन माना। उनकी मान्यता थी कि जो कन्या पिता के गोत्र तथा माता के कुल से निकट सम्बन्ध न रखती हो उसी से पुत्र का विवाह करना करना चाहिए। दयानन्द बाल विवाह के पक्षधर नहीं थे। दयानन्द विवाह के सम्बन्ध में स्त्री-पुरूष की सहमति भी आवश्यक मानते थे।

(4) पुनर्विवाह से संबंधित विचार: दयानन्द ने पुनर्विवाह का विरोध किया क्योंकि पुनर्विवाह क्लेश उत्पन्न करते हैं, उससे विवाह की मर्यादा व प्रेम नष्ट हो जाते हैं तथा पतिव्रत तथा स्त्रीव्रत धर्म का भी नाश हो जाता है। पुनर्विवाह के स्थान पर स्वामी दयानन्द ने विधवा। स्त्री को पुर्नस्थापित करने के लिये नियोग प्रथा का समर्थन किया। नियोग स्त्री व पुरूष के मध्य एक प्रकार का समझौता था, जिसमें स्त्री-पुरूष की गृहस्थी परस्पर पृथक रहती है। नियोग से उत्पन्न सन्तान समझौते के अनुसार किसी एक पक्ष (स्त्री या पुरूष) के हिस्से में आएगी तथा उसे सम्पत्ति संबंधी समस्त अधिकार प्राप्त होंगे।

(5) छुआछूत का विरोध: कर्म पर आधारित होने के कारण दयानन्द के वृणाश्रम में छुआछूत के लिए कोई स्थान नहीं है। दयानन्द के अनुसार मनुष्य होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति को उन्नति के समान अवसर प्राप्त होने चाहिए, समस्त मनुष्य जाति की समानता में विश्वास रखने के कारण ही उन्होंने शूद्रों को भी वेद पढ़ने और यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार प्रदान किया। दयानन्द स्थान-स्थान पर गए और लोगों को बताया कि अगर आपका परमात्मा में विश्वास है तो प्रत्येक मनुष्य उसी परमपिता की एक चिनगारी है। अत: आप प्रत्येक मानव प्राणी को अवसर दीजिए कि वह स्वयं को पूर्ण बना सके।

(6) नारी उत्थान के पक्षधर: दयानंद के समय हिन्दू समाज में स्त्रियों की दशा अत्यन्त दयनीय थी। बहु-विवाह, बाल विवाह, पर्दा प्रथा, दहेज प्रथा जैसी कुरीतियों ने स्त्रियों के जीवन को असहनीय बना रखा था। स्त्रियों को शिक्षा प्राप्ति का अधिकार नहीं था, वे सामाजिक जीवन में भाग नहीं ले सकती थीं। किन्तु वैदिक काल के सामाजिक ढाँचे के आधार पर दयानन्द

सरस्वती ने स्त्रियों को समाज में उच्च स्थान दिलाने का प्रयत्न किया। उन्होंने बहु विवाह, बाल विवाह एवं पर्दा प्रथा का घोर विरोध किया तथा स्त्री शिक्षा पर अत्यधिक बल दिया।

आर्य समाज के प्रयत्नों से स्थान-स्थान पर कन्या विद्यालय तथा महाविद्यालय खोले गए। दयानंद ने तत्कालीन समाज में व्याप्त इस धारणा का घोर विरोध किया कि स्त्री-पुरूष की अपेक्षा हीन है। उन्होंने प्रत्येक क्षेत्र में स्त्री-पुरूष समानता का समर्थन किया। उनका मत था कि पुरूषों के समान ही स्त्रियों को वेदों के अध्ययन का अधिकार प्राप्त है। स्त्रियाँ यज्ञोपवीत धारण करने की भी अधिकारिणी हैं। समाज में स्त्रियों की महत्ता बताने के लिए दयानन्द ने कहा हा, कि "जिस कुल में पत्नि अपने पति से प्रसन्न रहती है, उसी कुल में सौभाग्य और एश्वर्य का निवास होता है जहाँ कलह होता है वहाँ दुर्भाग्य और दरिद्र स्थिर होता है।

बोध प्रश्न-1

प्रश्न: स्वामी दयानन्द सरस्वती के समाज सुधार सम्बन्धी विचारो का वर्णन कीजिये।

उत्तर: .....

.....

7.5 दयानन्द सरस्वती सरस्वती के शैक्षणिक विचार

महर्षि दयानन्द ने शिक्षा के क्षेत्र में जितनी व्यावहारिक रूचि ली, उतनी बहुत कम समाज-सुधारकों ने ली। उनका दृढ़ विश्वास था कि समुचित शिक्षा के अभाव में देशवासी कभी प्रगति नहीं कर सकेंगे।

(1) दयानन्द ने शिक्षा को व्यापक अर्थ में लिया। उनके लिए शिक्षा का अर्थ था शरीर का निर्माण, इन्द्रियों की साधना और बौद्धिक शक्तियों का विकास। ब्रह्मचर्य पालन को उन्होंने सच्ची शिक्षा पद्धति की एक अनिवार्य शर्त माना और शिक्षण कार्य को चरित्रवान तथा विद्वान् व्यक्तियों के हाथों में रखना चाहा।

(2) महर्षि दयानन्द ने सेवानिवृत्त व्यक्तियों को जन-जातियों के बीच शिक्षा-प्रसार करने की सलाह दी और शिक्षा को अन्य सभी सुधारों का मूल माना।

(3) प्रारम्भिक शिक्षा के विषय में उन्होंने माता-पिता को बालक का प्रथम गुरू बताया और लिखा कि माता-पिता के उपदेश से सन्तान को जितना लाभ हो सकता है, उतना और किसी से नहीं हो सकता।

(4) दयानन्द सहशिक्षा के पक्ष में नहीं थे क्योंकि उनका विचार था कि लड़के-लड़कियों के चरित्र पर अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ता। उनका आग्रह था कि प्रत्येक समाज में छात्र-छात्राओं के लिए अलग-अलग शिक्षणालय होने चाहिए। लड़कों और लडकियों के लिए शिक्षा-पद्धति और शिक्षा के विषयों में भी आवश्यकतानुसार भिन्नता जरूरी है।

(5) दयानन्द ने नारी शिक्षा पर उतना ही बल दिया जितना की पुरूषों की शिक्षा पर। दयानन्द गुरूकलों की स्थापना की सिफारिश की जहाँ तरूण ब्रह्मचारीगण आचार्यों की निगरानी में विद्योपार्जन कर सकें। उनका कहना था कि गुरूकुलों मैं सभी वर्गों और

जातियों के बच्चों को समानता के आधार पर प्रवेश मिलना चाहिए और धनी-निर्धन के बीच कोई भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए।

दयानन्द ने एक ऐसी शिक्षा-पद्धति पर बल दिया जो पूर्ण रूप से राष्ट्रीय हो और जो ऐसे नागरिक उत्पन्न करे जिसमें समाज के प्रति कर्त्तव्यपरायणता और उत्तरदायित्व की भावना विद्यमान हो। दयानन्द ने देश को एकता के सूत्र में पिरोने के लिए हिन्दी का पूरे देश में प्रचलन आवश्यक माना, यद्यपि अपनी शिक्षा योजना में अंग्रेजी के अध्ययन के लिए स्थान रखा।

आर्य-समाज द्वारा संस्थापित शिक्षण संस्थाएँ, गुरूकुल और डी.ए.वी. कॉलेज वस्तुतः स्वामी दयानन्द के सच्चे स्मारक हैं। स्वामी दयानन्द ने आर्य समाज के उप-नियमों में भी हिन्दी को आर्य समाज के व्यवहार की भाषा बताया, इसीलिए भारत में और भारत से बाहर भी जिन देशों में आर्य समाज की शाखाएँ हैं वहाँ हिन्दी में काम होता है।

7.6 दयानन्द सरस्वती के धार्मिक विचार

स्वामी दयानन्द का प्रमुख कार्य-क्षेत्र धार्मिक था। उन्होंने हिन्दू धर्म में धार्मिक मान्यताओं के नाम पर प्रचलित रूढ़ियों और अंधविश्वासों पर प्रबल आक्रमण किये, तथा वेदों को हिन्दू धर्म का मूल स्रोत घोषित करके, वैदिक मान्यताओं के अनुसार हिन्दू धर्म की उदार और तार्किक व्याख्याएँ प्रस्तुत की।

दयानन्द ने वेदों में प्रस्तुत ऐकेश्वरवाद को हिन्दू धर्म का मूल आधार माना तथा ऐसी प्रवृत्तियों और विश्वासों का विरोध किया जो वेदों की मूल भावनाओं के विरूद्ध थीं।

(1) **धर्म की व्यक्ति-उन्मुख व्याख्या :** यद्यपि दयानन्द धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे, किन्तु उनके धार्मिक दृष्टिकोण में संकीर्णता के लिये स्थान नहीं था। दयानन्द ने धर्म की व्याख्या के प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण को अपनाया। उनके लिये 'धर्म' पूजा और अर्चना मात्र नहीं है। दयानन्द के अनुसार धर्म का अर्थ है, ईश्वर के प्रति निष्ठा रखते हुये, उदार, मानवीय और शाश्वत मानवीय मूल्यों को धारण करना। दयानन्द ने धर्म को आचरण की ऐसी व्यवस्था के रूप में अभिव्यक्त किया जो व्यक्ति को सत्य न्याय के प्रति अस्थावान् बनाती है तथा उसमें अन्याय और असत्य का प्रबल विरोध का साहस पैदा करती है। दयानन्द के अनुसार वेदों ने मनुष्य को आचरण के उन मूल्यों का सन्देश दिया है, जिनके प्रति समर्पित रहकर व्यक्ति धर्मनिष्ठ व्यवहार कर है। उनके अनुसार "ईश्वर ने वेदों में मनुष्यों को जो कुछ करने की आज्ञा दी है, वही 'धर्म' और जिसे करने की प्रेरणा नहीं दी है, वही 'अधर्म' कहलाता है जिसके आचरण करने संसार में उत्तम सुख और परम श्रेय की प्राप्ति होती है, उसी का नाम धर्म है। "

सारतः दयानन्द ने जीवन के प्रति मनुष्य के मर्यादित और दृष्टिकोण को 'धर्म' की संज्ञा दी। उनके अनुसार व्यक्ति की अन्तरात्मा अथवा निर्मल के आदेश, व्यक्ति के धर्म-सम्मत दृष्टिकोण के सटीक मार्ग-दर्शक होते हैं।

(2) एकेश्वरवाद, तथा ईश्वर के अमूर्त स्वरूप में विश्वास तथा अवतारवाद का विरोध : दयानन्द की ईश्वर में अक्षुण्ण निष्ठा थी। वें प्रत्येक सांसारिक पदार्थ और विषय के मूल में परमेश्वर की सत्ता को स्वीकार करते थे।

दयानन्द एकेश्वरवाद के अनुयायी थे। उनके अनुसार ईश्वर के नाम भले ही अनेक हों, किन्तु ईश्वर अनेक नहीं हो सकते। उन्होंने घोषित किया कि वेदों ने को अद्‌वितीय अर्थात् एक ही बताया है तथा दूसरा ईश्वर होने का निषेध किया है। अनुसार वह ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है और उसका कोई आकार नहीं है, वह अमूर्त है। शब्दों में 'ईश्वर सदैव अद्‌वितीय है। उस परम् ब्रह्म से भिन्न कोई नहीं है, उसका निर्विवाद है। वह शून्य भी नहीं है, किन्तु जो सच्चिदानन्द आदि लक्षणों से युक्त एकभूत परमात्मा है, वही सदैव से परिपूर्ण और सर्वत्र परिव्याप्त होकर, पृथ्वी आदि सब लोकों की रचना करके उन्हें अपनी सामर्थ्य से धारण कर रहा है। वह अपने कार्य में किसी की सहायता नहीं लेता, क्योंकि वह सर्वशक्तिसम्पन्न है।

ऐकेश्वरवाद तथा ईश्वर के अमूर्त स्वरूप में सहज आस्था के दयानन्द ने हिन्दू धर्म में प्रचलित बहुदेववाद और अवतारवाद आदि का प्रबल विरोध तथा इन्हें वेद-विरूद्ध, अप्रमाणिक व विकृत प्रवृत्तियाँ माना। राम और कृष्ण जैसे चरित्रोंको, जिन्हें कि हिन्दू पौराणिक आख्यानों में विष्णु के अवतार के रूप में चित्रित किया गया है, दयानन्द इन्हें ईश्वर का अवतार नहीं, अपितु युग-प्रवर्तक महापुरूषों और सांस्कृतिक जन-नायकों के रूप में मान्यता देते थे।

(3) मूर्ति पूजा का विरोध : दयानन्द की आस्था ईश्वर के अमूर्त स्वरूप में थी। वे मूर्ति पूजा के प्रकृतित: विरोधी थे। दयानन्द के अनुसार मूर्ति पूजा वेद- है, तथा इसका कोई प्रामाणिक और तार्किक आधार नहीं है। मूर्ति पूजा की निरर्थकता का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने कहा कि सर्वव्यापी और समस्त जड़-चेतन का सृजन करने वाले ईश्वर के स्वरूप को एक पाषाण की मूर्ति तक सीमित मान लेना ईश्वर के की सर्वव्यापकता को नकारने के समान है। उन्होंने कहा "परमेश्वर निराकार व है, अत: इसकी मूर्ति हो ही नहीं सकती; यदि मूर्ति के दर्शन मात्र से परमेश्वर का हो, तो परमेश्वर के बनाये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु पहाड़ आदि पदार्थों, जिनसे कि मनुष्य भूमियाँ बनाता है, उन्हें देखकर ही परमेश्वर का स्मरण किया जा सकता है। दयानन्द ने कहा कि किसी पाषाण, काष्ठ या मिट्टी से बनी मूर्ति में ईश्वर की कल्पना करना वस्तुत: ईश्वर की सत्ता का अवमूल्यन करना है। उनके शब्दों में "जब परमेश्वर सर्वत्र व्याप्त है तो किसी एक वस्तु में परमेश्वर की भावना करना, तथा अन्यत्र न करना ऐसे है जैसे किसी चक्रवर्ती राजा को समग्र राज्य की सत्ता से पृथक करके एक छोटी सी झोपडी का स्वामी मान लिया जाए"।

दयानन्द की मान्यता थी कि ईश्वर की आराधना मूर्ति पूजा के आधार पर नहीं की जा सकती। उनका मत था कि भूमि पूजा की अपेक्षा एकाग्रतापूर्वक, पवित्र मन से,

सर्वशक्तिसम्पन्न परमात्मा का एकान्त में ध्यान करना, उस ईश्वर का ध्यान रखते हुए अपने आचरण में पवित्रता का निर्वाह करना ही ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ अराधना है।

(4) **अन्य धर्मो के संदर्भ में विचार** : दयानन्द ने ईसाई, इस्लाम, जैन व बौद्ध धर्मों की मान्यताओं की समीक्षा की, और इन धर्मों की दुर्बलताओं पर आधात किया। अन्य धर्मों की समीक्षा के प्रति दयानन्द का दृष्टिकोण पूर्वाग्रह या दुर्भावना से प्रेरित नहीं था। अपने ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' की भूमिका में उन्होंने यह स्पष्ट शब्दों में कहा कि विभिन्न धर्मों की समीक्षा के पीछे उनका मन्तव्य, किसी मतावलम्बी को दुख पहुँचाना या उस मत को क्षति पहुँचाना नहीं है। उन्होंने दावा किया उनका 'सत्यार्थ प्रकाश' विरोधी मतों के प्रति किसी भी दुर्भावना से प्रेरित नहीं है। उनका मत था कि यदि उनका दृष्टिकोण पक्षपातपूर्ण होता तो वे हिन्दू धर्म की प्रचलित मान्यताओं का विरोध करने की अपेक्षा उन्हीं का प्रचार-प्रसार करने लगते। उन्होंने जैन, बौद्ध और चार्वाक मतों की अनेक विसंगतियों को प्रकट किया तथा यह मत प्रतिपादित किया कि इन मतों में वैदिक मान्यताओं का निराधार ही विरोध किया गया है। उस समय इस्लाम और ईसाई मत के प्रचारकों द्वारा हिन्दू धर्म के विरूद्ध की जा रही आलोचना और प्रहारों का उन्होंने स्पष्ट प्रत्युत्तर दिया। 'सत्यार्थ प्रकाश' में उन्होंने मुसलमानों के धर्म कथ 'कुरान' तथा इसाईयों के धर्म–ग्रंथ 'बाइबिल' के आधार पर इन धर्मों की मूल मान्यताओं की अनेक असंगतियों व दुर्बलताओं को आलोकित किया। 'ब्रह्म समाज' और 'प्रार्थना समाज' के अनेक सिद्धान्तों की भी दयानन्द ने प्रबल आलोचना की। उन्होंने 'ब्रह्म समाज' व 'प्रार्थना-समाज' के अनुयायियों की मुख्यत: इस बात के लिये आलोचना की कि वे भारतीय संस्कृति के गौरव से विमुख हैं तथा पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के प्रति आकर्षण और प्रशंसा का भाव रखते हैं। दयानन्द ने आक्षेप लगाया कि ब्रह्म समाजियों और प्रार्थना समाजियों में देश-भक्ति का भाव बहुत न्यून है। दयानन्द ने इस बात पर आपत्ति की कि 'ब्रह्म समाज' के प्रर्वतकों ने प्राचीन साहित्य तथा संस्कृति का अध्ययन किये बिना ही, उनके प्रति उपेक्षा और निन्दा का दृष्टिकोण धारण कर लिया तथा उनकी तुलना में पश्चिमी सभ्यता व संस्कृति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन कर लिया।

(5) **धर्म सुधार के संदर्भ में संगठन, शुद्धि और प्रचार:** दयानन्द ने महसूस किया कि वैदिक मान्यताओं के अनुसार हिन्दू धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा के लिए हिन्दू धर्म में अपेक्षित सुधारों, तथा इसाई और मुस्लिम धर्म-प्रचारकों द्वारा हिन्दू धर्म के विरूद्ध किये जा रहे आक्रमण के सक्षम प्रतिरोध के लिए संगठित और संस्थागत प्रयास किये जाने की आवश्यकता थी। धार्मिक सुधारों के संकल्पित प्रयास के लिए उन्होंने 'आर्य-समाज' की स्थापना की। पूर्व में इस्लाम या ईसाई धर्म ग्रहण कर चुके भारतीयों से उन्होंने पुन: हिन्दू धर्म में सम्मिलित हो जाने का आह्वान किया। मुस्लिम और ईसाई धर्मावलम्बियों को हिन्दू धर्म में सम्मिलित करने के लिए उन्होंने 'शुद्धि आन्दोलन' चलाया। उनके शुद्धि आन्दोलन की पुराणपंथी हिन्दू पण्डितों, और ईसाई तथा मुस्लिम

धर्माचार्यों द्वारा गंभीर आलोचनाएं की गई। निस्संदेह 'शुद्धि आन्दोलन' ईसाई और मुस्लिम धर्माचार्यों के लिए एक चुनौती थी।

दयानन्द के धार्मिक विचारों की उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है उन्होंने पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर सभी धर्मों व धार्मिक मतों की दुर्बलता पर प्रहार किए, तथा भारतीयो से वैदिक मान्यताओं पर आधारित 'दोष-मुक्त' धार्मिक दृष्टिकोण को अपनाने की अपेक्षा की।

दयानन्द ने अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति विद्वेष प्रसारित नहीं किया, अपितु यह भलीभाति स्पष्ट किया कि अन्य धर्मों की आलोचना का उनका उद्देश्य केवल का संधान करना है। दयानन्द ने विशेषत: ईसाई और मुस्लिम मतों के आक्रमण से हिन्दू की रक्षा के लिए जो दृष्टिकोण अपनाया वह अहंकार और आत्महीनता दोनों दोषों से मुक्त था। उन्होंने विश्वास के साथ वैदिक मान्यताओं की श्रेष्ठता सिद्ध की और अन्य धार्मिक मतों में असंगतियों को प्रकट किया।

बोध प्रश्न-2

प्रश्न: स्वामी दयानन्द सरस्वती के मूर्ति पूजा पर विचारों को बताइये।

उत्तर: .....

.....

7.7 दयानन्द सरस्वती के राजनीतिक विचार

यद्यपि स्वामी दयानन्द ने न तो अपने युग की राजनीति में प्रत्यक्ष रूप से भाग लिया था और न उन्होंने एक राजनीतिक चिन्तक के रूप में किसी विशिष्ट सिद्धान्त का प्रतिपादन ही किया, किन्तु वे अपने युग की राजनीतिक समस्याओं और विशेषकर की भारत राजनीतिक दासता के कुपरिणामों के प्रति जागरूक थे। अत: उन्होंने धार्मिक व सामाजिक विषयो पर विचार करते हुये विभिन्न राजनीतिक विषयों पर भी अपना दृष्टिकोण प्रकट किया। यही कारण है कि उन्होंने 'सत्यार्थ प्रकाश' तथा 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' जैसे धार्मिक ग्रन्थों में एक-एक राजनीति (राजधर्म) पर भी लिखा है। यह उल्लेखनीय है कि दयानन्द के राजनीतिक विचार में उपलब्ध राजनीतिक सूत्रों, वैदिक राजतन्त्रीय एवं गणतन्त्रीय व्यवस्थाये तथा मनुस्मृति आदि के अलावा कौटिल्य के विचारों से भी प्रभावित थे :-

संक्षेप में, स्वामी दयानन्द के प्रमुख राजनीतिक विचार निम्नलिखित हैं :-

(1) समानता का समर्थन : स्वामी दयानन्द ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता के साथ ही उसकी समानता का भी समर्थन किया है। इस सम्बन्ध में एक प्रमुख तथ्य यह है कि दयानन्द ने जन्म- आधारित जाति-व्यवस्था का तीव्र खण्डन किया है, जो व्यक्तियों के बीच एवं अमानवीय असमानताएँ उत्पन्न करने वाली है। उन्होंने गुण-कर्म आधारित वर्ण- व्यवस्था का समर्थन किया है, जो अन्य व्यक्तियों पर कुछ व्यक्तियों के विशेषाधिकारों की व्यवस्था नही है। यह शुद्ध रूप से सामाजिक श्रम- विभाजन का सिद्धान्त है, जो प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यतानुसार व्यवसाय चुनने का समान अधिकार देता है। परम्परा से असमानता पर आधारित समाज के प्रसंग में दयानन्द के समानता सम्बन्धी विचारों का अत्यन्त महत्त्व है। उन्होंने तथाकथित श्रेष्ठ

वर्णों के पुरूषों के समान ही स्त्रियों व शूद्रों को वेदाध्ययन के अधिकार का खुला समर्थन किया। उनका मत है कि श्रेष्ठ जीवन के लिए आवश्यक सभी अधिकार महिलाओं व पुरूषों को समान रूप से प्राप्त होने चाहिए, अर्थात् इस विषय में लिंग, जन्म, जाति, धर्म या सम्पत्ति के आधार पर स्त्री व पुरूषों में भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। उन्होंने अन्तर्जातीय भोज एवं अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन किया। इसके अलावा दयानन्द ने अपने द्वारा स्थापित आर्यसमाज नामक संस्था में भी सभी सदस्यों को सभी भाँति समान स्तर का माना है।

व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं समानता तथा उनके उद्देश्य के बारे में दयानन्द के आदर्श को उनके इस कथन के संदर्भ में समझा जा सकता है, "प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।''

(2) लोकतन्त्र का समर्थन: दयानन्द के लोकतन्त्र सम्बन्धी विचारों पर पश्चिमी राजनीतिक दर्शन का कोई प्रभाव नहीं है। उनके विचारों का मूल स्रोत एवं आधार वैदिक राजनीतिक दर्शन एवं प्राचीन भारत की राजनीतिक परम्पराएँ है। अत: दयानन्द के राजनीतिक चिन्तन में लोकतन्त्र की मूल प्रवृत्ति तो मौजूद है, किन्तु उन्होंने वयस्क मताधिकार, सामान्य निर्वाचन, दलीय व्यवस्था अथवा मात्र बहुमत के आधार पर निर्णय आदि की प्रणाली का उल्लेख कहीं नहीं किया है। धर्मवीर शास्त्री का मत है, "वर्तमान में प्रचलित जनतन्त्र से महर्षि (द्वारा) प्रतिपादित तन्त्र दूसरा ही है जो गुणवत्ता में इससे श्रेष्ठ है। 'उन्होंने दयानन्द के जनतन्त्र को 'विशिष्ट जनतन्त्र' कहना उचित समझा है। वस्तुत: दयानन्द की लोकतन्त्र सम्बन्धी धारणा की प्रमुख बातें अग्रिलिखित हैं - (1) दयानन्द ने राजपद का समर्थन किया है, किन्तु 'वंशानुगत राजपद' तथा 'सर्वशक्तिमान राजा' की धारणा को अस्वीकार किया है। वस्तुत: उन्होंने 'राजतन्त्र' का संयोग 'गणतन्त्र' से किया है, जो उनकी दृष्टि से वेद एवं वैदिक परम्परा के अनुरूप है। दयानन्द ने राजा को मूलत: सभाध्यक्ष कहा है, उनका मत है कि सभा को अपने में से एक सर्वाधिक योग्य व्यक्ति को अपना राजा अर्थात् सभाध्यक्ष चुनना चाहिए। (2) दयानन्द ने एक व्यक्ति अथवा एक संस्था अथवा केवल प्रजाजन को सत्ता के प्रयोग का पूर्ण एवं अन्तिम अधिकार नहीं दिया है। उन्होंने सत्ता के प्रयोग का ऐसा सिद्धान्त स्वीकार है जो अपनी प्रकृति से मूलत: संवैधानिक है। दयानन्द ने सत्ता के प्रयोग में राजा, सभा (राजसभा) तथा प्रजा इन तीनों की ही पारस्परिक आधीनता एवं सहयोग को स्वीकार किया है। (3) दयानन्द ने प्रजाजन के इस अधिकार को स्वीकारा है कि वे अधर्मयुक्त (अविवेकपूर्ण) कानूनों के पालन के बारे में असहयोग कर सकते हैं। इस प्रकार उन्होंने राज्य की अनुचित विधियों के प्रति प्रजाजन को शान्तिपूर्ण अवज्ञा का अधिकार दिया है। वस्तुत: दयानन्द के इस विचार ने गाँधीजी से पूर्व ही 'सविनय अवज्ञान आन्दोलन' जैसी लोकतान्त्रिक अवधारणा की मानसिक पृष्ठभूमि तैयार की। (4) उन्होंने व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं समानता के अधिकार को स्वीकारा है और विभिन्न समुदायों के व्यक्तियों के बीच पारस्परिक प्रेम, सहयोग एवं भाईचारे की भावना पर बल दिया है। पाश्चात्य लोकतन्त्र से अपरिचित होने के बावजूद दयानन्द के विचारों में 'स्वतन्त्रता, समानता एवं बन्दुत्व' की धारणा दिखाई पड़ती है, जो आधुनिक लोकतन्त्र का मूल आधार है। (5) दयानन्द ने ग्रामीण-प्रशासन के रूप में सत्ता के विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था को स्वीकारा है।

(6) दयानन्द ने प्रजाहित को साध्य और राज्य को साधन माना है। वस्तुत: दयानन्द की राजनीतिक विचाराधारा में व्यक्ति की स्वतन्त्रता, समानता तथा प्रजाहित के तत्त्व मौजूद हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि उन्होंने बड़ी मात्रा में लोक-कल्याणकारी राज्य की धारणा को स्वीकारा है। (8) यह उल्लेखनीय है कि जहाँ आधुनिक लोकतन्त्र का एक प्रमुख आधार बहुसंख्या का सिद्धान्त है, वहाँ दयानन्द ने 'सबके हित' को ही महत्त्व दिया है। उन्होंने सर्वहितकारी नियम तथा सर्वहितकारी कार्य को ही अपनी राजनीतिक व्यवस्था का लक्ष्य माना है। दयानन्द के बाद महात्मा गाँधी ने भी 'सबके हित' की धारणा को अपने चिन्तन में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है और इस आधार पर रामराज्य' तथा 'सर्वोदय' के विचार का प्रतिपादन किया है।

दयानन्द की लोकतन्त्र में आस्था इस तथ्य से भी प्रकट है कि उनके द्वारा स्थापित आर्यसमाज नामक संस्था अपने संगठन तथा प्रक्रिया की दृष्टि से पूर्णत: लोकतान्त्रिक है।

(3) राज्य के शासन-तन्त्र का संगठन: दयानन्द ने राज्य के शासन-तन्त्र के संगठन के प्रसंग में राजा, तीन प्रकार की सभाओं तथा मन्त्रिपरिषद् का किया है। राजा का पद निर्वाचित है तथा उसकी सत्ता सभाओं तथा प्रजामत के आधीन है, अर्थात् वह किसी प्रकार निरंकुश नहीं है। दयानन्द ने राजा की स्वतन्त्रता एवं सर्वोच्चता को विनाशकारी बताया है। उन्होंने राजा को सभापति (सभाध्यक्ष) कहा है।

दयानन्द ने शासन की अग्रलिखित तीन प्रमुख संस्थाओं का किया है - राजसभा, धर्म सभा तथा विद्या सभा। उन्होंने इन तीनों सभाओं को जनता द्वारा संस्थाएँ बताया है, किन्तु इसके साथ ही उन्होंने इन सभाओं की सदस्यता के लिए अत्यन्त श्रेष्ठ प्रकार की योग्यताएँ बतायी हैं; अर्थात् उन्होंने सभी व्यक्तियों को इन संस्थाओं का सदस्य का अधिकार नहीं दिया है। इसके साथ ही उन्होंने किसी सन्यासी को भी इनका सदस्य बनाये जाने का निषेध किया है।

दयानन्द द्वारा वर्णित राजसभा को व्यवस्थापिका जैसा माना जा सकता है। राजसभा के सदस्यों को आत्म-संयमी, सत्यवादी तथा वेदों का ज्ञाता होना चाहिए। दयानन्द के अनुसार मात्र ऐसी राजसभा द्वारा बनाये गये कानून ही श्रेष्ठ हो सकते हैं और प्रजानन द्वारा पालन के योग्य होते हैं। दयानन्द का मत है कि एक हजार अज्ञानी एवं विलासी पुरूषों की तुलना में एक वेदज्ञ तथा आत्म-संयमी पुरूष का निर्णय उचित एवं अनुकरणीय होता है। सारांश यह है कि राजसभा की सदस्यता मात्र श्रेष्ठ गुणों वाले व्यक्तियों को ही प्राप्त होनी चाहिए। दयानन्द के अनुसार राजसभा को धर्म सभा के अधीन उत्तम चरित्र एवं पवित्र हृदय का भी होना चाहिए, अपितु उन्हें त्यागी, उत्तम चरित्र एवं पवित्र हृदय का भी होना चाहिए। धर्म सभा का मुख्य उद्देश्य प्रजानन का आध्यात्मिक मार्गदर्शन करना तथा उनके नैतिक चरित्र का उत्थान करना है और इस दृष्टि से यह पहले से मौजूद विभिन्न धार्मिक मतों तथा संगठनों में तालमेल स्थापित करेगी। राज्य की तृतीय प्रमुख संस्था विद्या सभा है, जिसके सदस्य ऐसे विशिष्ट विद्वानों को बनाया जा सकता है जो विभिन्न विद्याओं में पारंगत हों और उत्तम चरित्र वाले हों। विद्या सभा का प्रमुख कार्य राज्य में शिक्षा प्रचार एवं प्रसार करना है और इस दृष्टि से वह विभिन्न शिक्षा संस्थाओं का नियमन व नियन्त्रण करेगी। विद्या सभा, राज्य में अनिवार्य शिक्षा के

सिद्धान्त को लागू करेगी, ताकि सभी वर्गों व समुदाय बालकों एवं बालिकाओं को एक जैसे वातावरण में एक समान शिक्षा प्राप्त हो सके।

दयानन्द ने राज्य की एक प्रमुख संस्था के रूप में मन्त्रिपरिषद्, भी पर्याप्त महत्त्व दिया है। यह राज्य की कार्यपालिका है। राजा को सात या आठ ऐसे मन्त्रियों को नियुक्त करना चाहिए जो उसी राज्य के मूल निवासी हों, धर्मात्मा एवं चतुर हों, अनुभवी हों तथा व उचित निर्णय लेने में समर्थ, कुलीन, वीर तथा साहसी हों। दयानन्द के अनुसार राजा को रक्षा, युद्ध, सन्धि तथा शान्ति-व्यवस्था आदि जैसे सभी महत्वपूर्ण मामलों में मन्त्रिपरिषद् से विचसिवमर्श करना चाहिए। उसे मन्त्रियों के बहुमत वाले निर्णय का आदर करना चाहिए मन्त्रियों को भी राजा की इच्छा के विरूद्ध कोई कार्य नहीं करना चाहिए।

(4) व्यक्ति की स्वतन्त्रता का समर्थन: स्वामी दयानन्द ने समाज के सावयव सिद्धान्त तथा वर्ण-व्यवस्था का समर्थन किया है और उन्होंने व्यक्ति के अधिकारों के स्पष्ट राजनीतिक सिद्धान्त का भी उल्लेख नहीं किया है, तो भी यह सत्य है कि उन्होंने व्यक्ति की स्वतन्त्रता को अत्यधिक महत्त्व दिया है। उन्होंने व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा गौरव को सम्मान दिया है। वे शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक क्षेत्र में व्यक्ति के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के हिमायती हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में वे व्यक्ति को पुरोहित वर्ग की सत्ता से पूर्ण स्वतन्त्र हैं और सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में वे व्यक्ति को उस सीमा तक पूर्ण स्वतन्त्रता देने के पक्षधर हैं जिस सीमा तक यह अन्यों के लिए हानिकारक न बन जाए, अर्थात् वे व्यक्ति की स्वतन्त्रता के तो समर्थक हैं, उसकी स्वच्छन्दता के नहीं। उन्होंने व्यक्ति की स्वतन्त्रता का पूर्ण समर्थन करते हुए इस पर सार्वजनिक हित की मर्यादा को स्वीकारा है। दयानन्द का मत है, "सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियमों के पालन में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।" इस प्रकार उन्होंने सार्वजनिक हित की रक्षा एवं वृद्धि की दृष्टि से व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर समाज व राज्य द्वारा लगाये गये विवेकपूर्ण प्रतिबन्धों को उचित माना है।

(5) निरंकुशतन्त्र का विरोध और मर्यादित सत्ता के सिद्धान्त का समर्थन: स्वामी दयानन्द ने किसी भी प्रकार की निरंकुश एवं अमर्यादित सत्ता को विनाश का कारण माना है और उसका विरोध किया है, फिर चाहे ऐसी निरंकुश सत्ता राजा की हो, अथवा जन समूह की। दयानन्द के शब्दों में, "एक को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार नहीं देना चाहिए, किन्तु राजा जो सभापति है उसके आधीन सभा, सभा के आधीन राजा, राजा और सभा, प्रजा के आधीन और प्रजा राजसभा के आधीन रहे।" इसी प्रसंग में पुन: दयानन्द का कथन है, "जो प्रजा से स्वतन्त्र स्वाधीन राजवर्ग (राजा व उसके सहायक आदि) रहें तो राज्य में निवास करने वाली प्रजा का नाश किया करें। इसलिए किसी एक को राज्य में स्वाधीन नहीं करना चाहिए जैसे सिंह हष्ट-पुष्ट पशु को मार कर खा लेते हैं वैसे स्वतन्त्र राजा प्रजा का नाश करता है।"

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि दयानन्द ने राजा, सभा अथवा प्रजा इनमें से किसी भी एक की पूर्ण सत्ता को अस्वीकार करके निरंकुशतन्त्र की समस्त प्रवृत्ति का ही विरोध किया है। वस्तुत: आधुनिक शब्दों में यह कहा जा सकता है कि उन्होंने मर्यादित सत्ता के सिद्धान्त का समर्थन किया है और इसके साथ ही इस विचार पर बल दिया है कि सत्ता में

राजा, सभा तथा प्रजा की उचित भागीदारी होनी चाहिए और सत्ता का प्रयोग राजा, सभा तथा प्रजा की आपसी सहमति से किया जाना चाहिए। सत्ता के प्रयोग से सम्बन्धी इस समस्त विवरण में दयानन्द के लोकतन्त्र सम्बन्धी विचार भी निहित हैं।

(6) कर-व्यवस्था सम्बन्धी विचार : स्वामी दयानन्द ने कर-व्यवस्था के बारे में मूलत: मनुस्मृति का अनुकरण किया है। राजा व राजसभा को कर नीति ऐसी बनानी चाहिए जो राजा, राजपुरुषों तथा प्रजाजन के सुखों में वृद्धि करने वाली हो। राजा को प्रजा से इस प्रकार अल्प मात्रा मैं थोड़ा-थोड़ा वार्षिक कर लेना चाहिए जिस प्रकार जोंक, बछड़ा तथा भँवरा थोडी-थोड़ी मात्रा में अपने भोग्य पदार्थों को ग्रहण करते हैं। राजा को अति लोभ के वशीभूत होकर अधिक कर नहीं वसूलना चाहिए, क्योंकि ऐसी कर-नीति प्रजा के साथ-साथ राजा के सुख के आधार को नष्ट करता है और उनके पारस्परिक प्रेम का भी नाश करती है। राजा को व्यापारी अथवा स्वर्ण व चाँदी के शिल्पी के लाभ का पचासवाँ भाग कर रूप में लेना चाहिए। किसानों से चावल आदि अन्नों का छठवाँ, आठवाँ अथवा बारहवाँ भाग कर रूप में लेना चाहिए। वस्तुत: राजा को किसान आदि से कर रूप में इतनी मात्रा में अन्न अथवा धन लेना चाहिए कि उनके पास खाने के लिए अन्न की कमी नहीं रहे और वे निर्धन भी नहीं रहें। जब प्रजा धनाढ्य, स्वस्थ तथा भोजन आदि से सम्पन्न होती है तो राजा एवं राज्य की अत्यन्त उन्नति होती है। अत: राजा को चाहिए कि वह प्रजा को अपनी सन्तान मानकर उसकी रक्षा करे और उसे सुख दे। इसी प्रकार प्रजा को भी राजा एवं राजपुरूषों को अपने पिता जैसा मानना चाहिए। सारांश यह है कि राजा को ऐसी कर-व्यवस्था स्थापित करनी चाहिए जो राजा एवं प्रजा दोनों के लिए कल्याणकारी हो, ताकि इन दोनों के परस्पर प्रेम में वृद्धि हो और वे एक-दूसरे की उन्नति में सहायक हों।

(7) राज्य के लोक-कल्याणकारी कार्यो का समर्थन : स्वामी दयानन्द ने राज्य को एक साधन और लोक-कल्याण अर्थात् को साध्य माना है। यजुर्वेद के आधार पर राज्य को एक सावयव माना है, किन्तु इस सावयव के प्रत्येक अंग का विकास होना चाहिए, जिसमें उन्होंने राजवर्ग के साथ ही प्रजावर्ग को भी सम्मिलित किया है दयानन्द के अनुसार राजा का यह दायित्व है कि वह यह देखे कि सावयव राज्य के एक अंग के रूप में प्रजा का भौतिक एवं नैतिक विकास हो। राजा का प्रमुख कर्तव्य है कि वह पिता के समान प्रजा का पालन करे।

दयानन्द ने धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष नामक चार पुरूषार्थों की को स्वीकारा है, जो राजा को प्रजा के भौतिक, आर्थिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए करती है। उनका मत है कि कोई राजा चाहे जितना शक्तिशाली, धनवान एवं वैभवपूर्ण हो, इन गुणों का लाभ एवं महत्त्व तब ही होता है जब उसकी प्रजा का चहुँमुखी विकास हो। वस्तुत: इस स्थिति में ही राजा एवं राज्य की भी अत्यधिक उन्नति होती है।

यद्यपि दयानन्द के युग में यूरोप में राज्य के अहस्तक्षेप की नीति थी और इसकी प्रशंसा भी की जाती थी, किन्तु दयानन्द ने प्राचीन भारतीय राजनीतिक का अनुकरण करते हुये राज्य की लोक-कल्याणकारी नीति का ही समर्थन किया है।

(8) न्याय एवं दण्ड सम्बन्धी विचार: दयानन्द ने राज्य के प्रमुख कार्यों एवं दायित्वों में न्याय की गिनती की है। न्याय के द्वारा ही शक्तिशाली अपराधी से निर्बल एवं निर्दोष व्यक्ति

की रक्षा संभव है। उन्होंने अपने न्याय सम्बन्धी विवरण में मुख्यत: मनुस्मृति को आधार बनाया। राजा को न्यायिक शक्ति का प्रयोग धर्मसभा की मदद से करना है। उनके अनुसार न्यायिक के द्वारा अधर्म से धर्म को अलग किया जाता है। सरल शब्दों में, धर्मसभा न्यायिक प्रक्रिया का इस प्रकार करती है जो निष्पक्ष हो और धर्म (विधि) के अनुरूप हो। न्यायिक प्रक्रिया का संचालन न्याय के सिद्धान्तों एवं नियमों के अनुसार ही किया जाना चाहिए। इसी प्रकार न्यायिक निर्णयों को सुनिश्चित एवं परीक्षित प्रमाणों पर आधारित होना चाहिए। दयानन्द ने धर्मसभा को सर्वोच्च न्यायालय माना है और इसके निर्णयों को अन्तिम एवं अनुल्लंघनीय बताया है।

न्याय के समान ही दयानन्द ने दण्ड के सम्बन्ध में मुख्यत: मनुस्मृति का अनुकरण किया है। उन्होंने दण्ड को वास्तविक राजा माना है। मनु का अनुकरण करते हुये ने दण्ड को न्याय का प्रचारक तथा सबका शासक बताया है। इस रूप में दण्ड चारों वर्णों एवं आश्रमों तथा स्वयं राजा के धर्म का रक्षक होता है, अर्थात् इन्हें अपने-अपने धर्म का पालन को बाध्य करता है। अत: विद्वान् पुरूष दण्ड को धर्म (विधि का शासन) कहते हैं, क्योंकि दण्ड के अभाव में धर्म नष्ट हो सकता है। जहाँ दण्ड नहीं होता, वहाँ राजा, प्रजा तथा इनसे सम्बन्धित-राजनीतिक संस्थाओं की मर्यादा भी नष्ट हो जाती है जो राजा दण्ड का भलीभांति प्रयोग है उसके राज्य में धर्म, अर्थ एवं काम की अभिवृद्धि होती है, अर्थात् सामान्य कल्याण में विशेष वृद्धि होती है।

यह उल्लेखनीय है कि दयानन्द ने वैयक्तिक जीवन में क्षमा एवं अहिंसा का पर्याप्त महत्त्व स्वीकारा है, किन्तु सार्वजनिक जीवन में दुष्टों के दमन के लिए हिंसा (दंड) को, सर्वथा उचित बताया है। दण्ड सर्वोपरि है और इसलिए बिना किसी भेदभाव के सभी अन्यायी दण्डनीय होते हैं। पुन: मनु का अनुकरण करते हुये दयानन्द मानते हैं कि जो राजा दण्ड का दुरूपयोग करता है, वह दण्ड द्वारा ही पूर्ण विनाश को प्राप्त होता है। स्वधर्म का उल्लंघन करने वाले सभी स्त्री-पुरूष दण्डनीय होते हैं, चाहे वे पिता, पत्नी, बन्धु, आचार्य, पुत्र, मित्र अथवा स्वयं राजा ही क्यों हो। व्यक्ति (अपराधी) के ज्ञान, दायित्व एवं प्रतिष्ठा के अनुपात में उसके द्वारा किये गये अपराध के लिए दण्ड की मात्रा भी उतनी ही अधिक होनी चाहिए। चोरी जैसे सामान्य अपराध में शूद्र को चोरी की गयी वस्तु से आठ गुणा अधिक दण्ड दिया जाना चाहिए किन्तु उसी अपराध में वैश्य को सोलह गुणा, क्षत्रिय को बत्तीस गुणा, ब्राह्मण को चौसठ गुणा अथवा सौ गुणा अथवा एक सौ अट्ठाईस गुणा दण्डित किया जाना चाहिए। इसी प्रकार जिस अपराध के लिए एक आम आदमी को जितना दण्ड दिया जाए, उसी अपराध के लिए राजभृत्य को आठगुणा, मन्त्री को आठ सौ गुणा तथा राजा को एक हजार गुणा आर्थिक दण्ड दिया जाना चाहिए।

(9) कुशल एवं निष्ठावान प्रशासन व्यवस्था की स्थापना का समर्थन: दयानन्द के अनुसार राजा का प्रमुख दायित्व है कि वह राज्य की रक्षा एवं प्रजा-पालन की दृष्टि से सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था का संचालन करे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक है कि प्रशासन के प्रत्येक स्तर पर योग्य एवं सक्षम अधिकारियों एवं भृत्यों की नियुक्ति की जाए और उनके अधिकार

क्षेत्र, कार्यों एवं दायित्वों को भली-भाँति निर्धारित किया जाए। दयानन्द के अनुसार शान्ति-व्यवस्था, प्रजा-पालन, न्याय, शिक्षा, राज्य की रक्षा आदि प्रशासनिक कार्यों के सफल एवं प्रभावशाली संचालन के लिए पर्याप्त संख्या में राजकीय अधिकारियों एवं भृत्यों की नियुक्ति की जानी चाहिए। राजकीय अधिकारियों को ज्ञानवान, पवित्र, पुरूषार्थी (निरालस्य), साहसी तथा राजहित के साथ ही प्रजाहित के प्रति निष्ठावान होना चाहिए। उसे जितेन्द्रिय भी होना चाहिए और मुख्यत: काम एवं क्रोध के आवेगों से उत्पन्न होने वाले दोषों से मुक्त होना चाहिए।

दयानन्द ने प्रशासनिक व्यवस्था के कुशल संचालन के लिए गुप्तचरों की नियुक्ति का उल्लेख किया है, जो सभी जातियों से लिये जाने चाहिए। इन गुप्तचरों की मदद से अधिकारियों एवं प्रजापुरूषों के समस्त दोषों व गुणों की जानकारी प्राप्त की जानी चाहिए तथा जो दोषी हों उनको दण्ड तथा जो गुणी हों उनको सम्मानित किया जाना चाहिए। दयानन्द ने प्रजा-पालन की दृष्टि से प्रशासनिक सुव्यवस्था की स्थापना पर विशेष बल दिया है और इस बारे में मनु का अनुकरण करते हुये कहा है कि जिस राजा के राज्य में डाकू लोग रोती-विलाप करती प्रजा के धन तथा प्राणों का हरण करते हैं, वह महादुख को प्राप्त होता है तथा उसे अपने भृत्यों एवं अमात्यादियो सहित मृतप्राय समझा जाना चाहिए।

(10) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर विचार: स्वामी दयानन्द ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का आधार भी वेद, प्राचीन वैदिक इतिहास तथा मनुस्मृति आदि को माना है। उन्होंने स्वराज्य (राष्ट्रवाद) के साथ 'चक्रवर्ती राज्य' की कल्पना का संयोग किया है। यह उल्लेखनीय है कि यह चक्रवर्ती राज्य की धारणा आधुनिक युग की संकीर्ण, शोषणकारी, क्रूर तथा युद्ध-लोलुप साम्राज्यवाद की धारणा से एकदम भिन्न है। चक्रवर्ती राज्य ऐसे समस्त स्वतन्त्र राज्यों का संगठन है जिसका नेतृत्व ऐसे सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य द्वारा किया जाता है जिसका राजा (सभापति) सर्वाधिक गुणवान भी हो। वस्तुत: चक्रवर्ती राज्य किसी एक राजा का राज्य नहीं है, अपितु यह समस्त राज्यों का एक महासंघ जैसा है।

चक्रवर्ती राज्य की धारणा का सैद्धान्तिक आधार सार्वभौम मानववाद है जिसे दयानन्द ने 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' के विचार के रूप में प्रकट किया है जिसका सरल अर्थ है 'विश्व का श्रेष्ठ व्यक्तियों वाला समाज बनाया जाना चाहिए।' वस्तुत: यह विचार सम्पूर्ण मानव जाति के लिए ऐसी जीवन-दृष्टि (धर्म) को अपनाने का समर्थन करता है जो सार्वभौमिक नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित है और जिसे सम्पूर्ण मानव जाति सत्य भी मानती है। इस प्रकार दयानन्द ने ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा पर बल दिया है जो अपनी मूल प्रकृति से मानवतावादी एवं उदारवादी है और जिसका अन्त विश्व-बन्धुत्व एवं 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की वैदिक परम्परा में होता है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि दयानन्द ने सम्पूर्ण विश्व-राजनीति एवं व्यवस्था के प्रसंग में नैतिक एवं आदर्शवादी दृष्टिकोण अपनाया है, किन्तु इसके साथ ही उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के यथार्थवादी एवं शक्तिवादी दृष्टिकोण का भी समर्थन किया है। उनके अनुसार प्रत्येक राज्य को अपनी स्वतन्त्रता, अस्मिता एवं अखण्डता, अर्थात् 'स्वराज्य' की रक्षा के लिए समस्त यथार्थ एवं सैन्य उपाय अपनाने का अधिकार है। उन्होंने मुख्यत: मनुस्मृति का अनुकरण करते हुये अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के संचालन के लिए दूत-व्यवस्था (राजदूत से

सम्बन्धित संस्था) को स्वीकारा है और अन्य राज्यों के गुप्त उद्देश्यों, गतिविधियों एवं उनकी शक्ति संरचना (राष्ट्र शक्ति) की जानकारी के लिए गुप्तचर-व्यवस्था का समर्थन किया है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के संचालन का मूल उद्देश्य अपनी प्रजा एवं अपने राष्ट्र के हितों की रक्षा एवं वृद्धि है। अत: राजा को अपनी नीति का निर्माण इस प्रकार से करना चाहिए जो उक्त उद्देश्य की प्राप्ति की दृष्टि से तर्क संगत एवं व्यावहारिक हो। उसे विदेश नीति को लागू करने के लिए षड्गुण (संधि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय एवं द्वैधी भाव) तथा नीति के चार उपायों (साम, दाम, दण्ड एवं भेद) का कुशलता के साथ प्रयोग करना चाहिए।

दयानन्द ने यथार्थवादी एवं व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाते हुये अतर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में युद्ध के औचित्य का समर्थन किया है। किन्तु उन्होंने मुख्यत: ऐसे युद्ध का ही समर्थन किया है जो आत्मरक्षा के लिए लड़ा जाए और अनुचित विस्तारवादी उद्देश्य से युद्ध की नीति को अपनाने का निषेध किया है। इसके साथ ही उन्होंने युद्ध के दौरान युद्ध आचार-संहिता को अपनाने का आग्रह किया है, जो मूलत: सार्वभौम एवं मानवीय मूल्यों पर आधारित है।

(11) प्रशासन का विकेन्द्रीकरण तथा ग्राम-प्रशासन: स्वामी दयानन्द ने राज्य के प्रशासन की आधारभूत इकाई ग्राम को स्वीकारा है। उन्होंने केन्द्रीय प्रशासन एवं ग्रामों के बीच सावयवी एवं अभिन्न प्रशासनिक सम्बन्ध का समर्थन किया है। वस्तुत: दयानन्द ने का अनुकरण करते हुये ग्राम-प्रशासन के रूप में प्रशासन के विकेन्द्रीकरण की योजना को किया है। सम्पूर्ण ग्रामीण प्रशासन के बारे में उनके प्रमुख विचार अग्रलिखित हैं :-

(अ) प्रत्येक ग्राम का एक प्रधान (मुखिया) नामक अधिकारी होगा, ऐसे दस ग्रामों के ऊपर दूसरा अधिकारी, ऐसे बीस ग्रामों के ऊपर तीसरा अधिकारी, ऐसे एक सौ ग्रामों के ऊपर चौथा अधिकारी, ऐसे एक हजार ग्रामों के ऊपर पाँचवाँ अधिकारी, ऐसे दस हजार ग्रामों के ऊपर छठवाँ अधिकारी और ऐसे एक लाख ग्रामों के ऊपर सातवाँ अधिकारी होगा।।

(ब) दयानन्द के अनुसार ग्रामीण प्रशासन की समस्त इकाइयाँ एक श्रृंखला में बँधी हुई हैं। इस प्रशासन की निम्न इकाई का अधिकारी अपने से उच्च इकाई के अधिकारी को समस्त प्रशासनिक सूचनाएँ प्रतिवेदन के रूप में भेजेगा और आवश्यक गुप्त सूचनाएँ प्रेषित करेगा। उच्च अधिकारी का यह दायित्व है कि वह अपने से निम्न प्रशासनिक इकाई के कार्यों की समीक्षा करे तथा उसका नियन्त्रण करे।

(स) ग्रामीण प्रशासन का सर्वोच्च अधिकारी राजसभा का सदस्य होगा। वह राजसभा तथा राजा को सम्पूर्ण ग्रामीण प्रशासन की वस्तु-स्थिति की जानकारी देगा।

(12) प्रभुसत्ता एवं विधि सम्बन्धी विचार : स्वामी दयानन्द ने वंशानुगत राजतन्त्र के स्थान पर निर्वाचित राजतन्त्र का समर्थन किया है और राजा को निर्वाचित सभापति माना है। दयानन्द की राजतन्त्र सम्बन्धी धारणा गणतन्त्र के तुल्य है और इसलिए उन्होंने राजा को न तो प्रभुसत्ता का स्रोत माना है और न उसमें प्रभुसत्ता का अन्तिम निवास माना है। दयानन्द के अनुसार राजा स्वेच्छाचारी अथवा अमर्यादित रूप में शासन करने का अधिकारी नहीं है, अपितु उसकी सत्ता पर अग्रलिखित तीन प्रकार के नियन्त्रण दिखाई पड़ते हैं - (1) वेद की आज्ञा; (2) विद्यासभा राजसभा तथा धर्मसभा नामक तीन संस्थाएँ; तथा (3) प्रजामत। राजा की सत्ता पर

नियन्त्रण की दृष्टि से सर्वोच्च स्थान वेद की आज्ञा का है। वेद में ईश्वरीय विधि निहित है जो सर्वोच्च एवं अन्तिम है। प्रकार ईश्वर स्वयं सार्वभौम प्रभु है और न केवल राजा, अपितु प्रजानन भी ईश्वर के सार्वभौम के आधीन हैं। व्यवहार में दयानन्द ने ईश्वरीय विधि एवं ईश्वर के सार्वभौम प्रभुत्व को 'धर्म कहा है। संक्षेप में, दयानन्द की राजनीतिक व्यवस्था में धर्म ही प्रभु है और राजा एवं प्रजानन दोनों ही उसके आधीन है। राजकीय सत्ता उसी सीमा तक विधिक, औचित्यपूर्ण एवं अनुकरणीय हैं जिस सीमा तक यह धर्म के अनुरूप है। यदि राजकीय विधि एवं आदेश धर्म के अनुरूप नहीं हैं तो प्रजानन उनके पालन के लिए बाध्य नहीं हैं। वास्तव में राजा एवं प्रजानन दोनों का ही यह प्रमुख कर्त्तव्य है कि वे एक-दूसरे को धर्म की प्रभुसत्ता के आधीन रखने का प्रयत्न करें। दयानन्द ने इस अर्थ में ही विधि के शासन एवं विधि की सर्वोच्चता का समर्थन किया है।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि दयानन्द मात्र एक धार्मिक व सामाजिक सुधारक नहीं हैं, अपितु उन्होंने अपने सम्पूर्ण चिन्तन में राजनीतिक पक्ष को भी पर्याप्त स्थान दिया है। इसलिए वेलेन्टाइन शिरोल ने इस सन्यासी के चिन्तन का मूल्यांकन करते हुये यह मत प्रकट किया है कि अपने परिणाम प्रभाव की दृष्टि से दयानन्द की शिक्षाओं का प्रवाह हिन्दू धर्म को सुधारने की तुलना में राजनीतिक अधिक था। चमुपति का कथन है, "नि:सन्देह स्वामी दयानन्द मानवतावादी सन्त थे, किन्तु इसके साथ ही वे देशभक्त एवं राजनीतिज्ञ भी थे।"

स्वामी दयानन्द के राजनीतिक चिन्तन का कार्यक्षेत्र पर्याप्त व्यापक है। उन्होंने व्यक्ति की स्वतन्त्रता व समानता, निर्वाचित एवं मर्यादित राजतन्त्र, लोकतन्त्र, प्रभुसत्ता, विधि, न्याय, दण्ड, शासन तंत्र, प्रशासनिक विक्रेन्द्रीकरण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों आदि पर अपने विचार प्रकट किये हैं। यह सत्य है कि दयानन्द के राजनीतिक विचार प्राचीन भारतीय राजनीतिक परम्परा एवं चिन्तन से अत्यधिक प्रभावित हैं और राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र में उन्होंने किसी नये राजनीतिक सिद्धान्त को भी प्रस्तुत नहीं किया है। किन्तु दयानन्द के राजनीतिक चिन्तन का महत्त्व इस तथ्य में निहित है कि उन्होंने परम्परागत भारतीय राजनीतिक चिन्तन की मौलिक एवं उपयोगी व्याख्या की है। उदाहरण के लिए उन्होंने राजतन्त्र एवं शासन की संस्थाओं के लोकतन्त्रीकरण का समर्थन किया है, मर्यादित राजसत्ता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है तथा प्रजानन को अनुचित राजज्ञाओं एवं विधियों के उल्लंघन का अधिकार दिया है। दयानन्द की विशेषता यह है कि पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन से अनभिज्ञ होने के बावजूद उन्होंने प्राचीन राजनीतिक चिन्तन का आधुनिक प्रसंगों में नवीकरण किया है। उन्होंने समकालीन भारत के प्रसंग में इस राजनीतिक परिकल्पना को प्रकट किया है कि एक आदर्श राजनीतिक व्यवस्था कैसी होनी चाहिए। उनके चिन्तन की एक प्रमुख विशेषता यह भी है कि भले ही उनके राजनीतिक चिन्तन का मूल स्रोत धर्म है, किन्तु अपने तार्किक निष्कर्ष की दृष्टि से यह मूलत: धर्म- निरपेक्ष है। वस्तुत: प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के नवीकरण की इस प्रक्रिया में उन्होंने अनेक ऐसे तत्वों को स्वीकारा है जो अपनी प्रकृति से आधुनिक एवं प्रगतिशील हैं।

बोध प्रश्न- 3

प्रश्न: स्वामी दयानन्द सरस्वती के लोकतन्त्र विषयक विचारों को समझईये।

उत्तर: .....

.....

7.8 दयानन्द सरस्वती का राष्ट्रवाद

एक राष्ट्र निर्माता के रूप में स्वामी दयानन्द ही गणना उन थोड़े से राष्ट्रीय नेताओं में की जाती है, जो अग्रणी, पथ प्रदर्शक और प्रथम रहे हैं। वे सच्चे अर्थों में एक धर्मयुद्धकर्त्ता थे; वे हिन्दू धर्म के मुक्तिदाता, समाज के पुनर्निर्माता और स्वदेशी प्रबल समर्थक थे। भारतीय राष्ट्रीय जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं, जिसमें उन्होंने पहल न की हो और अपने विचारों और कार्यों की छाप न छोड़ी हो। भारत में शुरू किया गया प्रत्येक आन्दोलन उनकी प्रेरणा का ऋणी है। भारतीयों को एहसास कराया कि वे एक शानदार एवं श्रेष्ठ अतीत एवं परम्परा के वारिस हैं, वे अपने में एक महान् राष्ट्र रखते हैं, उन्हें अपने धर्म का परित्याग नहीं करना चाहिए। वे पहले थे, जिन्होंने इसाई प्रचारकों और इस्लाम के आक्रमणों का प्रतिवाद करके भारतीय राष्ट्रवाद स्वदेशी मोड़ दिया। उन्होंने ब्राह्मणों के पाखण्ड, उनकी सत्ता और एकाधिकार को चुनौती दी। उन्होंने पहली बार 'स्वराज्य,' 'स्वदेशी,' और 'बहिष्कार' जैसे शब्दों का प्रयोग किया, जो 1996 कलकत्ता कांग्रेस के बाद भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के आधार बन गये। वे एक अर्थशास्त्री थे, फिर भी उन्होंने एहसास कर लिया था कि अंग्रेजों की भारत विरोधी नीतियाँ भारत की दरिद्रता के लिए उत्तरदायी थीं और कुटीर उद्योगों का पुनरूद्धार ही इसका एकमात्र निदान था।

एक राष्ट्र निर्माता के रूप में दयानन्द सरस्वती का योगदान मुख्यत: निम्नलिखित है:-

(1) सुराज्य और स्वराज्य के भेद को स्पष्ट करना: स्वामी पहले राष्ट्रवादी थे, जिन्होंने सुराज्य और स्वराज्य के भेद को स्पष्ट किया। उनका कहना था, सुराज्य एक अच्छे शासन को प्रकट करता है, यह एक ऐसे शासन को प्रकट करता है, जिसमें प्रजा सुखी हो और उसे शान्ति प्राप्त हो, परन्तु यह स्वयं के स्वतन्त्र शासन को प्रकट नहीं करता, जबकि 'स्वराज्य' स्वयं के स्वतन्त्र शासन को प्रकट करता है। दयानन्द का कहना था कि 'सुराज्य' कभी भी 'स्वराज्य' का स्थान नहीं ले सकता, वह उसकी बराबरी भी नहीं कर सकता। उन्होंने संस्कृति, शिक्षा और भाषा में पले उच्च वर्ग के भारतीयों के इस दावे का खण्डन किया कि ब्रिटिश संभवत: सर्वश्रेष्ठ शासन था। दयानन्द का कहना था कि भारतीय स्वयं अपने आपको शासित करने में सक्षम और सुयोग्य हैं, वे यूरोपियों की तुलना में एक शासन का संचालन अच्छे ढंग से सकते हैं। दयानन्द कहते थे कि स्वराज्य (स्वतन्त्रता) प्राप्ति के बिना सामाजिक और आर्थिक पुनर्निर्माण के कार्य को सही ढंग से लागू नहीं किया जा सकता। दयानन्द का यह कथन तिलक के आन्दोलन का आधार बन गया।

(2) आत्म सम्मान एवं आत्मविश्वास की भावनाएँ जागृत करना : दयानन्द पहले भारतीय थे, जिन्होंने भारतीयों की सुप्त आत्माओं और निराश मस्तिष्क में समय आत्मसम्मान और आत्मविश्वास की भावनाएँ पैदा कीं, जब चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार छाया हुआ था देश की राजनीतिक सत्ता पर विदेशी (अंग्रेज) विद्यमान थे; धार्मिक और सत्ता पर पाखण्डी पण्डितों और मौलवियों का साम्राज्य था; इसाई मिशनरियाँ धर्म परिवर्तन के में जुटी हुई थीं; कुटीर उद्योगों के नष्ट होने से बेरोजगारी मुँह फाड़े खड़ी थी आदि। ऐसे समय में दयानन्द ने पुकार

की कि "अपने को पहचानो, अपने देश को जानो और समझो, वेदों की ओर और उन्हें अपना पथ-प्रदर्शक मानो, अपनी आत्माओं का समर्पण न करो, आपपी मुक्ति अन्धानुकरण में नहीं स्वयं के अस्तित्व को पहचानने में है।" इस प्रकार का एक ही लक्ष्य था 'देश की सत्ता को देशवासियों के हाथों में थमाना।'

(3) राष्ट्रीय एकता का समर्थन: दयानन्द एक पक्के और सच्चे थे। वे राष्ट्रीय एकता के समर्थक थे। वे 'फूट' के विरोधी थे। वे फूट को एक 'भयानक' रोग कहते थे। वे इसे 'दुर्योधन का दुष्ट मार्ग' कहते थे, जो देशवासियों की सभी खुशियों को छीन लेता है और उन्हें दुर्गति एवं दुःखों के गड्ढे में धकेल देता है।

(4) लोकतान्त्रिक राज्य का समर्थन: स्वामी दयानन्द एक लोकतान्त्रिक राज्य के समर्थक थे, निरंकुश या निरपेक्ष राज्य नहीं। उन्होंने एक निरंकुश शासक की तुलना जंगल के उस शेर से की है, जो जंगल के अन्य छोटे और स्वस्थ जानवरों को निगल जाता है। दयानन्द का कहना है कि एक निरंकुश या निरपेक्ष शासक किसी अन्य शक्ति या सत्ता को होने का अवसर ही नहीं देता। वह अपनी प्रजा को नष्ट कर देता है। इसीलिए दयानन्द कहते कि शासक या शक्ति या सत्ता कभी भी निरंकुश या निरपेक्ष नहीं होनी चाहिए, उस पर अंकुश या नियन्त्रण होना चाहिए।

दयानन्द भारत में ब्रिटिश शासन को एक निरंकुश व निरपेक्ष शासन कहते थे। उनका कहना था कि यही "सम्राट कानून का निर्माता है, कानून सम्राट का नहीं।" कानून अंग्रेजों को सुरक्षा प्रदान करते हैं, भारतीयों को नहीं। वे साम्राज्य विस्तार में सहायक हैं, न्याय में नहीं। ब्रिटिश शासन की इस व्याख्या के माध्यम से दयानन्द देशवासियों को सन्देश पहुंचा रहे थे कि ब्रिटिश कानून कभी भी परतन्त्र देश को स्वतन्त्रता प्रदान नहीं कर सकते।

दयानन्द कानून के शासन को, अरस्तू की भाँति, श्रेष्ठ मानते थे। इसके महत्त्व को दयानन्द ने इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है - "कानून वास्तविक प्रधान है, वह वास्तविक शासक है, वह न्याय का प्रशासक है, वह सम्राट को शासित करता है, वह प्रजा की सुरक्षा करता है, जब व्यक्ति नींद में होते हैं, कानून जागता है। इसलिए बुद्धिमान लोग कानून को ही धर्म कहते हैं। जहाँ कानून को सोच-विचार कर लागू किया जाता है, वहाँ लोगों को चहुँमुखी सुख प्राप्त होता है; जहाँ उसे बिना सोच-विचार कर लागू किया जाता है, वहाँ वह सबको नष्ट कर देता है।" दयानन्द ने शासकों को चेतावनी दी है कि यदि उन्होंने कानून का प्रयोग सही ढंग से नहीं किया, तो वे अपना अस्तित्व खो सकते हैं।

(5) स्वराज्य का मन्त्र प्रदान करना: स्वामी दयानन्द पहले राष्ट्रवादी थे, जिन्होंने भारतीयों को स्वराज्य का मन्त्र प्रदान किया। उन्होंने सिंह गर्जना की कि "भारत भारतीयों के लिए है; यहाँ यूरोपियों को कोई स्थान नहीं; उन्हें देश से निकालना भारतीयों का धार्मिक कर्त्तव्य है।" वे उन सब दुर्गुणों से भी छुटकारा पाना चाहते थे, जो यूरोपियों के आने से यहाँ पैदा हो गए थे। विशेषकर वे भारतीयों में आयी मानसिक और शारीरिक दासता से छुटकारा पाना चाहते थे। दयानन्द ने केवल इन्हीं दोषों से छुटकारा पाने का आहान नहीं किया, बल्कि उन्होंने दरिद्रता और निरक्षरता के कारण उत्पन्न अनभिज्ञता और ब्राह्मणवाद के कारण उत्पन्न जाति प्रथा मूर्ति

पूजा, रूढ़िवादिता और अन्धविश्वासों से भी छुटकारा पाने का आव्हान किया। दयानन्द कहते थे कि "हमारे कारण ही आर्यों के लिए भारत में ही स्वतन्त्रता नहीं, यहाँ उनकी अपनी कोई स्वतन्त्र और निर्भय सरकार नहीं।"

(6) स्वदेशी और बहिष्कार आन्दोलन के प्रणेता : स्वामी दयानन्द "भारतीय भारत" के प्रतीक थे। उन्होंने 'स्वराज्य,' और 'बहिष्कार' शब्दों का उस समय प्रयोग किया, जिस समय भारत में राजनीतिक चेतना का नामोनिशान नहीं था। यह सत्य है कि स्वदेशी और बहिष्कार आन्दोलन ने 1905 के बंग-भंग के उपरान्त उग्र राष्ट्रीयता का रूप धारण कर लिया था। परन्तु दयानन्द ही पहले राष्ट्रीय नेता थे, जिन्होंने कहा था कि "देश की सामान्य आवश्यकताएँ देश के अन्दर ही पूरी होनी चाहिए।" उन्हें ब्रह्म समाज के प्रति शिकायत ही यह थी कि "देशी होने के स्थान पर विदेशी अधिक थे।" दयानन्द ने इस बात को जोर देकर कहा था कि ब्रिटिश शासक भारत के उद्योग- धन्धों को कोई संरक्षण प्रदान नहीं करेंगे और इसका एकमात्र उपाय स्वदेशी आन्दोलन को शुरू करना है। दयानन्द के अनुयायी एवं आर्य समाजी लाला लाजपत राय ने विदेशी वस्तुओं एवं विदेशी न्यायालयों के बहिष्कार की नीति का आहान किया था।

(7) राष्ट्रीय भाषा एवं राष्ट्रीय शिक्षा पर बल : स्वामी दयानन्द पहले राष्ट्रीय नेता थे, जिनकी राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और पुनर्जीवन की योजना में हिन्दी को राष्ट्र भाषा का स्थान दिया गया था और सबके लिए उचित शिक्षा को "राज्य की सुरक्षा और निरन्तरता' के लिए आवश्यकता माना गया था।

दयानन्द की प्रान्तीय भाषा गुजराती थी और वे संस्कृत को सारे देश की साँझी भाषा मानते थे, क्योंकि, उसी से बहुत-सी नवीन भाषाओं की उत्पत्ति हुई है। इस पर भी दयानन्द ने हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया, क्योंकि यही एक भाषा है, जो भारत के अधिकांश क्षेत्रों में सर्वसाधारण की भाषा है। इसी के माध्यम से दयानन्द लोगों के निकट और उन्होंने हिन्दी में प्रचार करना शुरू कर दिया। उन्होंने वेदों पर टीकाएँ हिन्दी में लिखीं। दयानन्द की प्रमुख रचना सत्यार्थ प्रकाश को हिन्दी में रचा गया। दयानन्द अंग्रेजी भाषा की उपेक्षा नहीं चाहते थे, परन्तु वे विद्यार्थियों पर विदेशी भाषा के बोझ को लादना नहीं चाहते थे। वे कहते थे कि कहीं ऐसा न हो कि भारतीयों को बेकन और मिल का तो ज्ञान हो और कपिल व पातजली का ज्ञान ही न हो। राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति इस लड़ाकू दृष्टिकोण ने भारतीय राष्ट्रवाद को रैडिकल विषय प्रदान किया।

स्वामी दयानन्द ने अपनी रचना सत्यार्थ प्रकाश के छठे अध्याय में राज्य के कर्त्तव्यों का वर्णन करते हुए सबके लिए शिक्षा की व्यवस्था पर बल दिया है। उन्होंने शिक्षा व्यवस्था को राज्य का कर्त्तव्य माना है। जिस प्रकार प्लेटो ने अपनी रचना रिपब्लिक में उचित शिक्षा को राज्य का "सर्वश्रेष्ठ अभिरक्षक और सर्वश्रेष्ठ परिपोषक' की संज्ञा दी है, उसी तरह दयानन्द की "सबके लिए शिक्षा" योजना की विशेषता यह है कि जहाँ प्लेटो ने केवल शासक वर्ग के शिक्षा की व्यवस्था की है, वहाँ दयानन्द ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी की शिक्षा पर बल दिया है। सभी सुशिक्षित और अनुशासित होने चाहिए।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द एक महान् राष्ट्र निर्माता थे। जैसा कि धनपति पाण्डे ने कहा है, "दयानन्द सरस्वती ने भारतीय राष्ट्रवाद की विषय वस्तु पूर्ण, उसके क्षेत्र को विस्तृत, उसके उपागम को भारतीय, उसके स्वर को लड़ाकू और उसके आदर्शों को उत्तम बनाया।"

7.9 दयानन्द सरस्वती का योगदान

स्वामी दयानन्द सरस्वती आधुनिक भारत में प्राचीन वैदिक ऋषि परम्परा के जीवन्त उदाहरण थे। दयानन्द के चिन्तन की श्रेष्ठता का राज उनकी सत्यनिष्ठा में और उनके कर्म की महानता का रहस्य अन्याय के विरूद्ध संघर्ष करने की उनकी निर्भीकता में है। अपने इन गुणों के कारण दयानन्द का चिन्तन केवल भारत भूमि तक सीमित नहीं रह सका, जिसे वे अगाध प्यार करते थे, अपितु उनके चिन्तन में ऐसे तत्व स्वत: ही सम्मिलित हो गये जो सम्पूर्ण मानव समाज के कल्याण से सम्बन्धित थे।

दयानन्द के योगदान का संक्षिप्त उल्लेख निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है -

(1) धर्म की बुद्धिसंगत व्याख्या एवं धर्म सुधार: 19वीं सदी में हिन्दू धर्म में मुख्यत: अन्ध-श्रद्धा, चमत्कारों एवं पारलौकिक कल्पनाओं की प्रधानता थी। अज्ञान एवं अविद्या की नींव पर खड़ी धर्म की यह धारणा इस्लाम एवं इसाई मतों का मुकाबला करने में तो असमर्थ थी ही, इसने धार्मिक क्षेत्र में हिन्दुओं के पतन को भी जन्म दिया। दयानन्द ने धर्म को सत्य का पर्यायवाची माना और धर्म एवं विज्ञान को एक-दूसरे का अनुपूरक बताया। उन्होंने धर्म की सार्वभौम, उदार एवं बुद्धिसंगत व्याख्या की। दयानन्द ने त्रेतवाद द्वारा ईश्वर के साथ ही जीव (आत्मा) एवं प्रकृति की सत्यता का समर्थन किया और 'जगत मिथ्या' की निराशाजनक, अकर्मण्यतावादी एवं लौकिकवाद विरोधी मान्यता का विरोध किया। उन्होंने हिन्दू धर्म की अबौद्धिक एवं हानिकारक परम्पराओं का विरोध किया और बौद्धिक स्वतन्त्रता का समर्थन किया। के.पी. जायसवाल के अनुसार, "उन्होंने हिन्दू आत्मा को रूढ़िवाद तथा अन्धविश्वास के बन्धनों से उसी प्रकार मुक्ति दिलायी जिस प्रकार यूरोप की आत्मा को लूथर ने दिलायी थी।"

(2) स्वराज्य के प्रथम सन्देश-वाहक: स्वामी दयानन्द भारत की दासता से अत्यन्त दु:खी थे और वे भारत को स्वतन्त्र देखना चाहते थे। उन्होंने अनुभव कि भारत की राजनीतिक दासता की पृष्ठभूमि भारत के धार्मिक व सामाजिक पतन ने तैयार की थी। अत: दयानन्द ने धार्मिक व सामाजिक सुधारों के माध्यम से राष्ट्रवाद के उत्थान के लिए कार्य किया। उन्होंने भारत में धार्मिक व आध्यात्मिक राष्ट्रवाद की नींव रखी, सामाजिक उत्थान के माध्यम से राष्ट्रीय उत्थान के प्रयत्न किये और भारतीयों को उनके ऐतिहासिक गौरव से परिचित कराके उनमें राष्ट्रीय स्वाभिमान उत्पन्न किया। दयानन्द ने ब्रिटिश शासन द्वारा स्थापित तथाकथित 'सुराज' (सुशासन) के दोषों को बताते हुये भारतीयों के लिए 'स्वराज' का लक्ष्य निर्धारित किया। दयानन्द ने भारतीयों के लिए स्वराज का समर्थन उस समय किया जब निराशा व कुण्ठा में डूबा सामान्य भारतीय इसकी कल्पना भी करने में असमर्थ था; और इसी प्रकार ब्रिटिश शासन की सफलता, भौतिक उपलब्धि, प्रभाव एवं शक्ति से चकाचौंध एवं भयभीत शिक्षित व कुलीन भारतीय स्वराज

की चर्चा से भी कतराते थे। इसी कारण से तिलक ने आधुनिक भारत के प्रसंग में दयानन्द को स्वराज का प्रथम सन्देश-वाहक कहा है। दयानन्द ने राष्ट्रीय उत्थान एवं स्वराज की प्राप्ति के एक साधन के रूप में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्वदेशी की धारणा पर बल दिया, जिसमें विदेशी के बहिष्कार का भाव स्वत: ही निहित था। रोम्यां रोलां के अनुसार, "दयानन्द ने ऐसी कोई प्रत्यक्ष कामना की थी, अथवा नहीं, किन्तु उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज ने सन् 1905 के बंगाल के विद्रोह के मार्ग को प्रशस्त किया था। वह राष्ट्रीय पुन: निर्माण तथा संगठन के अत्यन्त प्रबल पैगम्बरों में से एक थे।"

दयानन्द के राष्ट्रवादी विचारों ने भारतीयों को 'मानसिक दासता' के कुसंस्कार से मुक्ति दिलायी और राजनीतिक क्षेत्र में अन्याय एवं दासता के विरोध के लिए भारतीयों में निर्भीकता एवं चारित्रिक दृढ़ता के गुणों का विकास किया। भारतीय राष्ट्रवाद के उत्थान में दयानन्द के योगदान का मूल्यांकन इस तथ्य के आधार पर किया जा सकता है कि अनेक क्रान्तिकारी उनके सन्देश से प्रभावित थे और रानाडे, गोखले, तिलक, लाजपतराय, महात्मा गाँधी आदि अनेक राष्ट्रीय नेताओं ने विभिन्न रूपों में उनके विचारों का अनुकरण किया था। वास्तव में भारत में राष्ट्रीय चेतना के जन्म, प्रसार एवं उत्थान में दयानन्द का योगदान अग्रगण्य है।

(3) प्राचीन भारतीय राजशास्त्र का पुनरोत्थान: भारत में ब्रिटिश राज की स्थापना के साथ जिस शिक्षित भारतीय मध्यवर्ग का उदय हुआ, वह पाश्चात्य राजनीतिक विचाराधारा से अत्यधिक प्रभावित था। यह वर्ग लॉक, बर्क, रूसो, माण्टेस्क्यू आदि के विचारों को भारतीयों के लिए अनुकरणीय मानता था, किन्तु मनु, कौटिल्य, शुक्र भीष्म, व्यास आदि प्राचीन भारतीय राजशास्त्रियों से प्राय: अपरिचित था, अथवा इनमें उनकी कोई रूचि नहीं थी। इसके विपरीत स्वामी दयानन्द पाश्चात्य राजनीतिक विचारों एवं सिद्धान्तों से पूर्णत: अपरिचित थे और प्राचीन भारत की महान् राजनीतिक उपलब्धियों के प्रशंसक थे। स्वराज व स्वदेशी के समर्थक के रूप में उनकी एकमात्र रूचि प्राचीन भारतीय राजशास्त्र में थी। इस क्षेत्र में स्वामी दयानन्द की विशेषता यह है कि उन्होंने प्राचीन भारतीय राजशास्त्र का मात्र अनुकरण ही नहीं किया, अपितु उन्होंने सामाजिक परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के अनुसार उसकी उपयोगी व्याख्या भी की। उन्होंने प्राचीन भारतीय राजशास्त्र में निहित संवैधानिक तत्वों का विकास किया, दूसरे शब्दों में इसका आधुनिकीकरण किया। दयानन्द ने प्राचीन भारतीय राजशास्त्र की मौलिक व्याख्या करते हुये व्यक्ति की स्वतन्त्रता व समानता, मर्यादित सत्ता तथा निर्वाचित राजतन्त्र का समर्थन किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने शासन के संगठन, प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण, प्रभुसत्ता, विधि, न्याय, दण्ड तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर भी युगानुरूप विचार प्रकट किये। उन्होंने प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के आधार पर आधुनिक भारत के लिए आदर्श राजनीतिक व्यवस्था की कल्पना को प्रस्तुत किया। यह उल्लेखनीय है कि दयानन्द के उपरोक्त प्रयत्नों के फलस्वरूप शिक्षित भारतीय प्राचीन भारतीय राजशास्त्र की श्रेष्ठता एवं उपयोगिता से परिचित हुये और इसके अध्ययन में शोध की परमपरा विकसित हुई। पुन: इससे भारतीयों में स्वराज व स्वदेशी की भावना भी विकसित हुई।

(4) वेद की पुन: प्रतिष्ठा: सदियों से हिन्दू धर्म के विभिन्न मतों एवं सम्प्रदायों की अगाध श्रद्धा का केन्द्र वेद रहे हैं, किन्तु व्यवहार में इन मतों एवं सम्प्रदायों ने वेद के पठन-पाठन की परम्परा की उपेक्षा की, अथवा उनकी संकीर्ण व अनुदारवादी व्याख्याओं को अपनाया। दयानन्द को इस बात का श्रेय जाता है कि उन्होंने हजारों साल बाद हिन्दू समाज के आकर्षण का केन्द्र न केवल वेद को बनाया, अपितु उन्होंने इनकी सार्वभौम धर्म के अनुसार व्याख्या की और इनके आधार पर भारत में धार्मिक एवं सामाजिक सुधारों का दौर शुरू किया और स्वराज की चेतना भी उत्पन्न की। वस्तुत: इस दृष्टि से दयानन्द द्वारा वेद की पुन: प्रतिष्ठा भारतीय इतिहास की एक क्रान्तिकारी घटना मानी जा सकती है, जिसने मृत प्राय: हिन्दू समाज में पुन: जीवन का संचार किया।

(5) सामाजिक क्षेत्र में योगदान: अनेकता के जंगल में भटकते, बाह्य दबावों से पीड़ित तथा निरन्तर विघटन की ओर बढ़ते हिन्दू-समाज के पुनर्निर्माण एवं पुनरोत्थान के लिए दयानन्द ने अथक प्रयत्न किये। उन्होंने नैतिक मूल्यों वाली आदर्श समाज-व्यवस्था की स्थापना कें वैदिक समाज-दर्शन को प्रस्तुत किया और प्राचीन भारतीय इतिहास से उदाहरण प्रस्तुत किये। उन्होंने व्यक्ति को सामाजिक कुरीतियों एवं कुप्रथाओं का दास नहीं माना, अपितु व्यक्ति व समाज की पारस्परिक अनुपूरकता को सिद्ध किया। दयानन्द ने व्यक्ति को वैयक्तिक हितकारी कार्यों में स्वतन्त्र, किन्तु उसे सामाजिक सर्व हितकारी नियम के पालन में परतन्त्र बताकर वैयक्तिक नैतिकता की श्रेष्ठता स्थापित की। इस प्रकार उन्होंने समाज-संगठन का एक आदर्श सूत्र प्रस्तुत किया। उन्होंने वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में चारों पुरूषार्थों की सिद्धि के लिए आश्रम-व्यवस्था का आदर्श प्रस्तुत किया। इसी प्रकार जाति-व्यवस्था को धार्मिक व सामाजिक अन्याय बताते हुये इसके स्थान पर, सामाजिक श्रम-विभाजन के सिद्धान्त के रूप में, गुण-कर्म (योग्यता) पर आधारित वर्ण-व्यवस्था का समर्थन किया। दयानन्द ने अन्य अनेक सामाजिक कुरीतियों का डटकर विरोध किया, जैसे - बाल विवाह की प्रथा, अस्पृश्यता की प्रथा, शूद्र व स्त्री की शिक्षा के विरोध की परम्परा, विदेश गमन का निषेध आदि-आदि। उन्होंने शूद्र व स्त्री के सम्मान तथा उत्थान को समाज-उत्थान की अनिवार्य शर्त बताया। दयानन्द ने समाज सुधार के मार्ग में आने वाली प्रत्येक चुनौती का मुकाबला किया और सुधारों के पक्ष में जन-जागरण के लिए अपार कष्ट सहे। नेताजी सुभाष चन्द्र बोस के अनुसार, "महर्षि दयानन्द सरस्वती को मैं एक धार्मिक और सामाजिक सुधारक तथा कर्मयोगी मानता हूँ।" यह उल्लेखनीय है कि सामाजिक सुधारों के क्षेत्र में दयानन्द के विचार पश्चिम से प्रभावित नहीं है, उन्होंने वैदिक पृष्ठभूमि में सामाजिक सुधारों का समर्थन किया है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह निकला कि उनके सामाजिक सुधारों की योजना ने शिक्षित भारतीयों में स्वाभिमान एवं सांस्कृतिक श्रेष्ठता का भाव उत्पन्न किया।

7.10 सारांश

यद्यपि आधुनिक भारत के प्रसंग में दयानन्द के उपरोक्त योगदान की भूरी-भूरि प्रशंसा की जाती है, किन्तु कुछ विद्वानों ने दयानन्द की विचारधारा को मूलत: प्रतिक्रियावादी बताया है। इस प्रकार के विद्वान मुख्यत: दो प्रकार हैं - प्रथम, समाजवादी एवं मार्क्सवादी विद्वान् जो

धर्म एवं राष्ट्रवाद को सामन्तवाद एवं पूँजीवाद का औजार एवं समर्थक मानते हैं, तथा द्वितीय ऐसे विद्वान् जो हिन्दू पुनरूत्थानवाद, भारत की प्राचीन गौरव-गाथा तथा शुद्धि आन्दोलन आदि सम्बन्धी विचारों को उस धार्मिक राजनीति की शुरूआत मानते हैं जिसके कारण हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक राजनीति का विकास हुआ और अन्त में भारत का विभाजन हुआ। किन्तु इस प्रकार की आलोचना से न तो पूर्णत: सहमत हुआ जा सकता है और न इसके आधार पर दयानन्द के योगदान का अवमूल्यन की किया जा सकता है। वस्तुत: दयानन्द के योगदान का मूल्यांकन उन विशिष्ट परिस्थितियों एवं प्रभावों के प्रसंग में ही किया जाना चाहिए जिनमें कि उनके विचारों का निर्माण हुआ। इस दृष्टि से अनेक विद्वानों ने उनकी अगाध प्रशंसा की है। रोम्यां रोलां का मत है, "दयानन्द अकेले भारत में सिंह की तरह गरजे और उन्होंने अकेले विदेशियों द्वारा फैलाये गये नवीन प्रभाव को रोक दिया।" पं. विशन नारायण दर ने दयानन्द एवं उनके द्वारा स्थापित संस्था आर्य समाज में एक नये प्राण फूँकने का जितना श्रेय उनको है उतना इस शताब्दी के किसी अन्य भारतीय को नहीं है। एक दृष्टि से आर्य समाज की उपलब्धि ब्रह्म समाज से भी अधिक रही है क्योंकि यह अधिक राष्ट्रीय है।" श्री अरविन्द ने दयानन्द को 'आध्यात्मिक क्रियाशीलता की एक शक्ति-सम्पन्न मूर्ति' कहा है। रवीन्द्रनाथ टैगोर का कथन है, 'मेरा सादर प्रणाम हो उस महान् गुरू दयानन्द को, जिसकी दृष्टि ने भारत के आध्यात्मिक इतिहास में सत्य और एकता को देखा और जिसके मन ने भारतीय जीवन के सब अंगों को प्रदीप्त कर दिया।" महात्मा गाँधी ने दयानन्द के योगदान का उल्लेख करते हुये कहा है, "महर्षि दयानन्द ने धर्म जागृति बढाई। आर्य संस्कृति का, वेदाभ्यास का, संस्कृत भाषा का, हिन्दी का प्रेम बढ़ाया। अस्पृश्यता रूपी कलंक को धोने का प्रयत्न किया। ऐसे सब कार्यों के लिए महर्षि का स्मरण चिरस्थायी रहेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं।"

7.11 अभ्यास प्रश्न

1. दयानन्द सरस्वती एक सामाजिक पुर्नुत्थानकर्ता थे? समझाईए।
2. दयानन्द सरस्वती के राजनीतिक विचारों पर प्रकाश डालिए।
3. भारतीय राष्ट्रवाद पर दयानन्द सरस्वती के क्या विचार थे समझाईये?
4. राजनीतिक विचाररक के रूप में दयानन्द सरस्वती के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।

7.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. विश्वनाथ प्रसाद वर्मा : आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, 1971
2. पी.के. त्यागी : भारतीय राजनीतिक विचारक, विश्वकर्मा, पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2006
3. गिरीश मल्होत्रा : मॉडर्न इंडियन पोलिटिकल थिंकर्स, मुरारीलाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली, 2006

इकाई-8

गोपाल कृष्ण गोखले

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 जीवन परिचय

8.3 चिंतन के प्रेरणा स्रोत

8.4 गोखले के सामाजिक विचार

8.5 गोखले के आर्थिक विचार

8.6 गोखले के शिक्षा सम्बन्धी विचार

8.7 गोखले के राजनीतिक विचार

8.8 संवैधानिक सुधारों का प्रारुप

8.9 सारांश

8.10 अभ्यास प्रश्न

8.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

8.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप जान पायेंगे -

- गोखले की तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक पृष्ठभूमि
- गोखले के जीवन एवं चिंतन के स्रोत
- गोखले के सामाजिक विचार
- गोखले के आर्थिक विचार
- गोखले के शिक्षा सम्बन्धी विचार
- गोखले के राजनीतिक विचार
- गोखले द्वारा प्रवर्तित संवैधानिक सुधार, एवं
- गोखले का वैचारिक योगदान।

8.1 प्रस्तावना

'गोखले का मस्तिष्क एक राजनीतिज्ञ का मस्तिष्क था और उनमें शासन के उत्तरदायित्व की भावना व्याप्त थी।' **-लॉर्ड मॉले**

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के उदारवादी नेताओं की पंक्ति में गोपाल कृष्ण गोखले देशसेवा एवं कर्त्तव्य भावना से ओत-प्रोत थे। महात्मा गांधी उन्हें अपना राजनीतिक गुरु मानते थे। उनकी वाणी का ओज एवं संयम तर्कपूर्ण नींव पर आधारित था। संवैधानिक साधनों के वे पक्षधर थे। चरित्र की पवित्रता व सरल जीवन उनकी देशभक्ति के मार्ग के द्वार थे।

राजनीतिक-आर्थिक-सामाजिक सभी पक्ष उनके चिंतन के आधार थे। क्रमिक सुधारों में वे विश्वास करते थे। ब्रिटिश चरित्र व न्यायप्रियता पर उन्हें विश्वास था।

उन्नीसवीं शताब्दी में प्रारम्भ पुनर्जागरणकालीन भारत की तीन मुख्य अवस्थाएँ समय की दृष्टि से सर्वथा पृथक नहीं की जा सकतीं। प्रथम अवस्था में पाश्चात्य सभ्यता की दो मुख्य विशेषताएँ बुद्धिवाद व उदारवाद को स्वीकारा गया, दूसरी अवस्था में उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई और तीसरी अवस्था में पूर्वी व पश्चिमी संस्कृति के श्रेष्ठ तत्वों के समन्वय के प्रयास हुए। बंगाल से प्रारम्भ यह आन्दोलन सामाजिक-धार्मिक आन्दोलन से उद्भूत होकर एक सशक्त राष्ट्रीय आन्दोलन का आधार बन गया जिसकी सुखद परिणति भारत की स्वतंत्रता में हुई।

राममोहन राय तथा महादेव गोविन्द रानाडे आदि नेताओं ने बुद्धिवाद का आश्रय लेकर भारतीय समाज की जडों को आघात पहुँचाने वाली विभिन्न रूढ़ियों को दूर करने के प्रयास किये। पश्चिमी उदारवाद से प्रभावित नेताओं ने बंगाल (सुरेन्द्र नाथ बनर्जी), महाराष्ट्र (गोपाल कृष्ण गोखले, दादाभाई नौरोजी, फीरोजशाह मेहता) आदि में प्रति।नेधि संरथाओं के द्वारा लोकतांत्रिक आदर्शों को निकट लाने व भारतीयों में अधिकारों की चेतना विकसित करने का प्रयास किया। पुनर्जागरण के ये नेता स्वयं को उदारवादी नहीं कहते थे। नरम दल के नाम से जाने वाले ये नेता उग्रवादी दल से भिन्न विचारधारा के थे।

भारतीय उदारवादी परम्परा का दर्शन सामाजिक व धार्मिक सुधारक राजा राममोहन राय एवं महादेव गोविन्द रानाडे के विचारों व कार्यों में दृष्टिगत होता है तो राजनीतिक क्षेत्र में दादाभाई नौरोजी, फीरोजशाह मेहता, गोखले, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी में। इस राजनीतिक विरासत को बाद में सी. वाई, चिन्तामणि, चमनलाल सीतलवाड, श्रीनिवास शास्त्री, तेज बहादुर सप्रू, एम. आर. जयकर ने आगे बढाया।

वाल्टर बेजहॉट का 'चेतनापूर्ण नरमी' वाक्यांश भारतीय उदारवादी परम्परा की सही व्याख्या करता है। चेतनापूर्ण नरमी वाला व्यक्ति अपने भीतर बहुत शक्ति होते हुए भी अति नहीं करता और इसीलिए सफल रहता है। उसमें बहुत गति होती है फिर भी वह ठीक समय पर रुकना भी जानता है। इस परम्परा के प्रारम्भिक नेता नौरोजी, मेहता, गोखले व बनर्जी आदि वीर राष्ट्रीय योद्धा थे जो ब्रिटिश शासन के निर्भीक आलोचक थे पर वे संयम नहीं खोते थे। स्वशासन इनका उद्देश्य था। शुरूआती दौर में मांगे छोटी-छोटी थीं। जैसे कि सिविल सर्विस की परीक्षा के लिए आयु घटाना व भारत में भी इस परीक्षा का आयोजन, विधान परिषद के आकार में वृद्धि व उसमें निर्वाचित भारतीयों को प्रवेश देना, न्यायिक व कार्यपालिका के कार्यों का पृथक्करण आदि। अपनी मांगों की सीमा जानने के कारण वे उनका अतिक्रमण नहीं करते थे। व्यवहारकुशलता के कारण वे अपनी मांगों की आशिक पूर्ति से भी निराश नहीं होते थे।

संवैधानिक साधनों में विश्वास व ब्रिटिश शासन के प्रति निष्ठा उनके राजनीतिक विश्वास की धुरी थे। उनका स्वशासन ब्रिटिश साम्राज्य के एक अंग के रूप में था (डॉमिनियन स्टेटस)। निष्क्रिय प्रतिरोध में उनका विश्वास नहीं था। पूर्ण स्वाधीनता उन्हें अव्यावहारिक प्रतीत होती थी। वे राष्ट्रीय एकता के पक्षधर थे। उनका दृष्टिकोण असाम्प्रदायिक था। लोकतांत्रिक मूल्यों से पूर्ण ये नेता भारत में प्रतिनिधि व संसदीय संस्थाओं की स्थापना कर स्वशासन की

ओर अग्रसर थे। इससे वे शासन में भागीदारी के साथ संसदीय लोकतंत्र का प्रशिक्षण भी स्वतंत्र भारतीयों के लिए देने की व्यवस्था करने के कारक बन सके।

8.2 जीवन परिचय

महाराष्ट्र के रत्नगिरि जिले के गांव कोटलक में पिता कृष्णराव तथा माता सत्यभामा के परिवार में गोपाल कृष्ण गोखले का जन्म 9 मई, 1866 को हुआ। चितपावन परिवार के पिता कोल्हापुर की देशी रियासत में लिपिक थे। तेरह वर्ष की अल्पायु में पिता की मृत्यु के बाद परिवार चाचा अनंत के साथ गया। बड़े भाई गोविन्द ने नौकरी कर परिवार तथा गोपालकृष्ण की शिक्षा का व्यय उठाया। कोल्हापुर के राजा राम कॉलेज के बाद वे डेकन कॉलेज, पूना व ऐलफिंस्टन कॉलेज, बम्बई (1881) के छात्र रहे। गणित के छात्र गोखले को अंग्रेजी साहित्य में विशेष रुचि थी, बर्क की रचना 'Reflection on the French Revolution', बीटन की 'Public Speaker', बेकन के 'Essay' व ब्राइट के 'Speeches' के कुछ अंश उन्हें याद थे। बर्क की भाषण कला व रूढ़िवाद दोनों ने उन पर प्रभाव डाला। उन्होंने स्नातक पास कर न्यू इंग्लिश स्कूल (बाद में फर्ग्यूसन कॉलेज) से नौकरी प्रारम्भ की। फिर वे पूना के दक्षिण शिक्षा समाज (Deccan Education Society) को आजीवन सदस्य बने। उन्होंने 75/- रुपये मासिक वेतन पर सोसायटी शिक्षक बन कर सेवा की। 1892 से 1898 तक वे इसके सचिव व कालान्तर में इसके प्रमुख प्रवक्ता बने। सोसायटी के सेवा कुल में वे बाल गंगाधर तिलक, आगरकर, महादेव गोविन्द रानाडे के संपर्क में आये। तिलक व आगाकर उनके कॉलेज के सहकर्मी थे। तिलक की अपेक्षा आगरकर सामाजिक सुधार, पाश्चात्य सभ्यता, हिन्दू विश्वासों के गुण-दोषों पर समान विचारों के कारण गोखले के ज्यादा निकट थे। तिलक व उनके मतभेद धीरे- धीरे और बढे व अन्ततः कांग्रेस में भी प्रकट हुए।

पूना के मुकुट विहीन राजा कहलाने वाले महादेव गोविन्द रानाडे का गोखले पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। रानाडे ने उनकी प्रतिभा को समझ कर उन्हें प्रशिक्षण दिया। यह कठोर परिश्रम राजवेत्ता के रूप में उनके बडे काम आया। रानाडे उन्हें मूल अभिलेख देकर अनेक पुस्तकों का अध्ययन कर लेख याचिकाएँ व स्मरण पत्र तैयार करवाते थे। रानाडे को गोखले अपना गुरु मानते थे। इस आधार शिला से गोखले ने कठोर परिश्रम, नैतिकता के प्रति उत्साह, आध्यात्मिक उत्कर्ष, उदारवादी सिद्धांत व व्यापक संवेदनाएँ भी ग्रहण कीं। चारित्रिक ऊत्थान को रानाडे राष्ट्रीय प्रगति का आधार मानते थे। इस महान समाज सुधारक से गोखले ने अर्थशास्त्र का भी अध्ययन किया। पूना की सार्वजनिक सभा भारत की मुख्य राजनीतिक संस्था के रूप में जनता की आवश्यकताओं व विचारों की ओर सरकार का ध्यान सार्वजनिक महत्व के प्रश्नों पर स्मरण पत्र भेज कर आकर्षित करती थी। सचिव के रूप में कई वर्ष तक स्मरण पत्र गोखले ही तैयार करते थे।

दक्षिण शिक्षा समाज के सचिव के रूप में फर्ग्युसन कॉलेज के भवन हेतु जन संग्रह हेतु भी गोखले को अनेक यात्राएँ व जन सम्पर्क करना पड़ा। इससे वे एक सुपरिचित नाम बन गये। आगरकर की 'सुधारक' पत्रिका में भी वे निरन्तर लिखते थे। इन सबसे विचार विश्लेषण व अभिव्यक्ति की कला में निपुण बने। रानाडे से नरम व संयत भाषा की प्रेरणा भी गोखले ने

सीखी। 1902 में दक्षिण शिक्षा समाज से सेवानिवृत्त होकर वे सार्वजनिक जीवन में हुए गोखले पर फिरोजशाह मेहता का भी प्रभाव था।

सन 1889 में गोखले ने कांग्रेस में प्रवेश किया। 1895 में कांग्रेस के मंत्री बने। 1897 में वह दक्षिण शिक्षा समाज के प्रतिनिधि के रूप में सेलबी कमीशन के समक्ष गवाही हेतु इंग्लैण्ड गये। 1902 में वे केन्द्रीय विधान परिषद के सदस्य बने। उनके तर्कपूर्ण, तथ्यों पर आधारित व रचनात्मक सुझावों से पूर्ण भाषणों का आकर्षण सदस्यों व शासकों दोनों पर था। उनके विचारों व सुझावों पर शासकीय कार्य भी होता था। नमक कर को हटाने, अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा, सरकारी नौकरियों में भारतीयों के साथ भेदभाव न करने, सरकारी व्यय में कमी आदि में उन्होंने अपनी वक्तव्य कला प्रदर्शित कर अपना प्रभाव डाला। लार्ड कर्जन के नकारात्मक सुधारों का उन्होंने विरोध किया। भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम, प्रेस अधिनियम, शासकीय गोपनीयता अधिनियम आदि विरोध से वह न रुक सके। लार्ड कर्जन भी उनकी प्रतिभा के कायल थे व उन्हें सी.आई.ई का खिताब दिया। सन् 1905 में गोखले बनारस कांग्रेस के सभापति बने। बहिष्कार का समर्थन वे अंतिम अस्त्र के रूप में ही करना चाहते थे। नरम दल के नेता के रूप में वह कांग्रेस का अनेक वर्ष तक कार्य करते रहे। प्रारम्भिक उत्साह के बाद 1909 के सुधारों पर निराश होकर उन्होंने उसकी आलोचना की। 1912 में दक्षिण अफ्रीका के रंगभेद विरोधी आन्दोलन में गाँधी की सहायता की। अत्यधिक परिश्रम के कारण 1915 में 49 वर्ष में ही गोखले की मृत्यु हो गयी। वे देश का पुनर्निर्माण क्रमिक सुधारों से करना चाहते थे। इसी पर उनका गरम दल से मतभेद था जो उन्हें दुर्बल हृदय वाला कहते थे। भारत में सुधारों की उनकी विस्तृत योजना गोखले का 'राजनीतिक वसीयतनामा' कहलाती है। प्रांतीय स्वायत्तता आदि उनके सुझाव बाद में मॉटफोर्ड सुझावों का आधार बने। ये सुझाव बम्बई के गवर्नर लार्ड विलिंग्टन के आग्रह पर भारत में संवैधानिक सुधारों के लिए थे।

सन् 1897 से 1914 की अवधि में उन्होंने ब्रिटेन में सकारात्मक व सहानुभूति वातावरण व जनमत निर्माण हेतु सात बार इंग्लैण्ड की यात्रा की। अस्वस्थ रहने पर भी सार्वजनिक मामलों में उनकी रुचि व कठोर परिश्रम में कमी नहीं आयी। गोखले के लेख 'मराठा', 'केसरी' व सुधारक' में प्रकाशित हुए गोखले ने 'सुधारक' (आगरकर द्वारा प्रकाशित) एवं सार्वजनिक सभा के 'क्वार्टरली रिव्यू' का भी संपादन किया।

8.3. गोखले के चिंतन के प्रेरणा स्त्रोत

गोखले पर विभिन्न प्रभाव निम्नांकित हैं :

(1) परिवार का प्रभाव - चारित्रिक दृढ़ता, आत्मसम्मान, दृढ़ इच्छा शक्ति, उदारता व सत्यनिष्ठा, त्याग, तपस्या, कष्टों के प्रति सहिष्णुता आदि अपने परिवार से उन्हें प्राप्त हुए बाल्यकाल के आर्थिक अभाव व संघर्ष ने उनमें भारतीय जनता की समझ विकसित की। ग्रामीण जीवन व समस्याओं से वे बचपन में रूबरू हुए इसीलिये निर्धन व पीड़ित जन के प्रति चिन्ता, आर्थिक सुधार व निःशुल्क शिक्षा की आवश्यकता पर बल उनके विचारों में प्रतिबिम्बित हुए

(2) अंग्रेजी शिक्षा - अंग्रेजी साहित्य, यूरोपीय इतिहास व राजनीतिक विकास के अध्ययन तथा अंग्रेजी शिक्षा पद्धति ने गोखले को प्रभावित किया। अंग्रेजी विवेकवाद, लोकतांत्रिक परम्पराओं व उदारवाद ने उन्हें गहन तौर पर प्रभावित किया और वह उनके चिंतन का आधार बना।

(3) महान व्यक्तियों से सम्पर्क - महादेव गोविन्द रानाडे, दादाभाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता, आगरकर, बाल गंगाधर तिलक, जी.वी. जोशी आदि के व्यक्तित्व ने भी उन्हें प्रभावित किया विशेषत: रानाडे व मेहता ने। तिलक की देशभक्ति व साहस, आगरकर के समर्पण, उद्देश्यों की पवित्रता, स्पष्टवादिता, साहस, पूर्वाग्रहों का विरोध, नौरोजी का आर्थिक-राजनीतिक पैनापन, सहिष्णुता, उदारता, बौद्धिक योग्यता, मेहता की प्रतिभा, गरिमामय व्यवहार, यथार्थवाद, निर्भीक आलोचना, नैतिक आग्रह, रानाडे के चिंतन, संवैधानिक साधनों में आस्था, तथ्यों की शु(ता, कष्टपरकता, जी.वी. जोशी की वित्तीय संविधानिक समझ ने गोखले के चिंतन व अभिव्यक्ति को प्रभावित किया।

बोध प्रश्न- 1

1. गोखले का "राजनीतिक वसीयतनामा" क्यों महत्वपूर्ण है।

.....

8.4 सामाजिक विचार

गोखले राजा राममोहन रॉय व बाल गंगाधर तिलक के समान सामाजिक आन्दोलन के लिए सक्रिय नहीं माने जाते हैं पर वे सच्चे सहिष्णु समाज सुधारक थे। उन्होंने अपने जीवन के प्रारम्भ में ही अनंत संभावनाओं को त्यागकर शिक्षा का क्षेत्र सेवा हेतु चुना। शिक्षा संभावनाओं के द्वार खोलने के लिए जनता हेतु आवश्यक थी। डेकन सोसायटी के साथ जुड़कर उन्होंने यही कार्य किया। दलितों व स्त्रियों की शिक्षा के भी गोखले पक्षधर थे। गोखले का जीवन त्याग, तपस्या, कठोर परिश्रम व जन सेवा की जीवन्त मिसाल था। देशसेवा उनका धर्म था।

गोखले रूढ़िवादिता का विरोध करते थे। हिन्दू धर्म के पूर्वाग्रहों के विरोध पर आगरकर व उनके विचार समान थे। संकीर्णता उन्हें रास नहीं थी। तिलक से मतभेद का एक कारण संकीर्णता का विरोध था। तिलक बाल विवाह का खुला समर्थन करते थे। शिक्षा हेतु गोखले की तुलना में तिलक का कार्य नगण्य व कट्टरपंथी प्रतीत होता है। धर्मनिरपेक्ष गोखले जाति व्यवस्था को प्रगतिविरोधी समझते थे। वे हिन्दू-मुस्लिम के मध्य मधुर सामाजिक सम्बन्धों का समर्थन करते थे। सामाजिक-धार्मिक सहिष्णुता व सद्भावना उनका लक्ष्य था।

गोखले मानवतावादी थे। नशाबंदी और अकाल पीड़ितों के हेतु आग्रह एवं प्लेग के समय सहायता आदि सामाजिक कल्याण की भावना को दर्शाता है। वे पूर्ण नशाबंदी का समर्थन करते थे जिससे निर्धन इस घातक बुराई से दूर रह सके। मद्यपान से प्राप्त राजस्व। कमी की पूर्ति हेतु उन्होंने दो सुझाव दिये। राजस्व अधिकारी को लाइसेंस देने वाला अधिकारी नहीं बनाना चाहिए तथा लाइसेंस की नीलामी बंद करानी चाहिये। मादक पदार्थों के दाम बढ़ाने से लाभ नहीं होता। दक्षिण अफ्रीकी रंगभेद नीति की आलोचना के साथ ही उसे दूर करने का भी गोखले ने प्रयास किया।

8.5 आर्थिक विचार

गोखले के आर्थिक विचार भारतीय परिस्थितियों पर आधारित थे। गणित ने उनके विचारों को तार्किक व तथ्यपूर्ण बनाया। इतिहासज्ञ व अर्थशास्त्री व ग्रामीण जीवन वे संघर्ष ने उनकी सोच को व्यावहारिकता के निकट रखा। वे सम्पूर्ण आय का समान सा वितरण चाहते थे। भारतीय स्थिति पर आधारित सुझाव भी उन्होंने प्रस्तुत किये। इनकी दृष्टि में संवैधानिक उन्नति के लिए राष्ट्रीय वित्त पर नियंत्रण आवश्यक था।

(1) भारत के सैनिक व्यय में कमी का आग्रह - ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत में सैनिक विषयों में व्यय भारत के कुल राजस्व व्यय के अनुपात में विश्व के अन्य देशों से कहीं अधिक था। बैलबी आयोग के समक्ष साक्ष्य के रूप में ये तथ्य गोखले ने इंग्लैण्ड में प्रस्तुत किये। रूस में यह राजस्व. का 21%, फ्रांस में 19%, जापान में 16% व इटली में 13% व भारत में व्यय 35%' था। दिनशा वाचा भी इस यात्रा में उनके साथ थे। शांतिकाल में भी अत्यधिक सैन्य व्यय भारत जैसे गरीब देश के लिये संभव नहीं था। अत: सैन्य व्यय पर कमी अत्यावश्यक थी।

इस व्यय में कमी हेतु भारत में रिजर्व सेना का भी गोखले ने दिया। भारतीय सेना के भारतीयकरण के सुझाव से सैन्य व्यय में कमी (अंग्रेज अधिकारियों को प्रदत्त भारी वेतन व भत्तों से मुक्ति) व शिक्षित भारतीय युवकों के अधिकारी के रूप में भर्ती के व्यापक अवसरों की ओर भी उन्होंने संकेत किया।

भारतीय जनता के हित के मूल्य पर, भारतीय सेना के ब्रिटिश उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उपयोग पर भी गोखले ने गंभीर आपत्ति प्रदर्शित की। भारतीय सेनाओं के भारत की सीमाओं से बाहर के अभियानों का व्यय ब्रिटिश सरकार द्वारा वहन किया जाना चाहिये। सरकार के अनावश्यक व्यय से जनता की गरीबी बढ़ रही थी। वे आय-व्यय में संतुलन के पक्षधर थे।

(2) जनता पर करों के बोझ को कम करने का आग्रह - भारतीय जनता पर करों के भारी बोझ के गोखले विरोधी थे। इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में सरकारी कर नीति की उन्होंने आलोचना की। 1902 के अपने बजट भाषण में वित्त सचिव द्वारा प्रस्तुत अधिशेष को उन्होंने आपत्तिजनक व दोहरे अन्याय वाला बताया। आर्थिक विपन्नता वाली जनता पर करों का आवश्यकता से अधिक भार थोपा जा रहा था। दूसरी ओर सरकार अर्जित आय का अधिकांश भाग जन कल्याण हेतु खर्च करने के स्थान पर सैन्य व्यय व सरकारी तंत्र पर उपयोग कर रही थी। इससे भारत की गरीबी और अधिक बढ रही थी। जनकल्याण का कार्य प्रांतों पर है। अत: राजस्व का अधिकांश भाग केन्द्रीय सरकार द्वारा लेना उचित नहीं है, ऐसा गोखले का विचार था।

कर व्यवस्था सुधार हेतु गोखले ने सरकार को ठोस सुझाव दिये जैसे - अकाल के समय भू राजस्व माफ करना, आय कर से मुक्ति की सीमा में वृद्धि, सूती कपड़े के उत्पादन पर आबकारी ड्यूटी हटाना, नमक पर कर की दरों में कमी, आदि। वे सरकार की राजस्व नीति की निर्भीक-तथ्यपूर्ण आलोचना प्रस्तुत करते थे। प्रशासनिक दक्षता के नाम पर प्रशासनिक व्यय में राजस्व का उपयोग शासन की जनकल्याणकारी गतिविधियों के विपरीत प्रभाव डाल रहा था।

अर्थशास्त्री की उनकी पैनी दृष्टि समस्या की जड़ तक पहुँच कर समाधान प्रस्तुत करने से हिचकती नहीं थी। इस गहरी पैठ व दृष्टि हेतु वे अथक परिश्रम करते थे।

(3) मुक्त व्यापार की नीति के प्रति संशय - मुक्त व्यापार नीति के भारतीय स्थितियों में संभावित गंभीर दुष्परिणाम उनकी समझ के अंदर थे। औद्योगीकरण के लिए आधारभूत ढांचा व आर्थिक विकास की न्यूनतम दर के अभाव में भारत या किसी भी अन्य देश को मुक्त व्यापार में धकेलना न्याय के प्रतिकूल है। इसे व्यापक रूप से लागू करना उचित नहीं है क्योंकि मुक्त व्यापार अन्य उदारवादी मूल्यों भ्रातृत्व, स्वतंत्रता जैसा पवित्र नहीं है। उदारवादी होते हुए भी भारतीय स्थितियां व हित उनके सामने सर्वोपरि था।

मुक्त व्यापार की (ईस्ट इण्डिया कम्पनी की) नीति से भारत में लघु व कुटीर उद्योग के माल को विदेशों में बड़े कारखानों में लघु व कुटीर उद्योग के माल को विदेशों में बडे कारखानों में मशीनों से तैयार माल से प्रतियोगिता करनी पडी। इससे कुटीर व लघु उद्योग नष्ट हो गये। उनमें कार्यरत लोग बेरोजगार या पूर्णत: कृषि आधारित हो गये। इस नीति के हानिकारक पक्ष स्वरूप भारत में औद्योगिक विकास व पूंजी निवेश के प्रयास नहीं किये गये। तकनीकी एवं औद्योगिक शिक्षा के प्रसार हेतु भी कार्य नहीं किया गया। इससे उद्योगों (लघु), दस्तकारी, शिल्प के नष्ट होने के साथ ही औद्योगीकरण के लाभों जैसे-उद्योगों के विस्तार, औद्योगिक रोजगार में वृद्धि आदि से भी भारत वंचित रहा।

भारतीय उद्योगों के लिए संरक्षण की सतर्क व विवेकसंगत नीति अपनाना गोखले के अनुसार आवश्यक था। संरक्षण नीति को पर्याप्त सतर्कता व सकारात्मक दृष्टिकोण से अपनाना आवश्यक था जिससे विकासशील उद्योगों को आवश्यक प्रोत्साहन व समर्थन दिया जाता है। पर यह आम जनता के लिए अहितकर नहीं होना चाहिये। अनुचित संरक्षण शक्तिशाली औद्योगिक हित को राज्य संरक्षण देकर आम जनता के लिए अहितकर हो सकता है।

गोखले मुक्त व्यापार व संरक्षण के अच्छे पक्षों से युक्त नीति को भारत के लिए उचित समझते थे। स्वतंत्र भारत की मिश्रित आर्थिक नीति का स्त्रोत गोखले भी थे। वे उद्योगपतियों से उद्योगों में शिक्षित भारतीयों की नियुक्ति के समर्थक थे व भारतीय माल हेतु विदेशों में मंडियां चाहते थे।

(4) ग्रामीण ऋणग्रस्तता - किसानों की दीन-हीन ऋणग्रस्त दशा से गोखले चिंतित थे। एक ओर किसान साहूकार द्वारा शोषित थे तो दूसरी ओर वे सरकार के करों के बोझ से भी दुखी थे। कृषकों को ऋण हेतु अपनी कृषि भूमि या अन्य संसाधनों को गिरवी रखनी पड़ती थी। अत: सरकार के इस समस्या के समाधान हेतु लैंड एलिनिएशन बिल का उन्होंने विरोध किया। वे सहकारी साख समितियों की स्थापना के द्वारा ग्रामीणों व कृषकों को वित्तीय सुविधाओं की संस्थागत व्यवस्था चाहते थे। कालान्तर में स्वतंत्र भारत में सहकारी संस्थाओं व बैंकों को गोखले के सुझाव से उद्भूत उत्तराधिकारी माना जा सकता है। इसी सन्दर्भ में बंगलादेश के नोबेल पुरस्कार विजेता (सहकारी आन्दोलन-बैंक-श्री युनुस) का नाम उल्लेखनीय है। ये सभी प्रयास आज के विश्व व भारत दोनों में गोखले के सुझाव की प्रासंगिकता दर्शाते हैं।

गोखले कृषि के क्षेत्र में उत्पादन की तकनीकों में सुधार, उत्पादन के समुचित साधनों की उपलब्धता तथा विपणन के स्तर पर कृषकों के हित संरक्षित करने हेतु सरकारी हस्तक्षेप को

उचित मानते थे। उन्होंने सुझाव दिये-भूमि की सरकारी मांग में कमी, भूमि सुधार व कृषि सम्बन्धी ऋणग्रस्तता को दूर करना, सिंचाई व वैज्ञानिक ढंग से खेती आदि। गोखले किसानों को करों में उचित राहत देने तथा कर वसूली के तरीकों में समुचित परिवर्तन के पक्षधर थे।

(5) भारत में रेल विस्तार को प्राथमिकता का विरोध- रेलों के विस्तार हेतु भारी व्यय के गोखले विरोधी थे। वैलबी आयोग में एक सदस्य द्वारा रेल के प्रसार से एक सुदृढ़ औद्योगिक आधार का तर्क दिया गया। गोखले का निर्भीक उत्तर था कि ऐसा भारत के प्रशासन पर अपनी पकड़ मजबूत बनाने व ब्रिटिश औद्योगिक हितों की रक्षा हेतु किया गया। वे सरकार द्वारा जनकल्याणकारी गतिविधियों में धन के उपयोग तथा भारतीय उद्योगों को संरक्षण देने की अधिक आवश्यकता पर बल देना चाहते थे। जबकि सरकार इनकी उपेक्षा कर रेलवे विस्तार पर अत्यधिक व्यय कर रही थी। विदेशी व्यापारियों को प्रदत्त अधिक रियायतों व सुविधाओं से रेलों मे घाटा हो रहा था।

गोखले के प्रतिवर्ष बजट अधिवेशन के भाषण देश की आर्थिक स्थिति, सरकार की आर्थिक नीति व सुझावों पर ध्यान आकर्षित करते थे। भारत की कृषि व्यवस्था को सुदृढ करने व औद्योगीकरण की जनहितकारी नीति (रोजगारपरक, आत्मनिर्भरता व आत्मसम्मान वर्धक) हेतु राजकीय संरक्षण, संस्थागत समर्थन व जनकल्याण के वह पक्षधर थे। उनके प्रयासों से नमक कर ढाई रुपये से घटकर आठ आने प्रति मन हो गया। जनता का हित उनकी प्राथमिकता था। वे कृषि के साथ-साथ औद्योगिक विकास के भी समर्थक थे अन्यथा देश की भावी प्रगति में बाधा होती। इसी हेतु वे औद्योगिक व तकनीकी शिक्षा का विकास चाहते थे।

सहकारी साख समितियों की स्थापना का उनका सुझाव स्वीकार किया गया। बम्बई प्रेजीडेंसी में यह योजना बहुत सफल रही।

बोध प्रश्न- 2

नोट : नीचे दी गई खाली जगह में उत्तर लिखें।

1. गोखले के अनुसार कुटीर उद्योग कैसे नष्ट हुए? क्या आर्थिक दुष्प्रभाव पड़ा ?

   .....

   .....

   .....

8.6. शिक्षा सम्बन्धी विचार

शिक्षा को गोखले विकास के लिए एक मूलभूत शर्त मानते थे। एक शिक्षक के रूप में व शिक्षार्थी के रूप में भी वे शिक्षा की महत्ता से सुपरिचित थे। शिक्षा के प्रसार के अभाव में राजनीतिक-सामाजिक जागृति व आर्थिक आत्मनिर्भरता की प्राप्ति संभव नहीं थी। भारत में ब्रिटिश संपर्क से पश्चिमी शिक्षा व उदारवाद से परिचय को वे महत्वपूर्ण मानते थे, विशेषत: सामाजिक रूढिबद्धता से मुक्ति हेतु।

अपने जीवन के प्रारम्भ में ही गोखले ने 75 रुपये के वेतन पर दक्षिण शिक्षा समाज की सेवा का संकल्प लेकर शिक्षा के प्रति अपनी प्रतिबद्धता का परिचय दिया। उनकी शिक्षा की धारणा व्यापक थी। प्रशासन की तकनीकें, जनस्वास्थ्य व स्वच्छता, उन्नत तकनीक में दक्षता,

सामाजिक सहिष्णुता व समानता, संवैधानिक आन्दोलन के तरीके भी उनके अनुसार शिक्षा का अंग थे। पठन-पाठन-लेखन उनके लिए प्राथमिक क्षमता थी। औद्योगिक व तकनीकी शिक्षा, स्त्री शिक्षा व प्राथमिक शिक्षा पर उन्होंने विशेष बल दिया। प्राथमिक शिक्षा हेतु तो उन्होंने 1910 व 1912 में विधेयक भी प्रस्तुत किया।

(1) प्राथमिक शिक्षा - गोखले के 1910 व 1912 के प्राथमिक शिक्षा विधेयक जन इच्छा के साथ-साथ ब्रिटिश उदाहरण (1870 व 1876 के शिक्षा एक्ट व 1892 का आयरिश शिक्षा एक्ट) से भी प्रभावित थे। 'बिल का उद्देश्य देश की प्राथमिक शिक्षा व्यवस्था में अनिवार्यता का तत्व सम्मिलित करने की इच्छा है। अन्य देशों में भी जन प्राथमिक शिक्षा के प्रसार हेतु किसी न किसी रूप में उसे अनिवार्य बनाना पड़ा। भारत में भी ऐसी अनिवार्यता का प्रारम्भ करना आवश्यक है।'

1906 में बड़ौदा राज्य ने अपने यहाँ निःशुल्क, सार्वभौम, अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का प्रारम्भ किया था। निःशुल्क अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की मांग 1855 में अक्षय कुमार दत्त ने गवर्नर जनरल को स्मरणपत्र देकर की थी।

गोखले के बिल में '(स्थानीय संस्थाओं द्वारा) किसी अन्यायपूर्ण दबाव या कार्य को रोकने हेतु यह व्यवस्था केवल लड़कों पर, प्रांतीय सरकार द्वारा पूर्व अनुमति के उपरान्त ही लागू होनी थी। बिल 1912 में पुनः प्रस्तुत किया गया। गोखले इसके सरकार द्वारा स्वीकारे जाने के विषय में शंकित थे, पर वे अंग्रेजी शिक्षा कानून (1870) से पूर्व के अनेक असफल व विरोध वाले प्रयासों से भी परिचित थे। आज एक शताब्दी से अधिक समय के बाद भी भारत में प्राथमिक शिक्षा सभी तक पहुँचाने वाले 'सर्वशिक्षा अभियान' आदि जारी हैं। ब्रिटिश सरकार का विचार था कि भारतीयों पर अनिवार्यता की अपेक्षा समझाना अधिक कारगर होगा। वे तर्क आज भी प्रासंगिक हैं।

गोखले का विधेयक पारित न होने पर भी सरकार व भारतीय नेतृत्व को जगा गया। स्वदेशी, स्वराज, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा आदि आदोलनों की सफलता पर उच्च आदर्शयुक्त प्रारम्भिक शिक्षा बिल (1910, 1912) की असफलता भारतीय नेतृत्व पर भी एक प्रश्नचिन्ह लगाती है। भारतीय राजनीतिक दलों द्वारा शिक्षा सम्बन्धी प्रस्तावों का अनुपात उनकी शिक्षा के प्रति गंभीरता का सूचक है जो तब और आज दोनों स्थिति में देखा जा सकता है।

विधान परिषद में भी गोखले प्राथमिक निःशुल्क शिक्षा हेतु व स्त्री शिक्षा हेतु आवाज उठाते रहे। उन्होंने स्वैच्छिक प्रयत्नों को भी बल दिया।

(2) तकनीकी शिक्षा - औद्योगिक विकास हेतु गोखले तकनीकी शिक्षा पर बल देते थे। वे सरकार द्वारा तकनीकी शिक्षा के प्रसार पर व्यय निश्चित करवाना चाहते थे। कृषि, अभियांत्रिकी व अन्य तकनीकी क्षेत्रों की उपेक्षा को वे प्रगति में बाधक मानते थे। इसका कारण आर्थिक पिछड़ेपन को दूर करना भी था।

(3) पाश्चात्य शिक्षा का समर्थन - तत्कालीन उदारवादी नेताओं के समान गोखले भी पाश्चात्य शिक्षा को भारतीय रूढ़िवादी मानस के बंधन मुक्त कर उसे मुक्त व व्यापक बनाने

हेतु समर्थन व प्रशंसा करते थे। वे उसे उदात्त परम्पराओं के स्तर पर हेतु प्रयासरत थे। सहिष्णुता (धर्म, जाति, लिंग) हेतु भी वे इसके समर्थक थे।

(4) उच्च शिक्षा व विश्वविद्यालय स्वायत्तता का समर्थन -उच्च शिक्षा का वे उदारवादिता एवं अधिकारों व दायित्वों हेतु समर्थन करते थे। विश्वविद्यालय स्वायत्तता को सीमित करने के सरकारी प्रयासों के वे विरोधी (इंडियन यूनिवर्सिटीज एक्ट, 1904) थे। उनके विरोध के बाद भी यह एक्ट सरकार द्वारा पारित किया गया। अपने व्यक्तिगत प्रयासों एवं व अथक परिश्रम से गोखले ने फर्ग्युसन कॉलेज की पूना में स्थापना की।

8.7. राजनीतिक विचार

बहुमुखी प्रतिभा के धनी गोखले उदारवादी, व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक राजनीति के पक्षधर कहलाते हैं। वे क्रमिक सुधारों के पक्षपाती थे व ब्रिटेन के साथ भारत के घनिष्ठ सम्बन्ध का समर्थन भारतीयों के कल्याण हेतु करते थे। उदारवादी विचारधारा के संयत गोखले को, उग्रवादी सदस्य अच्छा नहीं समझते थे। तिलक के साथ उनके मतभेदों का यही आधार था। वे सरकार व जनता के विचार एक-दूसरे तक सम्प्रेषित करते थे और दोनों का विरोध भी इसी कारणवश सहते थे। इस सच्चे देशभक्त के जीवन का उद्देश्य देश सेवा था और यही उनका धर्म था। सहृदयता, उदारता व कष्ट सहनशीलता को वे अच्छे चरित्र के ही देश के विकास हेतु आवश्यक मानते थे। संवैधानिक साधनों में वे विश्वास करते थे। इन सभी की झलक उनके जीवन में भी प्रतिबिम्बित होती है। उनके विचार निम्नांकित बिन्दुओं द्वारा समझे जा सकते हैं:

(1) ब्रिटिश उदारवाद में विश्वास - समकालीन उदारवादी नेताओं की भांति गोखले को ब्रिटिश न्यायप्रियता में विश्वास था तो ब्रिटिश शासन की लोकतांत्रिक संस्थाओं पाश्चात्य शिक्षा पद्धति तथा साहित्य के प्रति आकर्षण भी था। नौरोजी की भांति उनकी आशा थी कि अंग्रेजों में एक उच्च न्यायप्रिय राजनीतिक सोच का उदय भारत के साथ न्याय करेगा। अंग्रेजों की न्याय व उदार भावना को उकसा कर उन्हें ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वराज्य के लिए तैयार करना चाहते थे। उग्रवाद को वे भारत के लिए अहितकर मानते थे। तत्कालीन ब्रिटेन शक्ति सामर्थ्य के अनुसार यह व्यावहारिकता का परिचय था, पर अपने आत्मसम्मान के साथ।

(2) ब्रिटिश शासन को भारत के लिए वरदान मानना - ब्रिटेन के साथ संपर्क को वे भारत की बौद्धिक प्रगति व भावी निर्माण हेतु श्रेयस्कर मानते थे। भारत में शांति व व्यवस्था की स्थापना, पाश्चात्य शिक्षा, लोकतांत्रिक व्यवस्था व संवैधानिक संस्थाओं के ज्ञान उन्हें ब्रिटिश सम्पर्क वरदान लगता था। भारत में व्यवस्था व शान्ति की स्थापना उनके इतिहासज्ञ मन को एक वरदान दिखाई देती थी। आज भी भारत में विभिन्न गुटों में संघर्ष, मनमुटाव व दंगे इस तत्व की याद दिलाते हैं कि देश की भौतिक-नैतिक-सामाजिक सम्पन्नता, स्थायित्व व शान्ति पर ही निर्भर है।

(3) स्वशासन - गोखले ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वशासन चाहते थे। स्वशासन का अर्थ था 'ब्रिटिश अभिकरण के स्थान पर भारतीय अभिकरण की प्रतिष्ठा, विधान परिषदों का विस्तार व सुधार करते-करते उन्हें वास्तविक निकाय बना देना तथा जनता को सामान्यत: अपने मामलों

का प्रबन्ध स्वयं करने देना', 1905 में बनारस कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में वे एक निश्चित समय तक अन्य उपनिवेशों के समान स्वशासन के आकांक्षी थे।

स्वशासन हेतु निम्न बिन्दु आवश्यक थे-

(A) इंग्लैण्ड में होने वाली सभी प्रतियोगी परीक्षाओं का भारत में आयोजन।

(B) भारत मंत्री की परिषद व वायसराय की कार्यकारिणी परिषद में भारतीयों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व।

(C) केन्द्रीय व प्रांतीय विधान परिषदों का विस्तार, जिससे जनता का प्रभावी प्रतिनिधित्व हो सके।

(D) स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं व नगरपालिकाओं की शक्ति बढ़ाना।

(4) संवैधानिक साधनों में विश्वास - उदारवादी गोखले क्रमिक सुधार व संविधानवाद के पोषक थे। प्रार्थना, स्मरण पत्र, प्रतिनिधि मंडल, वार्ता एवं शासन की रचनात्मक आलोचना उनके अस्त्र थे। विद्रोह, हिंसा, क्रांति या उग्र आन्दोलन का इसमें निषेध था। बहिष्कार की राजनीति का, दबाव या भय का वे विरोध करते थे। वे भारतीयों को राजनीतिक जागरुकता व दायित्वबोध दिखाकर अधिक प्रशासनिक अवसर पाना चाहते थे। शासन से असहयोग कर प्रगति उन्हें असंभव प्रतीत होती थी। व्यावहारिक स्थिति व यथार्थ आज भी यही दर्शाता है।

तथ्यों व तर्कों को आधार बनाकर समझा-बुझाकर वे महत्वपूर्ण लोगों के विचारों को अपने पक्ष में परिवर्तित करना चाहते थे। उत्तेजना की आंधी के वे पक्षधर नहीं थे, इसीलिए उनका मानना था कि संविधानवाद से स्थापित विचार व व्यवस्था में उथल-पुथल की संभावना होती है। स्वतंत्र भाषण, लेखन, संगठन, सभाओं, जुलूसों, शिष्टमंडलों आदि से जनमत को तैयार कर, रचनात्मक आलोचना के वे पक्षधर थे।

गोखले जैसे उदारवादियों के इस मार्ग को 'भिक्षावृत्ति', 'दुर्बल हृदयता' आदि कहा गया पर लोकतंत्र में संविधानवाद व उसके साधनों को ही उचित कहा जा सकता है अन्यथा जंगल राज्य हो सकता है।

(5) नौकरशाही की आलोचना - कठोर व उत्पीड़न की नीति के वे विरोधी थे। उनके अनुसार सरकार में जनहित के प्रतीक किसी व्यक्ति का अभाव, शासन का पूर्ण केन्द्रीकृत होना, कार्मिकों का 5 वर्ष का सीमित कार्यकाल आदि नौकरशाही की कमियाँ थीं।

(6) सत्ता के विकेन्द्रीयकरण का समर्थन - सत्ता का विकेन्द्रीकरण ही वास्तविक लोकतंत्र व जनता के अधिकार का मार्ग है। केन्द्रीयकरण निरंकुशता व मनमानी को प्रोत्साहित करता है। शासन के विकेन्द्रीकरण से संबद्ध हॉबहाउस आयोग (1908) के समक्ष भी गोखले ने विकेन्द्रीकरण हेतु प्रांतीय व स्थानीय विकेन्द्रीकरण को बढ़ावा देने का पक्ष रखा।

गोखले का सुझाव था- प्रांतीय विधान परिषद की शक्ति में वृद्धि जैसे बजट पर स्वयं विचार की शक्ति, जिला प्रशासन में कलैक्टर को प्रशासकीय सलाह जिला स्तरीय परिषद द्वारा दी जाये। उन्होंने सबसे नीचे ग्राम पंचायत, फिर जिला परिषद (मध्य स्तर) व प्रांतीय विधान परिषदें का तीन स्तरीय संगठन सुझाया। प्रांतीय सरकारों को राजस्व के अधिकार की भी मांग

की। केन्द्रीय सरकार के पास प्रतिरक्षा, विदेश, मुद्रा, आबकारी, डाक-तार-रेल तथा कर विभाग हों, अन्य विभाग प्रांतीय सरकार के पास हों।

(7) राष्ट्रीय एकता पर बल - राष्ट्रीय एकता व दृढ़ता हेतु गोखले हिन्दू-मुस्लिम एकता को आवश्यक मानते थे, दोनों से ही वे सहिष्णुता व संयम की अपेक्षा करते थे। स्वयं भी तिलक के गणपति व शिवाजी महोत्सव में उन्होंने कोई रुचि इसी कारण नहीं प्रदर्शित की।

राष्ट्रवाद हेतु वे नैतिक चरित्र पर अत्यधिक बल देते थे। आज भारत में विकास का अपेक्षित व सर्वव्यापी रूप न होने का एक कारण चरित्र की दृढ़ता के अभाव से उत्पन्न भ्रष्टाचार है। कठोर परिश्रम., सामाजिक चेतना व नैतिक दृढ़ता ही राष्ट्र की दृढ़ नींव डालती है। अपने इस राष्ट्रीय एकता व राजनीति के आध्यात्मीकरण हेतु गोखले ने 12 जून, 1905 को भारत सेवक समिति (Servants of India Society) के रूप में राजनीतिक कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था की। इसके संविधान में वे ब्रिटिश शासन में निष्ठा, चरित्र व क्षमता के विकास, उत्कट देशप्रेम, निर्भीकता, विधि में आस्था आदि विभिन्न गुणों व सार्वजनिक जीवन हेतु एक नेता के गुणों की सूची प्रस्तुत करते हैं।

(8) राजनीति का आध्यात्मीकरण - राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन को गोखले वास्तविक आध्यात्मिक भाव से परिपूर्ण करना चाहते थे। सार्वजनिक आचरण की पवित्रता, साधनों की पवित्रता, संयम व त्याग आदि गुणों को देखकर ही गाँधी-गोखले को अपना राजनीतिक गुरु व महात्मा कहते थे। वे 'राजनीतिक संन्यासी' भी कहलाते थे, संयम, सेवाधर्म, पवित्रता, चारित्रिक मनोबल उनमें कूट-कूटकर भरा था।

(9) प्रशासकीय सुधारों की मांग - गोखले वित्तीय, प्रशासकीय व आर्थिक्र सुधारों के पक्षधर थे अपने बजट भाषणों में वे सरकार पर सुधारों हेतु दबाव डालते थे। वे अनावश्यक व्यय के स्थान पर जनकल्याण हेतु कार्य चाहते थे। बनारस काँग्रेस में अध्यक्ष के रूप में उनकी मांगें थीं- (A) विधान परिषदों में निर्वाचित सदस्यों की संख्या घटाकर आधी करना, (B) इंडिया कौंसिल में कम से कम 3 भारतीय सदस्यों की नियुक्ति, (C) जिले में सलाहकार परिषद कलैक्टर को परामर्श दे, (D) भारतीय लोकसेवाओं की न्यायिक शाखा की नियुक्तियां वकील वर्ग से, (E) न्यायिक व कार्यपालिका विभागों का पृथक्करण।

(10) स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन - स्वदेशी का अर्थ था- देश के लिए उत्कट प्रेम व भक्ति। इसीलिये वे इसे आर्थिक के साथ-साथ देशभक्ति का आन्दोलन भी मानते थे। यह त्याग, देश के आर्थिक विकास के प्रति रुचि व परस्पर सहयोग सिखाता है। भारत की समस्या गोखले के अनुसार उत्पादन हेतु पूंजी व साहस का अभाव था। किसी विदेशी व्यक्ति या संगठन द्वारा भारत में पूँजी व साहस लगाने को भी वे स्वदेशीवाद ही मानते थे।

स्वदेशी के राजनीतिक-आर्थिक आन्दोलन की सफलता हेतु वे विभिन्न देशों की आर्थिक दशाओं का ज्ञान, भारतीय उद्योगपतियों द्वारा देशी उद्योगों हेतु वित्तीय संसाधन उपलब्ध कराना, देश में तकनीकी, वैज्ञानिक व औद्योगिक शिक्षा का विस्तार, देश में उत्पादित वस्तुओं का उपयोग करने पर बल देते थे।

(11) स्वतंत्रता में विश्वास - मानव प्रगति हेतु वे स्वतंत्रता के पक्षधर थे। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों से भी ऐसा शासन चाहते थे कि भारतीय पश्चिम के लोकतांत्रिक आदर्शों के अनुरूप स्वयं शासन करने योग्य बन सकें। स्वतंत्रता के लिये वे न्यायपालिका व कार्यपालिका की पृथकता चाहते थे। जन अभिव्यक्ति हेतु वे स्वतंत्रता व प्रेस की स्वतंत्रता के दृढ़ समर्थक थे। उनकी अभिव्यक्तियां भी निर्भीकता, स्वतंत्र अभिव्यक्ति, आलोचना व रचनात्मक सुझावों का प्रदर्शन हैं। सार्वभौम वयस्क मताधिकार के वे पहले भारतीय प्रतिपादक थे।

(12) भारत सेवक समाज - श्री गोखले ने अपने विचारों और राजनीतिक विश्वासों को मूर्तरूप देने के लिए और अपने उद्देश्यों को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए भारत सेवक-समाज संघ की स्थापना 12 जून, 1905 को की थी। कार्यालय पूना में था। इसका उद्देश्य था, देश के नवुयवकों को देशभक्तिपूर्ण राजनीतिक शिक्षा देना। इस संस्था के द्वारा वे राजनीतिक संन्यासी पैदा करना चाहते थे।

उनके अनुसार भारत में राष्ट्र-निर्माण के कार्य में और अधिक प्रगति के लिए विशेष रूप से प्रशिक्षित ऐसी संस्था जरूरी थी जो सच्ची मिशनरी भावना के साथ कार्य में लग जाये। इस तथ्य की अनुभूति है हम सबसे पहले भारतीय हैं एक संगठित पुनर्निर्मित भारत का विचार एक निरर्थक सपना मात्र ही नहीं रह गया है, वह एक स्वीकृत धर्म है। सार्वजनिक जीवन के मार्गों को दिन-प्रतिदिन अधिक व्यापक मान्यता मिल रही है। इस आधार पर भवन निर्माण करने का महान कार्य अभी बाकी है। भारत सेवा संघ के सदस्य ब्रिटिश सम्पर्क को एक रहस्यमय ईश्वरीय इच्छा का परिणाम मानते थे। उसमें भारत की भलाई का संघ के सदस्यों का लक्ष्य वर्षों तक गम्भीर और धैर्यपूर्वक प्रयासों तथा यथेष्ट बलिदान के बिना नहीं हो सकता। देश में कहीं अधिक उत्कृष्ट चरित्र और अधिक क्षमता के निर्माण की दिशा में बहुत कुछ कार्य करना है। मार्ग बड़ा कंटकाकीर्ण है।

सार्वजनिक जीवन के कार्य में सफलता की एक आवश्यक शर्त है सार्वजनिक जीवन का आध्यात्मिकरण उत्साहपूर्ण देशभक्ति और निर्भीक हृदय।

भारत सेवक संघ उद्यत व्यक्तियों को प्रशिक्षित करने और समस्त संवैधानिक साधनों द्वारा भारतीय जनता के राष्ट्रीय हितों के पोषण करने का प्रयास करता था। इसके मुख्य कार्य थे-राजनीतिक शिक्षा और आन्दोलन, विभिन्न जातियों के बीच सदभावनामय सम्बन्धों को दृढ़ करना, शैक्षणिक आन्दोलन, औद्योगिक विकास को मदद देना।

8.8 संवैधानिक सुधारों का प्रारूप

यूरोप प्रथम विश्व युद्ध में विजय पाने के लिए ब्रिटेन को भारतीय जनता एवं नेताओं से तुरन्त सहयोग की आवश्यकता थी। अत: सरकार ने सुधार सम्बन्धी भारतीयों की मांग के प्रति ध्यान देना शुरू किया। बम्बई प्रान्त के गवर्नर लार्ड विलिंगटन ने गोखले से फिरोजशाह मेहता और आगा खां (मुस्लिम लीग) के सहयोग से भारत के लिए संवैधानिक एवं प्रशासनिक सुधारों का ऐसा प्रारूप तैयार करने को कहा।

गोखले ने केन्द्रीय और प्रान्तीय दोनों स्तरों पर सांविधानिक और प्रशासनिक सुधारों की रूपरेखा प्रस्तावित की, प्रान्तीय प्रशासन को, भारत की केन्द्रीय सरकार और भारत सचिव के

व्यापक नियंत्रण की परिधि से बाहर निकालकर, जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों का प्रभावी नियंत्रण स्थापित करना चाहते थे।

प्रत्येक प्रान्त में 6 सदस्यों वाली कार्यकारी परिषद में कम से कम तीन भारतीय सदस्य हों। विभागों का प्रभार सदस्यों को स्पष्टत: प्रदान किया जाना चाहिये। प्रान्तों में प्रभावशाली विधायी परिषदें स्थापित की जानी चाहिये। कम से कम 80 प्रतिशत सदस्य विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों और हित समूहों से निर्वाचित होने चाहिये। अल्पसंख्यकों के लिये विशेष प्रतिनिधित्व की व्यवस्था हो तथा विशेषज्ञों को छोड़कर कोई भी गैर सरकारी सदस्य मनोनीत नहीं होने चाहिये। प्रान्तीय स्तर पर कार्यकारी परिषद् विधायी परिषद् के प्रति वह सभी मामलों में जवाबदेह अवश्य हो।

प्रान्तों को स्वायत्तता हो और आन्तरिक प्रशासन और वित्तीय मामलों में केन्द्रीय सरकार के नियंत्रण से प्रान्तों में मुक्त रखा जाना चाहिये। प्रान्तीय सरकार निर्धारित अनुपात में करों से प्राप्त राजस्व का एक हिस्सा भारत सरकार को अंशदान के रूप में प्रदान करे।

प्रान्तीय प्रशासन को व्यापक रूप से विकेन्द्रीकृत किया जाना चाहिये। स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं का प्रभावी विस्तार किया जाना चाहिये। ग्राम पंचायतों, नगर परिषदों व तालुका परिषदों को पर्याप्त वित्तीय संसाधन उपलब्ध कराये जाने चाहिये।

केन्द्रीय सरकार में वायसराय की कार्यकारी परिषद के 6 सदस्य जिनमें से कम से कम दो भारतीय हों। इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल का नाम भारत की विधानसभा किया जाना चाहिये। अधिकारों और शक्तियों में वृद्धि करके इसे एक प्रभावशाली व्यवस्थापिका का रूप प्रदान किया जाना चाहिये-रक्षा, वित्त व अन्य सभी मामलों में। सेना में भारतीयों को, प्राप्त करने के व्यापक अवसर प्रदान किये जाने चाहिये। गोखले भारतीयों की भागीदारी को बढ़ाकर, स्वशासन के लक्ष्य की ओर एक और कदम बढ़ाना चाहते थे। नगरीय व ग्रामीण दौनों की स्थानीय संस्थाओं को स्थापित करने, के लिये गोखले ने जनता को राजनीतिक प्रशिक्षण में सक्रिय भागीदारी की व्यवस्था की। गोखले के अंतिम लक्ष्य की अभिव्यक्ति न होकर उन्हें मॉर्ले-मिन्टो सुधारों की अपर्याप्तता के कारण उत्पन्न हुये असंतोष का तात्कालिक समाधान कहा जा सकता है।

बोध प्रश्न- 3

प्रश्न : भारत सेवक समाज की स्थापना का क्या उद्देश्य था ?

उत्तर: .....

.....

.....

8.9 सारांश

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में गोखले का योगदान उदारवाद, शासन के प्रति संतुलित दृष्टिकोण, जनहित के संरक्षण (आर्थिक तथा अन्य), राष्ट्रवाद, शिक्षा का समर्थन, विकेन्द्रीकरण पर बल व राजनीतिक संन्यासी के रूप में समझा जा सकता है।

गवर्नर-जनरल की परिषद के वे सदस्य थे। बहुत बिरले व्यक्ति ही इस पद पर पहुँच पाते थे। गोखले न केवल अपने समकालीन भारतीय नेताओं जैसे तिलक, फ़िरोजशाह मेहता, आगरकर, रानाडे, गांधी आदि के प्रशंसा पात्र थे वरन् सरकारी पक्ष भी उनके भाषणो की तर्कपूर्णता, तथ्यपूर्णता व वक्तव्य का कायल था। लार्ड कर्जन भी उनकी संसदीय क्षमताओं के प्रशंसक थे, वे मानते थे कि किसी भी संसद में गोखले विशिष्ट स्थान प्राप्त कर सकते थे। उनकी योग्यता व उच्च चरित्र की वे प्रशंसा करते थे। हार्डिंग मित्र के रूप में उनका आदर करते थे। तिलक भी उन्हें महाराष्ट्र का हीरा मानते थे। उनकी विनम्रता, व्यक्तित्व की गरिमा, सेवा, कर्तव्यपरायणता, योग्यता विलक्षण थी। सार्वजनिक जीवन में पवित्रता, त्याग, कठोर परिश्रम व गहन अध्ययन व संयम के वे उदाहरण थे। फर्ग्युसन कॉलेज पूना के निर्माण में उनका भारी योगदान था। दक्षिण सेवा समाज व सार्वजनिक सभा में सचिव, विधायक, कांग्रेस अध्यक्ष आदि विभिन्न रूपों में उनका योगदान संसदीय परम्पराओं व प्रशासन की दृष्टि से उत्तम है। उनकी एक कृति भारत सेवक समाज थी, तो दूसरा उनके संवैधानिक सुधार जो आगे जाकर ब्रिटिश सुधारों का आधार बने। उनकी तुलना ग्लेडस्टोन तथा आस्क्विथ से की जाती थी। वे व्यावहारिक आदर्शवादी थे।

8.10 अभ्यास प्रश्न

1. गोखले के विचारों पर प्रमुख प्रभावों का विश्लेषण कीजिये।
2. गोखले के शिक्षा सम्बन्धी विचारों की व्याख्या कीजिये।
3. स्वतंत्रता संघर्ष में गोखले के योगदान का वर्णन कीजिये।
4. गोखले के आर्थिक विचारों की विवेचना कीजिये।
5. गोखले के प्रमुख राजनीतिक विचारों का मूल्यांकन कीजिये।
6. लघु टिप्पणियाँ लिखिये
   (1) गोखले का राजनीतिक वसीयतनामा।
   (2) भारत सेवक संघ।
   (3) विकेन्द्रीकरण पर गोखले के विचार।
   (4) ब्रिटिश शासन के प्रति दृष्टिकोण।

8.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. ज्योति प्रसाद सूद, आधुनिक भारतीय सामाजिक तथा राजनीतिक विचार की मुख्य धाराएँ, जयप्रकाश नाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ, 1970।
2. राम रतन, रुचि त्यागी एवं के. डागर, भारतीय राजनीतिक चिंतन, मयूर पेपर बैक्स नोएडा, 1996।
3. गिरीश मल्होत्रा, मॉडर्न इण्डियन पालिटिकल थिंकर्र, मुरारीलाल एण्ड संस, नईदिल्ली, 2006

4. आर. पी. सिंह, एजूकेशन एंड दी इण्डियन नेशनल कांग्रेस (1885-1947), सीनेरियो पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1996।
5. लक्ष्मण सिंह, आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक विचार, कॉलेज बुक डिपो, जयपुर, 1971।

इकाई-9

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 तिलक का राजनीतिक जीवन

9.3 तिलक के व्यक्तित्व व विचारों पर प्रभाव

9.4 तिलक के राजनीतिक विचार

- 9.4.1 स्वराज
- 9.4.2 स्वतंत्रता
- 9.4.3 साध्य-साधन
- 9.4.4 जनमत
- 9.4.5 स्वदेशी एवं बहिष्कार
- 9.4.6 सार्वजनिक पर्व

9.5 तिलक के समाज सुधार सम्बन्धी विचार

9.6 तिलक के शिक्षा सम्बन्धी विचार

9.7 तिलक के चिन्तन में धर्म

- 9.7.1 हिन्दू धर्म
- 9.7.2 गीता पर विचार

9.8 राष्ट्रवाद

9.9 सारांश

9.10 अभ्यास प्रश्न

9.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची

9.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप जान पायेंगे-

- तिलक का प्रेरणास्पद राजनीतिक जीवन
- तिलक के राजनीतिक विचार
- तिलक के विचारों में निहित विविध सामाजिक-राजनीतिक प्रसंगों में व्याप्त पारस्परिकता, एवं
- तिलक की राष्ट्रवाद सम्बन्धी अवधारणा

9.1 प्रस्तावना

तिलक का भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन तथा आधुनिक भारतीय राजनीतिक विचारकों में महत्वपूर्ण स्थान था। उनके चिन्तन एवं कार्य ने देश में चेतना जाग्रत की और राष्ट्रीय आन्दोलन को और ज्यादा गति प्रदान कर उसे जन आन्दोलन बना दिया।

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक का जन्म 23 जुलाई 1656 रत्नागिरी (महाराष्ट्र) के चितपावन ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनका परिवार अपनी धर्मपरायणता, विद्वता और धार्मिक परम्पराओं को मानने वाले के रूप में विख्यात था। उनके पिता गंगाधर पन्त शिक्षक थे तथा वे संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे। उनकी माताजी पार्वती बाई धार्मिक प्रवृत्ति की महिला थी। जब तिलक 10 वर्ष के हुए तब उनके पिता का स्थान्तारण पूना हो गया, उससे उन्हें उच्च शिक्षा प्राप्त करने के अवसर सहज मिल गए। तिलक का पूरा नाम बलवन्त केशवराव गंगाधर तिलक था। उन्हें प्रेम से 'बाल' कहकर पुकारते, जो उनके नाम के आगे जुड़ गया तथा सार्वजनिक जीवन में तिलक जनता में इतने लोकप्रिय हुए कि लोग उन्हें सम्मान से लोकमान्य कहने लगे। उन्होंने 1876 में बी.ए. परीक्षा उतीर्ण कर ली। उनकी गणित में रूचि होने के कारण सभी को अनुमान था कि वे गणित में स्नातकोत्तर करेंगे। लेकिन उन्होंने गणित की अपेक्षा कानून को चुना और इसके बारे में तिलक ने कहा कि मैं अपना पूरा जीवन केवल जनता के उत्थान के लिए समर्पित कर देना चाहता हूं अत: मैं समझता हूं कि इस कार्य में साहित्य या विज्ञान में उपाधि की जगह कानून का ज्ञान अधिक उपयोगी सिद्ध होगा। मैं ऐसे जीवन की कल्पना भी नहीं कर सकता जिसमें कि मेरा ब्रिटिश साम्राज्य के साथ टकराव न हो।

9.2 तिलक का राजनीतिक जीवन

लोकमान्य तिलक की कॉलेज से ही रूचि सार्वजनिक कार्यो की ओर बढती गई और गणित में रूचि होते हुए उन्होंने एम.ए. गणित में न करके एल.एल.बी. में प्रवेश लिया। उनके साथियों ने जब उनसे पूछा कि उनकी रूचि गणित में होते हुए कानून क्यों पढ़ रहे हैं, तो उनका जवाब था, "मैं अपना जीवन देश के जन-जागरण में लगाना चाहता हूं और मेरा विचार है कि इस काम के लिए साहित्य अथवा विज्ञान में किसी उपाधि की अपेक्षा कानून का ज्ञान अधिक उपयोगी होगा। मैं एक ऐसे जीवन की कल्पना नहीं कर सकता जिसमें मुझे ब्रिटिश शासकों से संघर्ष न करना पड़े।"

तिलक ने पूना में रहकर अपना सार्वजनिक जीवन सन् 1880 में प्रारम्भ किया। लिटन की प्रतिक्रियावादी नीति से भारत को लार्ड रिपन ने मुक्ति दिलाई। ऐसे समय में तिलक का राजनीति में प्रवेश हुआ। निश्चय ही तिलक इन घटनाओं से प्रभावित हुए। तिलक ने सर्वप्रथम शिक्षा के क्षेत्र में प्रवेश किया और पूना में न्यू इंगलिश स्कूल, दक्षिण शिक्षा सोसाइटी तथा फर्ग्यूसन कॉलेज की स्थापना की एवं व्यवस्थापन में प्रसिद्धि पाई।

सन् 1881 ई. में तिलक ने पत्रकारिता का क्षेत्र चुनते हुए अपने साथी आगरकर एवं चिपलूणकर के साथ मिलकर मराठा व केसरी पत्रों को प्रारम्भ किया। इन पत्रों ने जन-साधारण के साथ-साथ देशी रिसायतों का पक्ष भी प्रस्तुत किया। कोल्हापुर रियासत के प्रश्न को लेकर

ब्रिटिश शासन की जो आलोचना इन पत्रों में प्रकाशित हुई उसके कारण मराठा एवं केसरी के सम्पादक तिलक को चार माह के साधारण कारावास की सजा हुई। इससे तिलक की लोकप्रियता में और बढ़ोतरी हुई।

1891 ई. में तिलक ने सहमति आयु विधेयक का इस आधार पर विरोध किया कि विदेशी सरकार को जनता पर सामाजिक सुधार लादने का अधिकार नहीं है। राष्ट्रीय जागृति और वीरता उत्पन्न करने के लिए उन्होंने महाराष्ट्र में 'शिवाजी उत्सव" तथा "गणेश उत्सव" मनाने की प्रथा प्रारम्भ की।

सन् 1896 के अकाल में लोगों को अपने अधिकारों के प्रति बनाने की दिशा में उन्होंने महत्वपूर्ण कार्य किया और स्वदेशी का जबरदस्त समर्थन किया 1897 में तिलक बम्बई विधान-परिषद् के सदस्य चुने गए। वहां पर उन्होंने बड़ी निर्भीकतापूर्वक सरकार की आलोचना की। उसी वर्ष महाराष्ट्र में भयंकर अकाल पड़ा तथा पूना में प्लेग फैल गया। सरकार ने बहुत धीमी गति से राहत कार्य व रोकथाम की कार्यवाही की और जिससे एक लाख से अधिक लोगों की मृत्यु हुई। उन्होंने अपने पत्रों के माध्यम से लोगों को जमीन न बेचने व कर न चुकाने की बात कही। उन्होंने सरकार की कटु आलोचना की और कृषकों से सरकार का निर्भीकतापूर्वक। मुकाबला करने की बात कही। सरकार के रवैये से जनता बहुत दुखी थी इसलिए दो नवयुवकों ने पूना में प्लेग कमिश्नर रैण्ड की गोली मारकर हत्या कर दी। तिलक पर हिंसा और राजद्रोह भड़काने का आरोप लगाया गया और उन्हें डेढ़ वर्ष की कैद की सजा दी गई।

सन् 1890 की राजनीतिक कान्फ्रेंस में तिलक ने शासन की आबकारी नीति की आलोचना की। सन् 1891 के नागपुर कांग्रेस अधिवेशन में तिलक ने शस्त्रास्त्र कानून पर भारतीयों को अस्त्र-शस्त्र रखने का प्रस्ताव रखा। सन् 1893 के कांग्रेस अधिवेशन में उन्होंने जनता की गरीबी की ओर शासन का ध्यान आकर्षित किया।

सन् 1905 में बंगाल विभाजन के समय तिलक का राजनीतिक क्षेत्र से बढकर सम्पूर्ण भारत हो गया। लाल-बाल-पाल ने देश में वस्तुत: एक संगठित उग्रपंथी और राष्ट्रवादी दल को राष्ट्रीय रंगमंच पर ला खड़ा कर दिया। केसरी एवं मराठा के माध्यम से तिलक ने स्वदेशी, बहिष्कार और स्वराज्य का सन्देश जन-जन तक पहुंचाया। कांग्रेस के 1906 के कलकत्ता अधिवेशन में तिलक को अध्यक्ष बनाने का उग्रवादियों का विचार उदारवादियों द्वारा दादाभाई नौरोजी को अध्यक्ष बनाने की वजह से पूरा न हो सका। कांग्रेस के उदारवादी नेता तिलक के उग्र और यथार्थवादी विचारों से सहमत नहीं हो सके, फलस्वरूप कांग्रेस के नरम और गरम दल में मतभेद की खाई चौड़ी होती गई अन्तत: 1907 में सूरत की फूट सामने आई।

तिलक की प्रसिद्धि तथा लोकप्रियता इस समय पराकाष्ठा पर पहुंच गयी थी और सरकार उनके उग्रवादी दृष्टिकोण से भयभीत हो उठी। सूरत कांग्रेस की फूट से सरकार ने इसका लाभ उठाया और उग्रवादियों तथा क्रान्तिकारियों को कुचलने के लिए बडे सख्त कानून बनाए। 1908 में तिलक को राजद्रोह के मिथ्या आरोप में पुन: गिरफ्तार करके 6 वर्ष के कठोर कारावास का दण्ड देकर माण्डले जेल (बर्मा) भेज दिया गया। तिलक का देश-निर्वासन भारतव्यापी प्रदर्शन एवं विरोध का कारण बना। तिलक ने माण्डले जेल के अत्यधिक कष्टप्रद

वातावरण में कारावास का समय बिना किसी शिकायत के साहस तथा धैर्य से पूरा किया। वहां पर तिलक ने "'गीता-रहस्य" एवं "आर्कटिक होम इन दी वेदाज" दो विख्यात ग्रन्थों की रचना की। ये दोनों ग्रन्थ उनके विशाल ज्ञान, ऐतिहासिक शोध - गाम्भीर्य और विचारों की उत्कृष्टता के परिचायक हैं।

1914 ई. में जेल से छूटने पर उन्होंने पुन: राष्ट्रीय संगठन का कार्य आरम्भ किया। 1916 में उन्होंने स्वराज की प्राप्ति के लिए होमरूल लीग बनाई और आन्दोलन चलाया। मिसेज एनीबेसेण्ट के प्रयत्नों से तिलक पुन: कांग्रेस में आ मिले और अंत तक इसी में रहे। कांग्रेस के 1918 के अधिवेशन में वे सर्वसम्मति से अध्यक्ष चुने गए, लेकिन शिकोल केस के कारण उन्हें ब्रिटेन जाना पड़ा और वे इस पद को स्वीकार न कर सके। उन्होंने 1919 के शासकीय सुधारों की घोषणा को निराशाजनक बताया। तिलक ने पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना के उद्देश्य से ही इस कानून को क्रियान्वित करने के लिए कांग्रेस डेमोक्रेटिक पार्टी की स्थापना की और चुनाव लड़ने के लिए प्रचार एवं साधन जुटाने प्रारम्भ किए।

गाँधी ने जलियांवाला बाग हत्याकाण्ड और खिलाफत के प्रश्न को लेकर असहयोग आन्दोलन की घोषणा कर दी और भारतव्यापी असहयोग आन्दोलन चलाने के लिए 1 अगस्त 1920 का दिन निर्धारित किया। तिलक भी असहयोग आन्दोलन में विधान सभाओं का बहिष्कार करने को तैयार थे यदि अन्य दल भी वैसा करने को तैयार हों। लेकिन दुर्भाग्य वश उसी दिन थोड़ी बीमारी के बाद बम्बई में उस महान् राष्ट्रनिर्माता का निधन हो गया और साथ ही एक युग (तिलक) की समाप्ति एवं नए युग (गाँधी) की शुरुआत हुई।

जब तिलक जुलाई 1920 में सख्त बीमार होने के कारण बम्बई में शैय्या पर पड़े थे तब गाँधी उनके दर्शन के लिए बम्बई गए और वहाँ उन्होंने पूछा कि क्या वे दिसम्बर 1920 में चलाए जाने वाले असहयोग तथा खिलाफत आन्दोलन में उनको अपना सहयोग देंगे। इस पर तिलक ने कहा कि, "मैं सदैव असहयोगी रहा हूं मुझे यह कार्यक्रम बहुत पसन्द है, किन्तु इसमें देश हमारा साथ देगा, इस बात में मुझे संदेह है। कारण यह है कि असहयोग जनता के सामने आत्म-त्याग का प्रस्ताव प्रस्तुत करता है। मैं कोई ऐसा कार्य नहीं करूंगा जिससे आन्दोलन की प्रगति में बाधा पड़े। मैं तुम्हारी सफलता की कामना करता हूं और यदि जनता तुम्हारी बात सुनने के लिए तैयार हो जाए, तो मैं उत्साह के साथ तुम्हारा समर्थन करूंगा।"

जब तिलक ने राजनीति में प्रवेश किया, तो उस समय कांग्रेस केवल कुछ पढ़े लिखे लोगों की एक संस्था थी जो प्रत्येक वर्ष भारत के किसी बड़े नगर में इकट्ठा होकर अधिकारों की मांग करने के लिए प्रस्ताव पास करके या फिर एक याचिका के रूप में ब्रिटिश सरकार के पास भेजती थी। तिलक ने इसमें प्रवेश करके इसके स्वरूप को ही बदल दिया। उन्होंने कांग्रेस को जनता की संस्था बना दिया और स्वराज्य का संदेश भारत के कोने-कोने में पहुंचाया।

तिलक के राजनीतिक जीवन दर्शन के मूल्यांकन पर उनकी मृत्यु पर गांधीजी द्वारा दी गई श्रद्धान्जलि से नया प्रकाश पड़ता है। गांधीजी के शब्दों में, "भारत की भावी सन्तानों के हृदय में यही भाव बना रहेगा कि लोकमान्य तिलक नवीन भारत के निर्माता थे जो हमारे लिए ही जीए और मरे। हम भारत के एकमात्र लोकमान्य का अविनाशी स्मारक अपने जीवन को

उनके साहस, उनकी सरलता, उनके कठिन परिश्रम और उनकी स्वदेश भक्ति को सीख कर बनाएं। ईश्वर उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करें।"

9.3 तिलक के व्यक्तित्व व विचारों पर प्रभाव

तिलक का बचपन जिस पारिवारिक वातावरण में व्यतीत हुआ उसमें पवित्रता, विद्वता व धार्मिका निष्ठा पूरी तरह व्याप्त थी। देशभक्ति, चारित्रिक दृढ़ता और आदर्श के लिए कष्ट सहने की शक्ति उस सुप्रसिद्ध चित्तपावन समुदाय से मिली, जिसमें उनका जन्म हुआ था। जिसने पेशवाओं के रूप में महान् प्रशासनिक दक्षता, देशभक्ति की मिसाल रखी थी। तिलक के विचारों, दर्शन पर उनका स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इस समुदाय से संबंध होने के कारण उनमें राजनीतिक देशभक्ति एवं उग्रवादी राजनीतिक पद्धतियों का प्रभाव दिखता है। इस प्रभाव के बारे में गोखले ने एक बार तिलक के विषय में कहा था कि यदि वे डेढ़ सौ वर्ष पहले उत्पन्न हुए होते तो वे अपने लिए एक स्वतंत्र राज्य का निर्माण कर लेते।

तिलक के विचारों में गीता के कर्मयोग की प्रभूत प्रशंसा और सन्यास को अपेक्षाकृत कम विशिष्ट बताया जो शायद अज्ञात रूप में अपने दादा रामचन्द के कार्य के विरूद्ध अपनी प्रसुप्त भावनात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त कर रहे थे, जो उस समय संन्यासी हो गये थे। तिलक में आत्मसम्मान और वैयक्तिक मर्यादा की भावना एवं तीक्ष्णबुद्धिसम्पन्न अध्यवसाय और व्यक्तिगत स्वतंत्रता की भावनाएं उनमें पिताश्री श्री गंगाधर के प्रभाव के कारण ही उजागर हैं, जो स्वयं इससे परिपूर्ण थे। इसके अलावा संस्कृत व गणित में रूचि और अध्ययन अध्यापन के प्रति रूचि का कारण भी उनके पिताजी का ही प्रभाव था।

लोकमान्य तिलक की साहित्यिक रूचि भी उनके पिताजी के प्रभाव के कारण सम्भव हुई। जिन्होंने कई विद्यालय स्तरीय पाठ्य पुस्तकें लिखी, वे स्वयं संस्कृत साहित्य के विद्वान थे, और उन्होंने स्वयं ही तिलक को गणित और संस्कृत की प्रारम्भिक शिक्षा दी थी। संस्कृत के विद्वान होने के कारण तिलक को उन्होंने संस्कृत की अच्छी शिक्षा दी। इस विषय में उनकी तुलना जेम्स मिल से की जा सकती है, जिन्होंने अपने पुत्र जॉन स्तुअर्ट मिल को अपेक्षाकृत बहुत कम अवस्था में यूनानी और लेटिन भाषा की शिक्षा दी थी। उनकी साहित्य में रूचि जागत करने के लिए पिताजी उन्हें श्लोक याद करने के लिए प्रति श्लोक एक पैसा देते थे। और गणित के कठिन प्रश्न हल करने पर "कादम्बरी" जैसी साहित्यिक पुस्तकें भी प्रदान करने प्रेरणा भी।

माता पार्वती बाई हिन्दू पवित्रता, कर्त्तव्यशीलता और शुद्धता की मूर्तिस्वरूपा थीं, जिसका प्रभाव भी बालक बलवन्तराव पर पड़ा। प्रारम्भिक गुरू भीखाजी कृष्ण पटवर्द्धन का भी प्रभाव तिलक पर पड़ा। तिलक की सत्यवादिता व स्पष्टवादिता के कारण उनके पिताजी द्वारा दिये गये संस्कार एवं उनके प्रति पूर्ण विश्वास के कारण ही सम्भव हुआ जिसके उदाहरण उन्होंने स्कूल जीवन में ही मूंगफली के छिलके फैंकने, संत, सन्त या सन्त शब्द लिखने की घटनाओं में प्रस्तुत किए थे।

तिलक के दर्शन पर उनके चाचा गोविन्द राव की प्रेरणा व प्रोत्साहन का भी प्रभाव पड़ा। वे रामदास और शिवाजी के वीरतापूर्ण और आक्रामण उपदेशों एवं कार्यो से प्रभावित हुए

और गीता के कर्मयोग से वे बहुत प्रभावित हुए उसको अपने जीवन एवं दर्शन में अपनाया। इसके अलावा मनुस्मृति, वेदों उपनिषदों से भी वे प्रभावित थे।

गीता की आध्यात्मिकता और कर्मयोग को उन्होंने अपने कार्यक्षेत्र का आधार बनाया और यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि अन्याय का विरोध करने और अधर्म के संघर्ष करने के कार्य को लोग भगवान की भक्ति के समान समर्पित भावना से सम्पन्न करें। गीता के निष्काम कर्म से प्रभावित होते हुए कहा कि देश की सेवा निःस्वार्थ भावना से की जानी चाहिए। सत्य के प्रति निष्ठावान रहते हुए यह कहा कि स्वराज हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, अन्त में सत्य की विजय होगी, विदेशियों को भारत को स्वतंत्रता देनी पड़ेगी हालांकि उसके लिए भारतीयों को बलिदान या कष्ट उठाने पड़ेंगे। देश को विदेशियों से स्वतंत्र कराने के लिए कष्ट सहने की शक्ति या तत्परता, विदेशी साम्राज्य के विरूद्ध जनता को संगठित करने की आवश्यकता की अनुभूति तथा त्याग वृत्ति तिलक के व्यक्तित्व पर शिवाजी के चरित्र का ही प्रभाव है।

भारतीय चिन्तन के अलावा उन पर पश्चिमी दर्शन का भी प्रभाव पड़ा। उनके ऊपर राष्ट्रवादी विचारक मैजिनी का भी प्रभाव पड़ा। राष्ट्र संबंधी पाश्चात्य मान्यता को स्वीकार करते हुए वे राष्ट्र के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को मानते हैं। स्वराज्य शब्द को वैदिक आधार पर मानते हुए उसका प्रयोग राजनीतिक क्षेत्र में किया। उन्होंने स्वराज के राजनीति अर्थ के साथ-साथ उसका नैतिक दृष्टि अर्थ भी प्रस्तुत किया।

पश्चिमी विचारकों का, जिनका उन्होंने गहन अध्ययन किया था उनमें हीगल, बेन्थम, मैजिनी, बर्क, मिल तथा विल्सन आदि का भी उन पर प्रभाव पड़ा। उन्होंने पाश्चात्य दर्शन के साथ भारतीय चिन्तन परम्परा का तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया। वे प्राचीन संस्कृत दर्शन में निष्णात थे और उनके राजनीति विचारों में भारतीय विचार की कुछ प्रमुख धारणाओं और आधुनिक पश्चिम के राष्ट्रवादी और प्रजातांत्रिक विचारों का समन्वित प्रभाव झलकता है। तिलक के, अनुसार अद्वैतवाद की तत्वमीमांसा में प्राकृतिक अधिकार और मानवीय समानता की राजनीतिक अवधारणा निहित थी। तिलक ने कहा कि चूँकि आत्मा ही सर्वोच्च सत्ता है और लोग उस निरपेक्ष सत्ता में भाग लेते हैं, इसलिए सब की वही आध्यात्मिक शक्ति है। इस प्रकार उनकी स्वतंत्रता की सर्वोच्चता की अवधारणा अद्वैतवाद से प्रभावित थी।

तिलक का राष्ट्रवाद भी राष्ट्रीय स्वतंत्रता और आत्मनिर्धारण के पाश्चात्य सिद्धान्तों से प्रभावित था। 1908 के प्रसिद्ध मुकदमे में अपने वक्तव्य में तिलक ने जॉन स्तुअर्ट मिल की राष्ट्रवाद की प्रसिद्ध परिभाषा को उद्धृत किया। 1919 और 1920 में उन्होंने आत्म-निर्णय या आत्मनिर्धारण की वुडरो विल्सन की अवधारणा को स्वीकार करते हुए उसे भारत में लागू करने की बात कही थी। इस प्रकार तिलक का राष्ट्रवाद आत्मनिर्भर स्वतंत्रता के रूप में आत्मा के वेदान्ती आदर्श और मैजिनी, बर्क, मिल और बाद में वुडरो विल्सन की पश्चिमी अवधारणाओं का समन्वय था। स्वराज्य एक वैदिक शब्द है। तिलक इसे अपने आध्यात्मिक दृष्टिकोण के कारण यह मानते थे कि स्वराज्य केवल अधिकार ही नहीं बल्कि धर्म भी था। गांधी के समान उन्होंने स्वराज्य को नैतिक और आध्यात्मिक अर्थ दिया।

मानवीय भ्रातृत्व में विश्वास तिलक में वेदान्तवाद का ही प्रभाव है। उसी तरह स्वतंत्रता और आन्तरिक अनुभूति के रूप में अवधारणाएं उनके वेदान्ती विचारों को सूचित करते हैं।

तिलक के ऊपर ब्रिटेन के इतिहास के विशेषत: टयूडर और स्टुअर्ट कालों का प्रभाव भी पड़ा जिसमें निरंकुशता के विरूद्ध ब्रिटेन की जनता के संघर्ष व विजय की बात थी। इसी तरह चिपलूणकर, आगरकर जैसे समकालीन विचारकों, साथियों से कुछ मामलों में प्रभावित हुए इस प्रकार तिलक के विचार भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन के गहन अध्ययन तथा युग प्रवर्तक महापुरूषों के प्रेरणास्पद आदर्शो से प्रभावित हुए थे।

निर्भयता-अंग्रेजी साम्राज्य के दमनचक्र के मध्य अपनी विचारधारा को तिलक ने जो दृढ़ता प्रदान की वह उनके निर्भयता संबंधी गुण को स्पष्ट करती है। राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन में तथा अपनी लेखनी के माध्यम से इस गुण का उन्होंने बचपन में ही कई श्लोक याद करके अपने पिताजी से उसके पुरस्कार स्वरूप कई पुस्तकें प्राप्त की थी। वे गणित एवं संस्कृत के विद्वान थे और वे प्रत्येक ग्रन्थ का सारांश लिखकर उसकी आलोचनात्मक टीका भी लिख देते थे। गीता-रहस्य उनकी गीता पर लिखी प्रमुख टीका है।

उनमें राष्ट्रभक्ति एवं राष्ट्रप्रेम कूट-कूट कर भरा था। उनके मन में बाल्यकाल से ही स्वदेशी, स्वधर्म, स्वदेशी भाषा, स्वराज के बारे में आदर एवं स्वाभिमान था। उन्होंने राष्ट्रभक्ति का वैचारिक स्तर पर आर्कटिक होम इन द वेदाज, ओरियन और अपने पत्रों केसरी व मराठा में प्रचार किया तो यथार्थ स्तर पर स्वराज्य की प्राप्ति के लिए अंग्रेजी साम्राज्य के सामने संघर्ष किया और कई बार जेल भी गए। इसके अलावा राष्ट्रीय शिक्षा के लिए न्यू इंगलिश स्कूल में अपने अध्यवसाय के अन्तर्गत राष्ट्रीयता की जागृति पैदा की। वे सदैव सत्य के पक्षधर थे। सत्य की परीक्षा स्कूली जीवन में मूंगफली के छिलके फैकने के लिए प्रताड़ित किये जाने पर उन्होंने यह दण्ड स्वीकार नहीं किया क्योंकि वे इस कार्य में शामिल नहीं थे। इसी प्रकार स्कूल में संत, सन्त और सनत् लिखने में भी अपनी सत्यवादिता दर्शाई थी। बाल्यकाल के ये संस्कार उनके जीवन पर्यन्त उनके मार्गदर्शक बन गए।

लोकमान्य तिलक आधुनिक भारत के राजनीतिक एवं सामाजिक चिन्तन के विचारक थे। उनका भारत के राजनीतिक इतिहास में ही नहीं अपितु इस देश के पुनर्जाकरण के महान् इतिहास में भी चिरस्थायी स्थान रहेगा। तिलक ने न केवल भारतीयों को शासन के रवैये के प्रति ही असंतुष्ट बनाया अपितु उन्हें अपने आपके विकास के प्रति भी संतुष्ट होकर नहीं बैठने दिया। दासता में संतोष कर बैठने वाले भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की संचालन नहीं कर सकते थे। तिलक ने उन्हें नया जीवन, नई प्रेरणाएं दी।

तिलक में पाण्डित्य तथा राजनीतिक नेतृत्व दोनों का समन्वय था, और उनमें राजनीतिक यथार्थवाद की गम्भीर और पैनी सूझबूझ तथा विशाल आदर्शवाद का सम्मिश्रण था। तिलक का पाण्डित्य व्यापकता तथा गम्भीरता दोनों का अद्भुत मिश्रण था और दृष्टिकोण बुद्धिवादी तथा आलोचनात्मक था। किन्तु उनके मन में हिन्दू धर्मग्रंथों के प्रति गहरी आस्था थी। फिर भी उन्हें यह कहने में संकोच नहीं हुआ कि आर्य ऋषियों का आदि निवास स्थान उत्तरी ध्रुव प्रदेश था। यदि उनका दृष्टिकोण संकीर्ण राष्ट्रवादी होता तो वे भारत के बाहर के प्रदेश को भारतीय संस्कृति के जन्मदाताओं का आदि देश न मानते।

तिलक ने न केवल लोगों को राजनीति सिखाई, न केवल धर्म का उपदेश दिया बल्कि देश के लिए स्वयं ने दुःख झेलकर आदर्श प्रस्तुत किया। राष्ट्रवाद की सुरसुरी को भागीरथ के

समान जनमानस की स्मृतिपटल पर अवतरित कर तिलक ने भारत को पुन: एकता का संदेश दिया। वे अनेकता में एकता के दर्शन करने वाले सहिष्णु तथा धर्मनिरपेक्ष मानव के रूप में उपस्थित हुए उनकी लेखनी में शक्ति और ओज था और पत्रकारिता में उन्होंने निर्भयता का अद्‌वितीय उदाहरण प्रस्तुत किया।

उन्होंने राजनीतिक आन्दोलनों में सम्पूर्ण जनता को जोड़ दिया और राजनीति के लिए आदर्शवादी चिन्तन का स्वरूप नहीं अपनाया। उस समय देश में, दैन्य तथा निराशा का राज्य था, वे स्वराज्य के सन्देशवाहक के रूप में प्रकट हुए उन्होंने को दासता से घृणा करना सिखाया।

तिलक ने राजनीतिक दार्शनिक के रूप में हमें राष्ट्रवाद का दिया। उनका राष्ट्रवाद का सिद्धान्त पश्चिमी एवं पूर्वी विचारकों के सिद्धान्तों का समन्वय था। तिलक ने ऐसे समय में जबकि संवैधानिक साधनों के माध्यम से ब्रिटिश सरकार को भारतीय जन आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए प्रेरित करने और भारत में राजनीतिक और आर्थिक सुधारों को क्रियान्वित करवाने के उदारवादियों के मंतव्यों के पूरा नहीं होने के कारण हताशा की स्थिति विद्‌यमान थी, तिलक ने भारतीय राष्ट्रवाद का ऐसा स्वरूप प्रस्तुत किया जिसमें जन आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए विदेशी शासकों पर निर्भरता और याचना की अपेक्षा, जनता की जागृति पैदा करने की भावना निहित थी। उसके राष्ट्रवाद संबंधी विचार लोकतांत्रिक यथार्थवादी थे। उन्होंने भारतीय संस्कृति को राष्ट्रवाद आधार बनाया लेकिन वे संकीर्ण राष्ट्रवादी नहीं थे। उन्होंने भारतीय राष्ट्रीयता के लिए धर्मों के सहअस्तित्व व सौहार्दपूर्ण संबंधों पर जोर दिया।

उन्होंने राष्ट्र भाषा हिन्दी एवं देवनागरी लिपि अपनाने पर बल दिया, और राष्ट्रीय एकता बनाए रखने के लिए रेलों के राष्ट्रीयकरण एवं धर्मनिरपेक्षता की बात कही।

तिलक ऐसे प्रथम नेता थे जिन्होंने स्वराज्य की बात कही और लोगों को दासता से घृणा करना सिखाया। उन्होंने देश की आजादी के लिए लोगों को संगठित होश, सिखाया और जनता को उनकी शक्ति का अहसास करवाया। उन्होंने स्वराज्य पर बल देते हुए कहा कि, "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है, मैं उसे लेकर रहूंगा" यह मात्र विचार ही नहीं था इसके लिए उन्होंने संघर्ष भी किया और जनता में स्वराज्य की अलख जगाई।

स्वराज्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा आदि अस्त्रों को पहली बार अपनाया और जन-जन को इसमें जोड़ दिया और विदेशी साम्राज्य की जडें हिलाकर रख दीं। ये हिंसा पर आधारित न होते हुए भी उनसे भी अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुए बाद में गांधीजी ने भी इन्हीं के प्रभावशाली तरीके के प्रयोग किया।

तिलक ने कांग्रेस को अभिजनवर्ग की पार्टी से जनता की पार्टी दिया और इसका व्यापक आधार बनाते हुए समाज के सभी वर्गों को इससे जोड़ दिया। उन्होंने कांग्रेस के उद्देश्य को व्यापक बनाते हुए उसको स्वराज्य का लक्ष्य घोषित करवा दिया और उसके नई तकनीकों के माध्यम से स्वावलम्बी व आत्मनिर्भर बना दिया।

धर्म के बारे में कट्टर हिन्दू होते हुए भी वे किसी धर्म से घृणा नहीं करते थे, सभी तथा धर्मों की अच्छी बातें विद्‌यार्थियों को दिये जाने के समर्थक थे। वे धार्मिक सद्भाव की बात कहते थे, उन्होंने राष्ट्रीय एकता बनाए रखने के लिए हिन्दू-मुस्लिम एकता पर बल दिया और उन्होंने

धर्मनिरपेक्षता पर जोर दिया। उन्होंने लखनऊ समझौते में मुसलमानों के पृथक प्रतिनिधित्व का प्रस्ताव एक अस्थायी व्यवस्था के रूप में अपनाते हुए एक दूरदर्शी राजनीतिज्ञ का उदाहरण दिया था। वे देश की एकता के लिए राष्ट्रवाद का आधार सभी सम्प्रदायों को बनाना चाहते थे।

बोध प्रश्न-1

प्रश्न: तिलक रचित दो विख्यात ग्रन्थों का उल्लेख कीजिये।

उत्तर: .....

.....

9.4 तिलक के राजनीतिक विचार

तिलक के राजनीतिक विचारों को हम निम्न शीर्षकों के माध्यम से देख सकते हैं:

9.4.1 स्वराज

स्वराज्य तिलक की चिन्तन धारा की एक महत्वपूर्ण कडी हैं, और उनका नारा "स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है," स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान लोगों की जबान पर रहता था और उन्हें प्रेरित करता था। उन्होंने स्वराज्य प्राप्ति के लिए अपनी महत्वपूर्ण भागीदारी निभाई। उनके लिए स्वराज्य का आशय ऐसी शासन व्यवस्था से है जिसमें भारत के आंतरिक मामलों का संचालन व प्रबंध भारतीयों के हाथों में हो। यह अपना शासन स्वयं द्वारा करने का सिद्धांत है। यह ब्रिटिश शासन की जगह भारतीय शासन की मांग करता है। तिलक के समस्त राजनीतिक चिन्तन को एक शब्द में व्यक्त किया जा सकता है और वह है "स्वराज्य"। तिलक का स्वराज्य प्राचीन भारतीय दर्शन के धर्मराज्य से प्रभावित था जिसका अभिप्राय एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था से है जो धर्म पर आधारित हो और जिसका लक्ष्य धर्म का रक्षण तथा पोषण हो। धर्मराज्य की स्वराज्य एक आवश्यक स्थिति है। स्वराज्य तिलक के लिए एक नैतिक आवश्यकता थी, प्रत्येक हिन्दुस्तानी का कर्त्तव्य था। उन्होंने संदेश दिया कि "स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम इसे लेकर रहेंगे।" तिलक का राष्ट्रवादी दर्शन आत्मा की परम स्वतंत्रता के वेदान्ती आदर्श और मैजीनी बर्क, मिल और विल्सन की पाश्चात्य धारणा का समन्वय था। इस समन्वय को उन्होंने "स्वराज्य" शब्द के द्वारा व्यक्त किया। स्वराज्य एक वैदिक शब्द है जिसका प्रयोग महाराष्ट्र में शिवाजी के राजतंत्र के लिए किया जाता था। तिलक का दृष्टिकोण आध्यात्मिक था इसलिए वे स्वराज्य को मनुष्य का अधिकार ही नहीं, बल्कि धर्म भी मानते थे। उन्होंने स्वराज्य का नैतिक तथा आध्यात्मिक अर्थ भी बतलाया। राजनीतिक दृष्टि से इसका अर्थ है आत्मनिग्रह की पूर्णता प्राप्त करना। जो स्वधर्म पालन के लिए अत्यावश्यक है। इसका आध्यात्मिक पक्ष भी है। इस दृष्टि से उसका अर्थ है आन्तरिक आध्यात्मिक स्वतंत्रता और ध्यानजन्य आनंद की प्राप्ति। स्वराज्य का आध्यात्मिक अर्थ तिलक ने इन शब्दों में व्यक्त किया अपने में केन्द्रित और अपने पर निर्भर जीवन ही स्वराज्य है। स्वराज्य परलोक में है और इस लोक में भी है। जिन ऋषियों ने स्वधर्म के नियम का प्रतिपादन किया, उन्होंने अंत में वन की राह पकड़ी, क्योंकि जनता स्वराज्य का उपयोग कर रही थी और उस स्वराज्य की रक्षा का भार क्षत्रिय राजाओं पर था। मेरा विश्वास है और मेरी प्रस्थापना है कि जिन लोगों ने इस

संसारमें स्वराज्य का उपभोग नहीं किया है वे परलोक में भी स्वराज्य के अधिकारी नहीं हो सकते।" यही कारण था कि तिलक राजनीतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार की स्वतंत्रता चाहते थे।

उन्होंने स्वराज्य को एक राजनीतिक आवश्यकता मात्र नहीं बल्कि नैतिक परमावश्यकता भी बताया और कहा कि यह मनुष्य के नैतिक स्वरूप की अनिवार्य मांग है। प्रत्येक व्यक्ति में एक दैवी तत्व विद्यमान रहता है जिसकी अनुभूति के लिए आवश्यक है कि उसे स्वधर्म के अनुसार आचरण करने की स्वतंत्रता हो जिसकी प्राप्ति तभी सम्भव है जब हमारे सामाजिक जीवन की मांग कि एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना हो जिसमें लोग धर्मानुकूल आचरण कर सकें और जो जनता की नैतिक मनोभावना अथवा आत्मा के अनुकूल हो। तिलक ने कहा कि इस प्रकार की उत्तरदायी राजनैतिक व्यवस्था का दूसरा नाम स्वराज्य है। तिलक के अनुसार स्वराज्य ही राष्ट्र की प्रगति का मूल है। बिना स्वराज्य के औद्योगिक प्रगति, राष्ट्रीय शिक्षा, सामाजिक सुधार आदि कुछ भी संभव नहीं है। उनके अनुसार स्वराज्य व्यक्ति का प्राकृतिक अधिकार है और अंग्रेजों द्वारा भारत पर अधिकार जमाए रखना एक असहनीय ज्यादती है। इसलिए भारतीय स्वराज्य की प्राप्ति के लिए संघर्ष करें।

तिलक का स्वराज्य एक ऐसा राज्य है जिसमें शासन की शक्तियां मर्यादित हैं, जिसमें शासन सत्ता का प्रयोग जनहित और जनता के सर्वांगीण विकास के लिए किया जाता है। तिलक का स्वराज्य सिद्धान्त किसी एक जाति, सम्प्रदाय या वर्ग से संबंधित अवधारणा नहीं थी। इसमें किसी के प्रति, विशेषकर हिन्दुओं का मुसलमानों के प्रति विद्वेष या पारस्परिक अविश्वास को कोई स्थान नहीं था। यह संपूर्ण जनता के सर्वोत्तम हितों की पूर्ति का साधन है। उनका स्वराज्य वर्ग विशेष या सम्प्रदाय विशेष के लिए नहीं था। भारतीय जनता की समस्याओं का हल करने के लिए एक औषधि वास्तविक सत्ता। जब यह औषधि हमें प्राप्त हो जाएगी, तब यदि हममें आपस में कोई भेद होंगे तो हम उन्हें स्वयं सुलझाने में समर्थ होंगे। हम अपने विवादों को हल करने की शक्ति चाहते हैं।

तिलक केवल राजनेता ही नहीं थे वरन् एक महान् विद्वान तथा दार्शनिक भी थे। उनके संस्कृत पांडित्य ने उन्हें आत्मा की वास्तविक प्रगति को प्रकट करने के लिए विवश किया और उनका स्वराज्य अधिकारों के सिद्धान्तों से प्रभावित न होकर भारतीय प्राकृतिक दर्शन की परम्परागत शैली से प्रभावित था। वे स्वराज्य को धर्म या कर्तव्य के रूप में देखते थे। वे राजनीतिक समुदाय से भी पहले स्वराज्य की स्थिति को स्वीकार करते थे, क्योंकि स्वराज्य एक नैतिक आवश्यकता थी जिस पर व्यक्ति का सामुदायिक जीवन आधारित था। शिवाजी ने जिस स्वराज्य की परम्परा का पुनरूद्धार किया था उसे देखते हुए भी यह कहा जा सकता है कि तिलक की स्वराज्य की धारणा उनके भारतीय संस्कारों का परिणाम थी। तिलक ने स्वराज्य की प्राप्ति के लिए सार्वजनिक रूप से क्रान्ति को उपयुक्त नहीं माना। किन्तु वे पूर्णतया अहिंसा के पुजारी भी नहीं थे। वे अहिंसक प्रतिरोध की नीति को एक सुविधा के रूप में प्रयोग में लाते रहे। यह उनके जीवन की नीति नहीं रही। वे राष्ट्र में ऐसी शक्ति का संचार करना चाहते थे कि शासन का प्रतिरोध उग्र से उग्रतम होता चला जाये। इसके लिए तिलक ने प्रतिक्रियात्मक सहयोग की नीति का प्रयोग किया ताकि यथासंभव शासकीय परिवर्तन लाया जाये। यदि

परिवर्तन संभव न हो तो असहयोग का मार्ग अपनाया जाये। तिलक ने इसी कारण से उदारवादियों की संवैधानिक कार्यप्रणाली के स्थान पर निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति को अपनाया।

तिलक का स्वराज्य लोगों द्वारा नियंत्रित है। इसमें शासन की अंतिम सत्ता जनता के हाथों में है। इसमें लोगों की सक्रिय भागीदारी हैं। इसमें शासन लोगों के प्रति उत्तरदायी ही नहीं शासन लोगों की शिकायतों और आवश्यकताओं के प्रति संवेदनशील भी है। वे लोकतांत्रिक स्वराज्य के समर्थक थे।

टी.वी. पर्वते ने तिलक को लोकतांत्रिक शासनप्रणाली का प्रवर्तक माना है क्योंकि तिलक तत्कालीन सम्पूर्ण शासन-प्रणाली को बदल देना चाहते थे और कहते थे कि स्वराज्य का अर्थ केवल कुछ थोड़े से उच्च पद प्राप्त करना नहीं वरन् एक ऐसी शासन-व्यवस्था से है जिसमें शासन के सभी अधिकारी और कर्मचारी जनता के प्रति सचेत रहें तथा कार्यपालिका के अधिकारी और कर्मचारी स्वयं को जनता के प्रति उत्तदायी समझें। तिलक के लिए स्वराज्य का अर्थ था कि अन्तिम सत्ता जनता के हाथ में हों। उनके लिए स्वराज्य का आधार यह विश्वास था कि राज्य का अस्तित्व जन-गण के कल्याण और सुख के लिए है। तिलक को भारतीय क्रान्ति के जन्मदाता, असन्तोष के पिता आधुनिक भारत के निर्माता आदि अनेक नामों से विभूषित किया जाता है और इन नामों के साथ लोकतांत्रिक स्वराज्य के प्रतिपादक अवश्य ही जुड़ जाना चाहिए क्योंकि लगभग अपने जीवनपर्यन्त उन्होंने जो प्रचार कार्य किया उसमें वे इस बात को बराबर दुहराते रहे थे। उनके लिए लोकतंत्र और स्वतंत्रता समान उद्देश्यीय थे।"

कांग्रेस ने अपने कलकत्ता अधिवेशन में स्वराज्य को औपचारिक रूप से अपना लक्ष्य घोषित कर दिया था, लेकिन इसे लोकप्रिय और प्रभावी बनाने की दृष्टि से वह उदासीन ही रही थी। तिलक ने माण्डले जेल से लौटने पर स्वराज्य का संदेश घर-घर पहुंचाने के लिए एक प्रभावी कार्यक्रम बनाया। इसके लिए होमरूल की स्थापना की, स्वराज्य की स्पष्ट शब्दों में व्याख्या की और इस औचित्य को सिद्ध किया कि भारत को अविलम्ब स्वराज्य दिया जाना आवश्यक है।

सन् 1916 से पहले तक अरविन्द और विपिनचन्द पाल की भांति स्वराज्य से तिलक का आशय देश के लिए पूर्ण स्वाधीनता की ऐसी स्थिति से था, जिसमें ब्रिटिश सम्राट के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता था। किन्तु 1916 के लखनऊ अधिवेशन में उन्होंने स्वराज्य की अपनी धारणा को तात्कालीन परिस्थितियों में अधिक समायानुकूल और व्यावहारिक बना लिया।

1916 में चलाए गए होमरूल आदोलन के दौरान 31 मई, 1916 को अहमदनगर में स्वराज्य पर अपने पहले भाषण में कहा था कि ' स्वराज्य का अर्थ केवल यह है कि भारत के आंतरिक मामलों का संचालन और प्रबंध भारतीयों के हाथों में हो। हम ब्रिटेन के सम्राट को बनाए रखने में विश्वास करते हैं।" तिलक ने अपनी पूर्ण स्वाधीनता की आकांक्षा का परित्याग नहीं किया था वरन् तात्कालिक परिस्थितियों को देखते हुए ब्रिटिश स्वराज्य के अन्तर्गत स्वराज्य का व्यावहारिक सुझाव दिया था। वह पूर्ण स्वाधीनता की दिशा में पहला महत्त्वपूर्ण कदम था, उनका आदर्श तो भारत के लिए सम्पूर्ण अर्थो में पूर्ण स्वतंत्रता ही था। तिलक जीवनपर्यन्त स्वराज्य प्राप्ति के लिए जूझते रहे और उनके अंतिम शब्द भी स्वराज्य के लिए

कहे थे कि "यदि स्वराज्य न मिला तो भारत समृद्ध नहीं हो सकता। स्वराज्य हमारे अस्तित्व के लिए अनिवार्य है।"

इस प्रकार तिलक का राजनीतिक चिन्तन स्वराज्य पर केन्द्रित है और उन्होंने स्वराज्य की व्यापकता को अपनाया। देश की स्वतंत्रता एवं व्यक्ति की स्वतंत्रता से जुडा था उनका यह सिद्धान्त।

अंत में गांधी के शब्दों में "हमारे समय के किसी भी व्यक्ति का जनता पर इतना प्रभाव नहीं पड़ा, जितना तिलक का था, स्वराज्य के संदेश का किसी ने इतना आग्रह से प्रचार नहीं किया जितना लोकमान्य ने।"

9.4.2 स्वतंत्रता

लोकमान्य तिलक व्यक्ति के व्यक्तित्व पर बाध्यकारी नियंत्रणों को अनैतिक मानते थे। स्वतंत्रता संबंधी उनके विचार उनकी इस धारणा व आध्यात्मिकता आस्था से ही निर्धारित हुए थे।

तिलक के लिए स्वतंत्रता, व्यक्ति की बाहरी नियंत्रणों से मुक्ति का नकारात्मक परिणाम नहीं, अपितु व्यक्ति की ऐसी सामर्थ्य के रूप में समझी जा सकती थी, जिसके द्वारा वह अपने ईश्वरीय अंश को, व्यक्तिगत व सामाजिक जीवन में प्रतिबिम्बित कर सके। भारतीय अद्वैतवाद में गहरी आस्था होने के कारण तिलक सभी मनुष्यों को निरपवाद परमात्मा का अंश स्वीकाए करते थे। इस प्रकार उनके लिए व्यक्ति की स्वतंत्रता का निषेध, ईश्वर की सत्ता के निषेध के समान ही आपत्तिजनक और अपवित्र था।

राजनीतिक स्वतंत्रता तिलक के लिए स्वयं में साध्य नहीं थी, अपितु वह व्यक्ति की आध्यात्मिक स्वतंत्रता की पूर्व-शर्त थी तथा अनिवार्य रूप से पूरक थी। तिलक पश्चिमी व्यक्तिवादियों की भांति स्वतंत्रता को व्यक्ति पर से, समाज और राज्य के प्रतिबंधों के निवारण का व्यावहारिक सूत्र में नहीं मानते थे, अपितु उनके अनुसार स्वतंत्रता मनुष्य के व्यक्तिगत विकास और उसके द्वारा अपने परम श्रेय ईश्वर से एकाकार हो जाने की के लिए अनिवार्य नैतिक आवश्यकता है। तिलक की धारणा स्वतंत्रता के प्रयोजन व महत्व के विषय में जान स्टुअर्ट मिल के दृष्टिकोण से समानता रखती थी। मिल की ही भांति वे स्वतंत्रता को व्यक्ति की ऐसी सामर्थ्य के रूप में स्वीकार करते थे जिसके द्वारा वह अपने व्यक्तित्व का सर्वोत्तम नैतिक विकास कर सके।

राष्ट्र की स्वतंत्रता और आत्मनिर्णय के अधिकार का सिद्धांत, उनके ऊपर भारतीय दर्शन और पाश्चात्य उदारवाद का प्रभाव था। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि व्यक्ति एवं राष्ट्र दोनों की स्वतंत्रता के कट्टर समर्थक थे।

9.4.3 साध्य-साधन

लोकमान्य तिलक, गोखले एवं गांधी की तरह साधनों की एवं नैतिकता साध्य की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण है यह नहीं मानते थे। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे साधनों को महत्व नहीं देते थे। तथ्य यह है कि तिलक साधनों की नैतिकता की अपेक्षा उनकी

प्रभावशीलता को अधिक महत्व देते थे। वे उदारवादियों द्वारा अपनाये जा रहे निष्किय और साधनों की तुलना में सक्रिय एवं प्रभावशाली साधनों को अपनाने पर बल देते थे। इन्हीं साधनों के अन्तर्गत उन्होंने उदारवादियों के प्रार्थना-पत्र, प्रतिवेदनों की जगह स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षा और निष्क्रिय प्रतिरोध को अपनाया और प्रभावशाली तरीके से अपने साधनों का प्रयोग किया और साध्य प्राप्ति के लिए जनजागृति पैदा की।

तिलक उदारवादियों के साधनों से असहमत होते हुए भी देश-हित के प्रति उनके दृष्टिकोण की ईमानदारी से अनभिज्ञ नहीं थे। वे यह भली भांति जानते थे कि साधनों के प्रति दृष्टिकोण, देश की राजनीतिक आकांक्षाओं की निरन्तरता का प्रतीक था। उनके अनुसार, "आज के उग्रवादी भविष्य के उदारवादी होंगे, बिल्कुल वैसे ही जैसे कि आज के उदारवादी अतीत के है। जब राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई थी और दादाभाई नौरोजी ने भारत में अपने विचारों प्रथम बार अभिव्यक्त किया था तो उन्हीं विचारों को, जिन्हें आज उदारवादियों ने अपना लिया है उग्रवादी विचार माना गया था। अत: काल-क्रम में यह स्पष्ट हो जाएगा कि शब्द उग्रवादी प्रगति का प्रतीक है।

इस प्रकार तिलक साधनों की प्रभावशीलता अपनाने की बात कहते तथा उन्होंने उसका प्रयोग भी किया। वे जनता के अधिकारों के लिए शासकों की दया, पर निर्भर रहने को अस्वीकार करते थे और साधनों को प्रभावशील बनाकर साध्य की प्राप्ति के प्रयत्न करते थे।

आन्दोलन के साधन के रूप में हिंसा व अहिंसा के प्रति तिलक का नैतिकता से नही बल्कि व्यावहारिकता से प्रेरित था। वे हिंसक साधनों का समर्थन नहीं थे, किन्तु गांधी की तरह अहिंसा के नैतिक आदर्श से प्रेरित नहीं थे। उनका स्पष्ट दृष्टिकोण था हिंसक साधनों के माध्यम से ब्रिटिश सत्ता का भारत में उन्मूलन व्यावहारिक रूप से सम्भव नहीं। हिंसा और अहिंसा के प्रति उनके दृष्टिकोण का सार यह था कि वे हिंसा के विरोधी थे, किन्तु अहिंसा के पुजारी नहीं। विदेशी शासन के विरूद्ध, स्वदेशी, बहिष्कार और निष्किय प्रतिरोध आदि अस्त्रों प्रयोग को तिलक व्यावहारिक और प्रभावी मानते थे तथा उनकी यह मान्यता थी कि ये साधन विधि-सम्मत थे। हिंसक साधनों और क्रान्तिकारीयों के प्रति तिलक के दृष्टिकोण के संबंध में यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि वे मूलत: साध्य को महत्व देते थे, साधन का उनके मत में कोई स्वतंत्र नैतिक महत्व नहीं था। इस कारण उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि स्वराज्य की प्राप्ति जिस किसी साधन से सम्भव हो, की जानी चाहिए। हिंसा एंव क्रांतिकारी गतिविधियों को वे स्वराज्य की प्राप्ति के लिए व्यावहारिक साधन नहीं मानते थे। इनका कोई नैतिक या आध्यात्मिक आधार नहीं था।

9.4.4 जनमत

तिलक ने अपने चिन्तन में कार्यकलापों में जनशक्ति को सदैव विशेष स्थान दिया। उनकी मान्यता थी कि जनता में बड़ी भारी शक्ति होती है और निरंकुश शासक तक जनमत से भय खाते हैं। 1891 में केसरी में उन्होंने लिखा था कि, "जनमत एक ऐसी चीज होती है। जिसमें तानाशाह भय खाते हैं, लेकिन ऐसे जनमत यहां उत्पन्न करने के लिए हमने कुछ नहीं किया है। तिलक के अनुसार शासक अत्याचारी होते हैं जब जनता अपनी शक्ति जताती नहीं है।

अगर वह एक होकर ऐसा करें तो शासक शक्तिहीन हो जाए। तिलक ने जनशक्ति के महत्व को जानते हुए देश को आजाद करवाने या स्वराज्य प्राप्ति के लिए जनता की शक्ति को जगाने के लिए सार्वजनिक उत्सव शुरू किए। इसके साथ-साथ ही वे पत्रकारिता को भी जन जागृति पैदा करने में महत्वपूर्ण मानते थे, इसलिए उन्होंने केसरी एवम् मराठा पत्र शुरू किए। इस प्रकार तिलक ने जनशक्ति को जागृत करने के लिए महत्वपूर्ण भागीदारी निभाई। उन्होंने भारतीयों को दासता से अवगत करवाया। और स्वराज्य प्राप्ति के लिए संघर्ष करने के लिए तैयार किया।

9.4.5 स्वदेशी एवं बहिष्कार

राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान स्वदेशी एवं बहिष्कार को लोकप्रिय बनाने में तिलक ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। स्वदेशी और बहिष्कार दोनों ही आर्थिक अवधारणाएँ थी। दोनों का लक्ष्य एक ही था, वह था भारतीय उद्योग का पुनरूद्धार और देश का आर्थिक विकास। 1905 में बंग-भंग विरोधी अभियान के दिनों में शुरू किया गया बहिष्कार और स्वदेशी आन्दोलन भारत में ब्रिटिश सत्ता के सक्रिय विरोध की नई भावना का प्रतीक था। विपिनचन्द्र पाल और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे नेताओं ने बड़ी-बड़ी सभाओं में भाषण दिया और लोगों से स्वदेशी की निम्न प्रतिज्ञा करवाई -

"सर्वशक्तिशाली ईश्वर को अपना साक्षी मानकर और भावी पीढ़ियों की उपस्थिति में खडे होकर हम यह प्रतिज्ञा करते हैं कि जहां तक व्यावहारिक होगा, हम घर की बनी वस्तुओं का प्रयोग करेंगे। ईश्वर हमारी सहायता करें।"

जनता ने स्वदेशी का आहवान का उत्साहपूर्ण उत्तर देते हुए विदेशी वस्त्रों की होलीयाँ जलाई और विदेशी वस्त्रों की दुकानों पर धरना दिया। वैसे तो बहिष्कार आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य विदेशी चीजों का बहिष्कार करना था, लेकिन साथ ही साथ इसमें सरकार के असहयोग करना और सरकारी नौकरियों, पदों तथा उपाधियों का बहिष्कार करना भी शामिल था। स्वदेशी का प्रारम्भ तो यद्यपि एक आर्थिक आन्दोलन के रूप में उदारवादियों ने किया था, लेकिन तिलक के हाथों में पहुंचकर यह एक राजनैतिक अस्त्र बन गया। उन्होंने पश्चिम भारत में इसे पहुंचाया तिलक ने केसरी में लिखा, "हमारा राष्ट्र एक वृक्ष की भांति है जिसका मूल तना स्वराज्य है और स्वदेशी तथा बहिष्कार उसकी शाखाएं है। स्वदेशी ने ही वास्तव में स्वराज्य का मार्ग दिखाया। उन्होंने स्वदेशी आन्दोलन को जो केवलं आर्थिक क्षेत्र तक सीमित था, वह तिलक के प्रयासों से अब आत्मनिर्भरता और स्वावलम्बन का प्रतीक बन गया। तिलक ने स्वदेशी को भारतीयों के मन व मस्तिष्क में बसाने के प्रयास किए। उन्होंने स्वदेशी वस्तु प्रचारिणी सभा के मुख्य अंग के रूप में सहकारी भण्डार खोले। तिलक ने अपने पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से लोगों में स्वदेशी की भावना भर दी और स्वदेशी राष्ट्र प्रेम का सूचक बन गया। स्वदेशी का आर्थिक महत्व इसमें निहित था कि इसके द्वारा भारतीय अर्थव्यवस्था का पुनर्निमाण किया जाना सम्भव था। उनके अनुसार स्वदेशी का विचार आर्थिक और नैतिक दोनों ही दृष्टियों से भारतीयों के हितों को सुनिश्चित करना था। इन्होंने इसे अंग्रेजी साम्राज्य के विरूद्ध भारतीयों के असन्तोष एवं विरोध का सशक्त माध्यम बना दिया।

वे स्वदेशी चीजों को अपनाने का आग्रह करके, भारत में अंग्रेजी शासन के आर्थिक आधार पर प्रहार करना चाहते थे। इससे भारतीय उद्योग के विकास को एक. आधार प्राप्त होगा और उन्हें प्रतिस्पर्धा से भी बचाया जा सकता था। तिलक स्वयं स्वदेशी का पालन करते थे, इसके बारे में टी.वी. पार्वते ने लिखा है कि, "'तिलक स्वयं अपने हाथ से काते हुए सूत से अपने ही घर में स्वदेशी करघे से बने हुए वस्त्रों का उपयोग करते थे। वे उन्हीं मोटे वस्त्रों को पहने अदालत तक में जाने लगे और कहा जाता है कि साम्राज्ञी विक्टोरिया के दरबार में भी वे उन्हीं कपड़ों में गए।"

स्वदेशी का समर्थन करते हुए 8 जनवरी, 1907 में केसरी में लिखा, "विदेशी वस्तु इस देश में नहीं आनी चाहिए। केवल वही वस्तुएं जो यहां उत्पन्न की जाती और होती हैं, खरीदी और इस्तेमाल की जानी चाहिए। हमें केवल वही कपड़ा प्रयोग करना चाहिए, जो यहां बनाया जाता है, चाहे वह कितना ही मोटा क्यों न हो।" तिलक के अनुसार अंग्रेजी सरकार ने स्वतंत्र व्यापार की नीति अपनाकर देश के उद्योगों को पतन की ओर धकेला है, इसलिए उनके संरक्षण के लिए स्वदेशी एवं बहिष्कार से उनको संरक्षण प्राप्त होगा।

स्वदेशी का बहिष्कार पूरक था। इसके द्वारा भावनात्मक और आर्थिक, दोनों स्तरों पर ब्रिटिश सरकार के सक्रिय प्रतिरोध का भाव व्यक्त होता था। तिलक ने (1920 में पूना में) इसे स्पष्ट करते हुए कहा था कि, "यदि तुम में सक्रिय प्रतिरोध की शक्ति नहीं तो क्या तुम में आत्मत्याग और आत्म संयम की भी इतनी शक्ति नहीं है कि तुम अपने ऊपर शासन करने में विदेशी सरकार की सहायता न करो। यही बहिष्कार और यही हमारे कहने का आशय है कि बहिष्कार एक राजनीतिक शस्त्र है। हम कर वसूल करने और शक्ति स्थापित करने में विदेशी सरकार की सहायता नहीं करेंगे। हम न्याय प्रशासन के संचालन में उनको मदद नहीं देंगे। हम सीमाओं के बाहर या विदेश में लड़ने में भारतीय खून या धन से उनकी सहायता नहीं करेंगे। हमारी अपनी न्यायपालिका होगी और समय आने पर हम कर नहीं देंगे। क्या आप अपने संयुक्त प्रयासों से ऐसा कर सकते हो? यदि आप कर सकते हैं तो आप कल से मुक्त हैं।" तिलक बहिष्कार को केवल आर्थिक क्षेत्र तक सीमित नहीं रखना चाहते थे। वे इसका विस्तार करके ब्रिटिश प्रशासन को ठप्प कर देना चाहते थे। उनके अनुसार तिलक ने एक भाषण में इसको स्पष्ट करते हुए कहा कि, "तुम्हें जानना चाहिए कि तुम उस शक्ति का एक महान् तत्व हो, जिससे भारत में प्रशासन चलाया जा सकता है। ब्रिटिश शासनरूपी यह शक्तिशाली यन्त्र तुम्हारी सहायता के बिना नहीं चलाया जा सकता।" तिलक का स्वदेशी एवं बहिष्कार के पीछे यह उद्देश्य था कि इसके माध्यम से ब्रिटिश आर्थिक हितों पर भारी दबाव डालकर उन्हें अपनी मांगें मानने के लिए विवश कर दिया जाए। उनके अनुसार यदि बहिष्कार को एक व्यापक आन्दोलन के रूप में अपना लिया जाए तो ब्रिटिश सत्ता से भारत की मुक्ति के लिए अस्त्र-शस्त्रों की आवश्यकता नहीं रहेगी। बहिष्कार का ब्रिटिश व्यापार पर कैसा असर पड़ा इसको स्वीकार करते हुए कलकत्ता के ऐंग्लोइण्डियन समाचार-पत्र "दि इंग्लिशमैन" ने लिखा था कि, "यूरोपीय, वस्तुओं का आयात करने वाली कई बड़ी-बड़ी कम्पनियां को या तो अपनी शाखाएं बंद कर देनी पडी हैं या थोड़े से व्यवसाय से ही संतुष्ट होना पड़ रहा है। गोदामों में माल जमा होता

जा रहा। बहिष्कार के रूप में ब्रिटिश साम्राज्य के शत्रुओं ने देश में ब्रिटिश हितों पर कुठाराघात करने का अत्यन्त प्रभावशाली शस्त्र पा लिया है।"

निष्क्रिय प्रतिरोध तिलक के बहिष्कार के विचार का संगठित पक्ष था। उनके अनुसार बहिष्कार को एक प्रभावशाली अस्त्र बनाने के लिए व्यापक तैयारी एवं जागृति करने की आवश्यकता थी। इसके लिए वे जनता को मानसिक रूप से तैयार करना चाहते थे।

वास्तव में तिलक ने लोगों को बहिष्कार का मार्ग और इसका राजनीतिक स्वरूप दिखाकर स्वराज्य का मार्ग प्रशस्त किया। यह बहिष्कार आन्दोलन गांधीजी के असहयोग आन्दोलन की पूर्व सूचना थी। तिलक ने अनुसार निष्क्रिय प्रतिरोध ऐसा उपाय है, जिसके द्वारा जनता अहिंसक साधनों द्वारा स्वराज्य प्राप्ति के लिए प्रभावी ढंग से आन्दोलन कर सकती थी।

9.4.6 सार्वजनिक पर्व

तिलक ने जनता में जागृति पैदा करने एवम् राष्ट्रीयता को आध्यात्मिक रंग देने के लिए गणपति एवम् शिवाजी उत्सव प्रारम्भ किया। गणपति उत्सव द्वारा उन्होंने एक धार्मिक उत्सव को राष्ट्रीय भावनाओं को उभारने एवं संगठित करने का प्रयास किया।

तिलक सार्वजनिक उत्सवों का दोहरा महत्व स्वीकार करते थे। एक ओर तो इनके माध्यम से एकता की भावना अभिव्यक्त होती है और दूसरी ओर उत्सवों में भाग लेने वाले व्यक्ति यह अनुभव करने लगते है कि उनके संगठन और उनकी एकता को किसी श्रेष्ठतर कार्य में लगाया जा सकता है। उनकी नेतृत्व प्रतिभा का सुन्दर एवम् अधभूत उदाहरण है कि किसी प्रकार उन्होंने प्राचीन उत्सवों को आधुनिक आवश्यकताओं के अनुकूल बन दिया।

शिवाजी उत्सव 1896 में शुरू हुआ वहीं सार्वजनिक गणेशोत्सव का विचार भारतीय राज्यों में भी फैलने लगा और 1896-97 तक यह पूरे महाराष्ट्र में मनाया जाने लगा। जहां गणपति पौराणिक देवता थे वहां मराठा साम्राज्य के संस्थापक शिवाजी ऐतिहासिक व्यक्ति थे।

सार्वजनिक उत्सवों के बारे में उन्होंने कहा कि वीर पूजा मानव का स्वभाव है और वह अपनी राजनीतिक आकांक्षाओं को मूर्त करने के लिए एक भारतीय महावीर के आदर्श की हमें आवश्यकता थी। इसके लिए शिवाजी से उत्तम चरित्र मिलना असम्भव था। उनका नाम सारे देश के लिए एक विशिष्ट महत्व लिए हुए है।

हर महापुरूष चाहे वह भारत का हो या यूरोप का अपने युग के अनूकुल ही कोई कार्य करता है यह सिद्धान्त यदि हम मान लें तो हमें शिवाजी के जीवन में कोई भी ऐसा कार्य नहीं मिलेगा जिसकी हम निन्दा करें। शिवाजी के हृदय में आजादी की जो भावना आरम्भ से अन्त तक थी उसी भावना के कारण वह राष्ट्र के आदर्श माने जाते हैं।

इस प्रकार एक राजनीतिक आन्दोलन के कृत्रिम विचार ने एक नागरिक धर्म का रूप धारण कर लिया। इन उत्सवों को प्रारम्भ करके तिलक ने राष्ट्रीय भावनाओं को जनता तक पहुंचाने का प्रयत्न किया। जिसमें वे सफल रहे।

गणपति उत्सव से विद्यार्थियों के स्कूल व कॉलेज में राष्ट्रवादी आन्दोलन जागा। साथ ही ऐथलेटिक क्लब से जुड गये सब विकासों के साथ महाराष्ट्र में अभिनव भारत जैसे संगठन का उदय हुआ जिसने कई क्रांतिकारी नेताओं को जन्म दिया।

तिलक का कहना था कि मानव व्यवहार इस तरह का है, बिना उत्सव हम उसे नहीं कर सकते। यह मानव की प्रवृति है कि वह उत्सव से प्यार करता है यदि तुम्हें अपनी भावना को बनाए रखना है, तो साल में एक बार अपने आन्तरिक व आत्मिक शक्ति को स्थायी विचार के लिए ध्यान केन्द्रित करना होगा। त्यौहार चली गई स्मृतियों को बनाए रखने के लिए मनाए जाते है।

तिलक ने प्राचीन यूनान देश के ओलम्पिक त्यौहार और अन्य देशों के राष्ट्रीय पर्वों का उदाहरण देते हुए जोरदार शब्दों में जनता से अनुरोध किया कि वह गणपति उत्सव में पूरा सहयोग दें ताकि यह उत्सव शुरू से ही बिना जात-पात के भेदभाव के मनाया जाए। उनके अनुसार शिवाजी उत्सव एक स्फूर्तिदायक औषधि की भांति है जिससे सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन की नींव सुदृढ़ होती है। सार्वजनिक उत्सव राष्ट्रवाद की भावना को जागृत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है।

इस प्रकार तिलक शिवाजी एवम् गणेश उत्सव के माध्यम से जनता को प्रतीकों के द्वारा अपने सार्वजनिक कर्त्तव्य को करने एवम् अपने देश की आजादी के लिए चेतना पैदा करना चाहते थे। उसमें से काफी मात्रा में सफल भी रहे। वे हिन्दू जनता में इन उत्सवों के माध्यम, से उत्साह और जोश पैदा करना चाहते थे। किन्तु अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति उन्होंने भेदभाव या कोई दुर्व्यवहार भी नहीं किया।

लोकमान्य तिलक ने सार्वजनिक पर्व की प्रासंगिकता स्पष्ट करते हुए कहा था कि शिवाजी मुसलमानों की धार्मिक भावनाओं का भी आदर करते थे। उनके साथियों में अनेक ऐसे मुसलमान थे जिन्होंने मुगलों के विरूद्ध उनका साथ दिया। उन्होंने दृष्टान्त स्वरूप बताया कि ब्रिटेन में नेल्सन की पूजा होती है और फ्रांस में नेपोलियन की, फिर भी दोनों देशों में कोई द्वेष नहीं है अत: उन्होंने मुसलमानों को आश्वस्त किया।

शिवाजी-उत्सव का उद्देश्य यह कतई नहीं है कि अन्य धर्मावलम्बियों का परित्याग या किसी तरह से उनको तंग किया जाए। अब समय बदल गया है और हिन्दू-मुसलमान दोनों की दशा एक ही है। अत: ऐसी दशा में क्या हम दोनों शिवाजी के महान् चरित्र से प्रेरणा नहीं ले सकते। इस प्रकार उन्होंने मुसलमानों में भी एकता एवम् सामंजस्य की भावना भरी। वे हिन्दू-मुस्लिम समन्वय ताकि ब्रिटिश नौकरशाही के खिलाफ वे एक जुट होकर लड़ सके। निष्कर्ष रूप में कह सकते है कि तिलक के चिन्तन में सार्वजनिक पर्व भी महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

9.5 तिलक के समाज सुधार सम्बन्धी विचार

तिलक सामाजिक विचारों में सुधारवादी न होकर पुन: अभ्युदयवादी थे। वे रानाडे के विचारों के विपरीत भारतीय सभ्यता व संस्कृति के प्राचीन सफल सामाजिक प्रयोगों को, वर्तमान भारत में पुन: स्थापित करने में विश्वास रखते थे। उनके द्वारा सामाजिक विचारों के संदर्भ में भारत की प्राचीन मान्यताओं का समर्थन रूढ़िवाद नहीं था। प्राचीन मान्यताओं के कालान्तर में प्रशिप्त भ्रान्त विचारों एवं मान्यताओं को वह समाप्त करने के पक्ष में थे, किन्तु भारत की प्राचीन धरोहर को एक ओर हटाकर पाश्चात्य शिक्षा एवं संस्कृति के अनुकूल भारत की नवीन सामाजिक संस्थाएं स्थापित करना उन्हें मान्य नहीं था। वे भारत के उदारवादियों के समान

सुधार की पाश्चात्य परम्परा का अनुकरण नहीं करना चाहते थे। उन्हें इसका क्षोभ था कि, भारत की सम्भ्रान्त एवं शिक्षित पीढ़ी पाश्चात्य सभ्यता के अधानुकरण द्वारा भारत की सभ्यता व संस्कृति की धरोहर को विस्मृत करने पर उतारू थी। वे पाश्चात्य संस्कृति की भौतिकवादी परम्परा का विस्तार भारत में नहीं चाहते थे।। इतना होने पर भी तिलक अंग्रेजी साहित्य, भाषा के अध्ययन की अनिवार्यता का समर्थन करते रहे। तिलक ने एक ओर वेद, उपनिषद् व गीता आदि का गहन अध्ययन किया था। वहीं दूसरी ओर कान्ट, स्पेन्सर, मिल, बेन्थम, वालटेयर व रूसो आदि के विचारों का भी अध्ययन किया था। वे पाश्चात्य साहित्य एवं संस्कृति के उच्चादर्शों से अनभिज्ञ नहीं थे। किन्तु एक राष्ट्रवादी भारतीय के रूप में वे भारत का वैचारिक पुनर्निर्माण पाश्चात्य विचारधारा पर आधारित करना नहीं चाहते थे।

तिलक सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं को एक साथ मिलाने के विरूद्ध थे। उनका कहना था कि राजनीतिक प्रगति तात्कालिक आवश्यकता की चीज है, सामाजिक प्रश्नों पर धीरे-धीरे विचार किया जा सकता है और सामाजिक सुधार शनै:-शैने: लाया जा सकता है। तिलक ने केसरी में अनेक लेख लिखकर अपने समाज सुधार संबंधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। वे सिद्धान्त: समाज सुधार के विरूद्ध नहीं थे, किन्तु वे तात्कालिक सामाजिक क्रान्ति के कट्टर विरोधी थे। उनके अनुसार सामाजिक सुधार प्रगतिशील शिक्षा तथा बढ़ती हुई जागृति द्वारा होना चाहिए। तिलक का मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय जीवन में एक नया उभार उत्पन्न करना था, इसलिए वे जनता के समक्ष परस्पर विरोधी सामाजिक दर्शनों को प्रस्तुत करके उनके मन में भ्रम पैदा करने के विरूद्ध थे। वे सामाजिक जीवन में फूट डालने और विघटनकारी प्रभावों को प्रोत्साहन देने के पक्ष में नहीं थे। उनका विचार था कि प्रगतिशील सामाजिक परिवर्तन धीरे-धीरे किये जाने चाहिए। और उन लोगों की प्रेरणा से तथा उनके नेतृत्व में किये जाये जिनके मन में हिन्दू-आदर्शो के प्रति श्रद्धा हो। जिन्हें आध्यात्मिक तत्व की प्राथमिकता में विश्वास नहीं है और जो एक प्रकार से बहिष्कृत बुद्धिजीवी हैं उन्हें जनता पर अपनी समाज-सुधार संबंधी अधकचरी धारणाओं को लादने का नैतिक आधार नहीं है। उनकी इन धारणाओं का, भारतीय जीवन और संस्कृति से कोई संबंध नहीं है।

समाज सुधार के मामले में तिलक यथास्थितिवादी थे लकिन उन्होंने प्रगतिशील सुधारों का समर्थन किया। उन्होंने बहुपत्नी प्रथा का विरोध किया तथा 60 वर्ष की आयु में विवाह करने पर प्रतिबन्ध लगाने का समर्थन किया। रानाडे की सुधार-योजना में लड़के व लड़की के विवाह पर एक वर्ष से अधिक की आय न खर्च करने का प्रस्ताव भी स्वीकार किया। शराब का प्रतिबन्ध तथा स्त्री शिक्षा के विस्तार का भी उन्होंने समर्थन किया। तिलक ने "स्वीकृति आयुविधेयक" का विरोध राजनैतिक कारणों से किया था न कि सामाजिक कारणों से, वे सामाजिक व्यवस्थापन का कार्य विदेशी सरकार को नहीं सौंपना चाहते थे। इसके माध्यम से वे विदेशी सरकार का विरोध कर रहे थे। तिलक की दृष्टि से भारत का पाश्चात्य स्वरूप में पुनर्निर्माण भारत की महानता के लिए घातक था और किसी भी प्रकार के सुधार को विदेशी शासन द्वारा जबरन थोपा जाना उस सुधार को अनैतिक बनाना था। कन्सेन्ट बिल के सम्बन्ध में हुए विवाद के अवसर पर उन्होंने यहां तक प्रस्ताव किया था कि वे विवाह के लिए न्यूनतम

आयु वर्ष निश्चित किए जाने के पक्ष में थे। तिलक ने स्वयं अपने परिवार में लड़कियों का विवाह 15 वर्ष की आयु के पश्चात् किया था। गणपति एवं शिवाजी उत्सवों में उन्होंने बिना किसी भेदभाव के सवर्णों और हरिजनों को सम्मिलित होने का अवसर दिया। अस्पृश्यता के विरोध के प्रति उनका स्वर तो इतना प्रखर था कि उन्होंने यहां तक कहा कि यदि छूआछूत किसी ईश्वरीय आदेश का परिणाम है तो वे ईश्वर को ही नकार देंगे।

विधवा विवाह के वे समर्थक थे, डी. के. कर्वे ने जब विधवा विवाह किया तो तिलक ने उन्हें बधाई दी। तिलक के अनुसार समाज सुधार प्रत्येक व्यक्ति को पहले स्वयं के स्तर पर प्रारम्भ करने चाहिए और तब लोगों को सैद्धान्तिक आधारों पर सुधार के लिए सहमत करने की अपेक्षा, उन्हें अपने आचरण का उदाहरण देकर सुधारों के प्रति जागृत करना चाहिए। सुधारकों को अपने उपदेशों के अनुकूल आचरण करना चाहिए। उन्होंने केसरी में समाज सुधार के बारे में लिखा कि, "जिस प्रकार पुराण पंथियों के मत रूढिवादी और एक पक्षीय हैं, उसी प्रकार अंग्रेजी शिक्षा से प्रेरित सुधारको के मत भी एक पक्षीय हैं और मताग्रही है। पुराणपंथी, पंडित, नवीन परिस्थितियों से परिचित नहीं हैं, नवशिक्षित वर्ग को प्राचीन परम्पराओं तथा हिन्दुत्व की परम्पराओं और दर्शन का ज्ञान कराया जाना चाहिए। वहीं पण्डितों और शास्त्रियों को नवीन, परिवर्तित और परिवर्तनशील परिस्थितियों की जानकारी दी जानी चाहिए। तिलक का यह दृष्टिकोण परम्परा तथा आधुनिकता में समन्वय का प्रतीक था। वे भारतीय सामाजिक व्यवस्था को भारतीय संस्कृति के मूल्यों के आधार पर इस प्रकार पुनर्गठित करना चाहते थे कि यह भविष्य की आवश्यकता के अनुरूप उपयुक्त सिद्ध हो सके।

9.6 तिलक के शिक्षा सम्बन्धी विचार

किसी राष्ट्र के उत्थान के लिए बौद्धिक जागृति सबसे महत्वपूर्ण प्रणाली है। यूरोप में फ्रांसीसी क्रान्ति से पहले एवं पुनर्जागरण काल में शिक्षा को बढ़ावा मिला। शिक्षा लोकतंत्र की सफलता के लिए आवश्यक है। आधुनिक भारत में राष्ट्रवाद के उदय और उत्कर्ष में राष्ट्रवादी आधार पर संगठित और संचालित शिक्षा-संस्थाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। चिपलूणकर, आगरकर और तिलक महाराष्ट्र के नये शैक्षिक आन्दोलन के अग्रदूत थे। लाला लाजपतराय तथा हंसराज ने डी.ए.वी. कॉलेज, लाहौर की स्थापना की तथा स्वामी श्रद्धानंद ने वैदिक ब्रह्मचर्य के आदर्शों के आधार पर गुरूकुल कांगड़ी की स्थापना की। स्वदेशी आन्दोलन के दौरान तथा असहयोग आन्दोलन के प्रारम्भ के समय गांधी जी के नेतृत्व में अनेक शैक्षणिक संस्थान खोले गए। टैगोर ने शान्तिनिकेतन की स्थापना की। तिलक और चिपलुणकर एवं आगरकर के नेतृत्व में न्यू इंगलिश स्कूल की स्थापना की तथा दक्षिण शिक्षा समिति के माध्यम से स्वदेशी शिक्षा पर जोर दिया। उन्होंने शिक्षा सस्ती बनाने एवं शिक्षकों को उस आदर्शवाद से अनुप्रेरित होने पर जोर दिया जो प्राचीन संस्कृति एवं इतिहास में पाया जाता है।

तिलक ने शिक्षा में भारतीय आदर्शों तथा पाश्चात्य कार्यप्रणाली और संस्थाओं के समन्वय को महत्व दिया। तिलक इस हद तक पुनरुत्थानवादी नहीं थे कि आधुनिक युग में प्राचीन आदर्शों और सिद्धान्तों को समग्रत: अंगीकार करने की सम्भावना को स्वीकार कर लेते। वे जीवन भर यह मानते रहे कि राजनीतिक उग्रवाद और प्रगतिवाद की भावनाओं को उत्पन्न

करने में अंग्रेजी शिक्षा ने देश के राजनीतिक जागरण में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। तिलक के नेतृत्व में 24 अक्टूबर 1884 को डेक्कन एजूकेशन सोसायटी की स्थापना की गई थी। उसके बाद फर्ग्यूसन कॉलेज की नींव डाली गई। इन सब संस्थाओं के माध्यम से तिलक शिक्षा का जनता में प्रसार करना चाहते थे। शिक्षा का प्रसार करने के साथ ही इसका महत्व जनता में पुनर्जागरण तथा राष्ट्रवादी भावनाएं जगाने में भी था। शिक्षा-प्रसार के लिए सरकारी सहायता पर तिलक को कोई आपत्ति नहीं थी, पर वे इसके बदले किसी भी प्रकार के सरकारी नियन्त्रण के खिलाफ थे।

तिलक ने राष्ट्रीय शिक्षा पर जोर देते हुए विद्यार्थियों को मातृभाषा तथा राष्ट्रीय लिपि में राष्ट्र की यथार्थ परिवेश का ज्ञान करवाने तथा उनमें राष्ट्रीय जागृति पैदा कराने की कही। उन्होंने राष्ट्रभाषा को राष्ट्रीयता की एक मूल अनिवार्यता बनाया। वे हिन्दी को राष्ट्रभाषा दर्जा दिलाना चाहते थे। और देवनागरी को राष्ट्रलिपि के रूप में मान्यता देते थे। तिलक ने लिपि के रूप में देवनागरी लिपि को मान्यता देने की बात की।

तिलक की राष्ट्रीय शिक्षा का अंग था धार्मिक शिक्षा। तिलक का विचार था धार्मिक शिक्षा झगड़ों तथा पारस्परिक कलह को दूर करने का सबसे अच्छा मार्ग है। इससे प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म के बारे में जानकारी मिलेगी। इस पर जोर देते हुए उन्होंने कहा कि, "किसी को अपने धर्म पर अभिमान कैसे हो सकता है, यदि वह उससे अनभिज्ञ है। धार्मिक शिक्षा का ही इस बात का एकमात्र कारण है कि देशभर में ईसाई पादरियों का प्रभाव बढ़ा है।" इससे भारतीयों में अनुशासन और अतीत के प्रति सम्मान की भावना जागृत होगी। तिलक ने मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देने की आवश्यकता बतलाई। उनके अनुसार, "आज जो व्यक्ति अच्छी अंग्रेजी बोल लेता है, वही शिक्षित माना जाता है, किन्तु भाषा का ज्ञान हो जाना ही सच्ची शिक्षा नहीं है। किसी विदेशी को सीखने की ऐसी बाध्यता भारत के अतिरिक्त किसी अन्य देश में नहीं है। मातृभाषा के माध्यम से जो शिक्षा 7-8 वर्ष में प्राप्त की जा सकती है, उसमें अब 20-25 वर्ष लग जाते हैं। अंग्रेजी हमें सीखनी ही है, पर उसकी शिक्षा अनिवार्य करने का कोई कारण नजर नहीं आता।" इस प्रकार उन्होंने मातृभाषा पर जोर देते हुए अंग्रेजी को गौण स्थान प्रदान किया। इसी प्रकार लिपि के बारे में भी वे देवनागरी लिपि के पक्षधर थे और रोमन लिपि अपनाने के सुझाव को हास्याप्रद बतलाकर उसका विरोध किया। वे राजनीतिक शिक्षा के माध्यम से विद्यार्थियों को देश की परिस्थितियों की जानकरी करवा कर उनमें देश की स्वतंत्रता प्राप्ति का संकल्प जागृत करना चाहते थे।

इस प्रकार तिलक की शिक्षा का उद्देश्य राष्ट्रीयता को मूर्त रूप देने का माध्यम था। यह विकास, जनजागृति, स्वावलम्बन एवं आत्मविश्वास की प्रेरणा थी। इसके माध्यम वे देश को राष्ट्रीय शिक्षा, राष्ट्रभाषा एवं राष्ट्रलिपि के माध्यम से एकता में बांधना चाहते थे। श्री वी. आप्टे ने विलियम हण्टर एजुकेशन कमीशन के समक्ष साक्षी के रूप में कहा था कि, "मानव की सब क्रियाओं में शिक्षा ही एक ऐसी है जो पतित देशों के भौतिक, नैतिक और धार्मिक पुनरूत्थान को जन्म देती है तथा धीमी एवं शान्तिपूर्ण क्रान्तियों के द्वारा उन्हें बढ़े हुए देशों के स्तर तक उठा

देती है और इसलिए कि ऐसा ही हो यह अन्तिम रूप में स्वयं जनता के हाथों में ही रहनी चाहिए।"

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि तिलक शिक्षा के माध्यम से जनता में जागृति पैदा कर देश को आजाद करवाना चाहते थे, और शिक्षा का माध्यम मात्र भाषा रखकर एवं सस्ती शिक्षा अपनाकर पूरे देश को शिक्षित बनाने की भावना रखते थे। उसी प्रकार राष्ट्रीय शिक्षा एवं राष्ट्रभाषा की एकता को सुदृढ़ बनाना चाहते थे, उनकी औद्यौगिक शिक्षा एवं तकनीकी शिक्षा का उद्देश्य बेरोजगारी से युवाओं को छुटकारा दिलवाना था। उसी प्रकार वे धार्मिक शिक्षा के द्वारा देश की एकता सुदृढ़ करना चाहते थे।

बोध प्रश्न- 2

प्रश्न: तिलक की स्वराज्य अवधारणा की किन्हीं दो विशेषताओं का उल्लेख कीजिये।

उत्तर: .....

.....

9.7 तिलक के चिन्तन में धर्म

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक का अद्वैत दर्शन में विश्वास था। इसीलिये वे हिन्दू धर्म में पूर्ण निष्ठा रखते थे। उनके अनुसार धर्म, धृ धातु से बना, धारणा का अर्थबोधक शब्द है - धारण करना, ग्रहण करने के अर्थ में आने वाला शब्द। एक साथ रखने या धारण करने के लिए क्या है? आत्मा को परमात्मा से जोड़ना मनुष्य को मनुष्य से जोड़ना या सब को एक साथ रखना। धर्म से हमारे ईश्वर व मनुष्य के प्रति कर्त्तव्य का बोध होता है। वैदिक युग में भारत स्वावलम्बी देश था। वह एक महान् राष्ट्र की भांति संगठित था। वह संगठन और एकता छिन्न-भिन्न हो गई है जिससे हमारा बहुत पतन हुआ है। हमारे नेताओं का कर्त्तव्य है कि वे इस एकता को पुर्नजीवित करें।

हमारे धर्म के आगे सनातन धर्म शब्द इस बात का द्योतक है कि हमारा धर्म अति प्राचीन है, उतना ही प्राचीन जिनती कि स्वयं मानव जाति। वैदिक धर्म प्रारम्भ से ही आर्य जाति का धर्म था। हिन्दू धर्म अनेक अंगों के संयोग से बना है, वे अंग एक ही बड़े धर्म के बेटों और बेटियों की भांति परस्पर आबद्ध और संयुक्त हैं यदि हम इस विचार को ध्यान में रखें और सब वर्गों को एकीकृत करने का प्रयत्न करें तो हम उनको एक महान् शक्ति के रूप में संगठित कर सकते हैं। धर्म राष्ट्रीयता का एक तत्व है। हिन्दू सभी समान हैं, महाराष्ट्र का हिन्दू उतना ही हिन्दू है जितना कि मद्रास का। गीता, रामायण और महाभारत के पठन-पाठन से सम्पूर्ण देश में एक से विचार उत्पन्न हो सकते हैं।

तिलक ने धर्म की व्यापकता का प्रतिपादन किया। वे धर्म को संघर्ष या मतभेदों का कारण नहीं मानते थे। धर्म का उद्देश्य हिंसा, अपराध अथवा विध्वंस सिखाना नहीं हो सकता।

9.7.1 हिन्दू धर्म

बालगंगाधर तिलक हिन्दू धर्म की महानता, उदारता, व सहिष्णुता के प्रबल समर्थक थे। उनकी सनातन हिन्दू धर्म में पूर्ण निष्ठा थी। उन्होंने हिन्दू धर्म के सभी प्रमुख धार्मिक ग्रंथों

का, समस्त मान्यताओं, रीति-रिवाजों आदि का विशद अध्ययन किया था। वे हिन्दू धर्म की अद्वैतवादी, अवतारवादी तथा ज्ञान-भक्ति-कर्म की त्रिवेणी से युक्त योग साधना की मान्यताओं के समर्थक थे। उन्होंने हिन्दू धर्म में फैली बुराईयों, कुरीतियों तथा आडम्बरों का विरोध किया। वे हिन्दू धर्म में समाज सुधार के विरूद्ध नहीं थे किन्तु वे समाज-सुधारकों की नास्तिकता या धर्म के प्रति उदासीनता के विरोधी थे। वे प्राचीन मान्यताओं को आधुनिक परिस्थितियों में ढालना थे, न कि उनका त्याग करना। वे सनानत हिन्दू-धर्म की प्राचीनता को मानव जाति के समकालीन मानते थे। उनके अनुसार वेदों, उपनिषदों तथा वेदान्त की वैज्ञानिक धारणाओं में सन्देह नहीं किया जा सकता। उनमें भौतिकता का विरोध तथा आध्यात्मिकता का तार्किक समर्थन आधुनिक मानवता के की सनातन क्षमता से युक्त है। तिलक वेदान्त सम्मत अद्वैत में विश्वास करते थे। वे ऋग्वेद के दीर्घतमा, पुरूष, अधमर्षण, नासदीय आदि सूक्तों में जिस सर्वोच्च सर्वव्यापी, सगुण, सर्वगत ग्रहम की उच्चतम अवधारणा का उल्लेख हुआ है और उसका विशद विवेचन उपनिषदों, सूत्रों और भगवत्गीता में किया गया है से प्रभावित थे। धार्मिक भक्ति के उद्देश्य से वे व्यक्त, सर्वगत ईश्वर की धारणा स्वीकार करते थे। उनके अनुसार धर्म में वास्तव में ईश्वर और आत्मा की प्रकृति का ज्ञान तथा वे साधन निहित है, जिनके द्वारा जीवात्मा मुक्ति प्राप्त कर सकती है।

लोकमान्य तिलक परमात्मा के अवतार में विश्वास करते थे। उनके अनुसार कृष्ण, भगवान के अवतार हैं और गीता पर लिखी प्रसिद्ध भाष्य गीता-रहस्य उनको समर्पित की। वे बहुत बड़े दार्शनिक विद्वान थे, परन्तु उन्होंने धार्मिक जीवन में भक्ति की भी आवश्यकता को स्वीकार किया। अल्पविकसित चेतना वाले मनुष्यों के लिए उन्होंने प्रतीकों के महत्व को किया। इन प्रतीकों और उनकी धार्मिक उपयोगिता को उपनिषदों और शंकर ने स्वीकार किया।

हिन्दू धर्म के प्रति उनकी मान्यता केवल परम्परागत स्वीकृति या बौद्धिक तर्क पर आधारित स्वीकृति नहीं थी। वे दृढ़ और गम्भीर धार्मिक विश्वास वाले मनुष्य थे और उनके व्यक्तिगत जीवन की निष्कलंक पवित्रता हमें यह विश्वास दिलाने के लिए पर्याप्त है कि वे केवल ऐसे बौद्धिक तार्किक व्यक्ति नहीं थे जो तत्वमीमांसा के सूक्ष्म बिन्दुओं पर ही विचार-विमर्श हो, परन्तु वे ऐसे ब्रहमरूढ़ संत थे जिन्हें उच्चतम सत्य की अनुभूति थी। इसलिए वे ऋषियों और योगियों के द्वारा प्राप्त रहस्यपूर्ण अनुभूति की औचित्य, विश्वसनीयता और संतोषजनक स्वरूप को करते थे। परन्तु वे यह भी स्वीकार करते थे कि मोक्ष के लिए उच्चतम ज्ञान गृहस्थ कर्मयोगियों के द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है। तिलक ने सभी धर्मो को अपने धर्म की उचित शिक्षा दिलवाने का आग्रह किया ताकि सभी धर्म परस्पर धार्मिक सहिष्णुता का पाठ सीख सकें। उन्हें इस बात का खेद था कि हिन्दुओं में अपने धर्म के प्रति स्वाभिमान घट रहा है क्योंकि वे स्वधर्म से अनभिज्ञ थे। उनवे अनुसार "किसी को अपने धर्म पर अभिमान कैसे हो सकता है, यदि वह उससे अनभिज्ञ है?" धार्मिक शिक्षा का अभाव ही इस बात का एक मात्र कारण है कि देशभर में मिशनरियों का प्रभाव बढ़ गया है।

तिलक ने धर्म परिवर्तन का विरोध किया और उसे घोर पाखण्ड और कहा कि धर्म परिवर्तन हृदय से होना चाहिए सम्पत्ति या स्वार्थपूर्ति के लिए नहीं। पण्डित रमाबाई द्वारा

संचालित "शारदा-सदन" की गतिविधियों का भण्डाफोड़ कर यह सिद्ध किया कि धर्म की आड में ईसाई मिशनरियों द्वारा किस प्रकार अबोध हिन्दू बालिकाओं को ईसाई धर्म में परिवर्तित किया जा रहा था। तिलक ने हिन्दुओं की साम्प्रदायिक एकता पर बल दिया। उन्होंने हिन्दू धर्म के लिंग भेद रहित मानवस्वतंत्रता का पोषण किया। उसे महिला एवं पुरूष के संबंधों को सामान्य आध्यात्मिक प्रगति की ओर अग्रसर करने वाला माना। धर्म के प्रति व्यक्ति की शिथिलता दूर करने के लिए कर्म का सिद्धान्त दिया। तिलक ने वर्णव्यवस्था को व्यक्तिगत और सामाजिक कर्त्तव्यों की पूर्ति का उदाहरण बताया। उन्होंने वर्णव्यवस्था को सामाजिक भेदभाव तथा अन्याय पर नहीं माना। वर्णव्यवस्था प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता को सबकी स्वतंत्रता में परिवर्तित कर देती है। वे वर्णव्यवस्था को जाति व्यवस्था से अलग मानते थे तथा जाति व्यवस्था को दोषपूर्ण बताया। वे छूआछूत की मुक्ति के लिए सनातन धर्म को त्यागने के स्थान पर उन रूढ़िवादियों से मुक्ति प्राप्त आवश्यक मानते थे जिन्होंने इस अछूत प्रथा को आमंत्रित किया। उनके अनुसार सनातन धर्म ने मोक्ष को लक्ष्य मानकर अर्थ तथा काम की पिपासा संतुष्ट करने का अवसर दिया किन्तु उन्हें भी धर्म के नियमों की परिधि में रखा। वर्णव्यवस्था सामाजिक संगठन के निर्माण पर व्यक्ति की प्रकृति तथा उसकी प्रतिभाओं के अनुरूप उसे स्वतंत्रता का अधिकार देती है। इस प्रकार वे हिन्दू धर्म को मानव स्वतंत्रता का पोषक मानते थे।

तिलक के अनुसार आधुनिक विज्ञान धीरे-धीरे हमारी प्राचीन बौद्धिकता और आध्यात्मिकता का समर्थन कर रहा है। भारत धर्म महामण्डल में 3 जनवरी, 1906 को भाषण देते हुए उन्होंने कहा था कि पश्चिमी देशों में मानसिक शोध-समाज, सर जगदीशचन्द बोस के शोध और ओलिवर लीज के विचार हिन्दू धर्म के मौलिक विचारों की पुष्टि करते हैं। आधुनिक विज्ञान आदि पुनर्जन्म का नहीं तो कर्म का सिद्धान्त अवश्य स्वीकार करता है। आधुनिक विज्ञान ने वेदान्त और योग को पूर्णरूपेण मान्यता दी है और आध्यात्मिक संयोग इसका लक्ष्य रहा है। तिलक के अनुसार हिन्दू धर्म को छोड़कर इस पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं है जिसमें हम ऐसी आशापूर्ण प्रतिज्ञा पाते हैं कि जब-जब आवश्यकता होती है तब-तब ईश्वर हमारे पास आता है और मानव को संकटकाल से उभारता है।

महात्मा गांधी की तरह तिलक की राजनीति बहुत हद तक धर्मवेष्ठित थी। तिलक एक धर्मप्राण राजनीतिज्ञ थे, और उसी राजनीतिक व्यवस्था के समर्थक थे जिसका उद्देश्य धर्म का पोषण एवं रक्षण हो। वे प्रथम राजनेता थे जिन्होंने धार्मिक जोश के माध्यम से राजनीतिक आदोलन को सशक्त बनाया। उन्होंने धार्मिक उत्सवों के माध्यम से भारत में राष्ट्रीयता की भावना लोगों के दिलों में बिठा दी। तत्कालीन माहौल में जबकि चारों ओर पश्चिमी संस्कृति का बोलबाला था और भारत के अधिकांश राष्ट्रीय नेता उससे प्रभावित थे, तिलक ने भारत के महान् अतीत को उजागर करते हुए उसको पुर्नप्रतिष्ठित किया। तिलक संकीर्ण हिन्दू राष्ट्रवादी नहीं थे। महाराष्ट्र में चलाये गये जन-आन्दोलनों में उन्हें सभी धर्मो का समर्थन प्राप्त होता रहा। मुसलमान नेताओं में उनके प्रति गहरी श्रद्धा थी। अली बन्दुओं ने अपने आपको तिलक की पार्टी का माना। मौलाना हजरत मौहानी ने अपना राजनीतिक गुरू तिलक को माना। 1916 में लखनऊ समझौता तिलक के प्रयासों से ही संभव हुआ। तिलक की सहिष्णुता के कारण ही कांग्रेस ने मुसलमानों को पृथक प्रतिनिधित्व देने का निर्णय स्वीकार किया। आसफ अली तथा

डॉ. अन्सारी ने खिलाफत आन्दोलन के समक्ष मुसलमानों के प्रति तिलक के सहानुभूतिपूर्ण समर्थन एवं सहयोग का उल्लेख किया था।

एक सच्चे धर्म प्राण व्यक्ति और आध्यात्मिक राष्ट्रवादी नेता की तरह उन्होंने यही चाहा कि शासन सभी धर्मावलम्बियों के साथ समान व्यवहार करे। उनको यह स्वीकार नहीं था कि अंग्रेज सरकार हिन्दू विरोधी नीति का आश्रय लेकर मुसलमानों के साथ पक्षपातपूर्ण नीति अपनाए तथा हिन्दू-मुसलमानों में साम्प्रदायिक झगड़ों को प्रोत्साहन दे। उन्हें यह सहन नहीं हुआ कि अंग्रेज सरकार मुसलमानों का पक्ष लेकर बहुसंख्यक हिन्दुओं के हितों की उपेक्षा करे तथा हिन्दुओं को दबाने के लिए अवांछित तत्वों को बढ़ावा दें। तिलक ने हिन्दुओं को आत्मरक्षार्थ संगठित होने का संदेश दिया और निर्भीकतापूर्वक हिन्दू संगठन के प्रयासों को जारी रखा तो इसमें कोई संकुचित भावना नहीं थी। तिलक का यह व्यवहार सर्वथा मानवतावादी था कि वे सरकार से सभी जातियों के लिये न्यायपूर्ण व्यवहार मांगते थे। सरकार जिस प्रकार ऊपर से मुसलमानों से व्यवहार करती थी उसके पीछे उसकी एक सुनिश्चित राजनीतिक चाल थी और जनसाधारण का यह विश्वास था कि सरकार मुसलमानों के साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार करती है। मुसलमानों को हिन्दुओं के विरूद्ध प्रयोग करने की एक सुनिश्चित चाल थी। तिलक ने इसको समझा और विरोध किया। अत्याचारी के सामने आत्मसमर्पण करना उन्हें स्वीकार नहीं था। यही सिद्धान्त था। वे मुसलमानों से झगड़ा मोल लेने में कभी पहले आगे नहीं बढ़े। वे सदैव आपसी मतभेद दूर करने और समझौता करने को तत्पर रहते थे। अपने सभी लेखों और भाषणों में सदैव ही बचाव करते रहते थे और हिन्दुओं के विरूद्ध लगाए गए आरोपों का खण्डन करते रहते थे। तिलक ने कभी संकीर्णतावाद नहीं चलाया वे मुसलमानों में भी अपना प्रभाव रखते थे, कई मुस्लिम नेता उन्हें अपना गुरू मानते थे। लखनऊ समझौता उन्हीं के प्रभाव का परिणाम था। जिन्ना ने उनमें अपना पूर्ण विश्वास प्रकट किया था। यह इस बात का प्रदर्शन था कि तिलक हिन्दुओं के साथ ही मुसलमानों के वैसे ही नेता थे। यह स्पष्ट था कि वे एक ही रात में नहीं बदले। वास्तव में तिलक तो धार्मिक सहिष्णुता के प्रतीक थे जिन्होंने मुसलमानों से अथवा अन्य किन्हीं भी धर्मवलम्बियों से कोई द्वेष भाव नहीं रखा। तिलक ने एक सच्चे आध्यात्मिक व धर्म-प्राण व्यक्ति एवं राष्ट्रवादी के रूप में यही चाहा कि सरकार अपने स्वार्थो के लिए विभिन्न सम्प्रदायों के बीच पक्षपातपूर्ण व्यवहार न करें बल्कि सभी के साथ समान व्यवहार करे।

हिन्दू दर्शन और आचारशास्त्र के दार्शनिक के रूप में तिलक जिन समस्याओं में अभिरूचि रखते थे वे सत्तामीमांसा, परलोक, विद्या, मोक्ष और संकल्प की शुद्धता की समस्याएं थीं तर्क-शास्त्र, नव्यन्याय के व्युत्पत्तिवाद, ज्ञान मीमांसा और व्यक्ति के दुःखपूर्ण अस्तित्व की नहीं। उन्होंने गणित की शिक्षा प्राप्त की थी। उनके जीवन में देशभक्ति की धुन थी, शाब्दिक विदम्बनापूर्ण विज्ञान की नहीं। वे ईश्वर के भक्तों और रहस्यवादी आत्माओं के गम्भीर भावातिरेक की खोज करने वाले कट्टरधर्मी नहीं थे, परन्तु उन्होंने भक्तिनिष्ठ ज्ञानसश्रित कर्मयोगमय जीवन का प्रमाणित किया और मानव आत्मा पर उनके मुक्तिपरक प्रभाव को स्वीकार किया। उनके, आध्यात्मिक विचार वेदों, उपनिषदों, गीता से प्रभावित थे, और गीता पर तो उन्होंने भाष्य ही लिख डाला जो मराठी साहित्य का एक अनूठा ग्रंथ है।

गीता पर लिखा भाष्य गीता-रहस्य उनमें आध्यात्मिक विचार प्रस्तुत करता है। उनके अनुसार भगवान के साक्षात्कार के अनेक मार्गो में कर्म का मार्ग प्रधान है। ज्ञानयोग तथा भक्तियोग ईश्वर से तादात्म्य स्थापित करने की श्रेष्ठता रखते हुए भी कर्म से नहीं है।

व्यक्ति को ज्ञान तथा भक्ति में पूर्णता प्राप्त करके भी मोक्ष-प्राप्ति के लिए कर्म का संवरण करना होता है। तिलक के मतानुसार प्रकृति, पुरूष एवं ईश्वर में परस्पर अन्योन्याश्रितता है। मनुष्य का ईश्वर के साथ एकाकार होना उसे कर्म से मुक्त करने की प्रेरणा देता है। स्वयं ईश्वर भी कर्म के बंधन से मुक्त नहीं है। प्रकृति तथा पुरूष की एकरूपता कर्म से ही स्थापित हो सकती है और इसके बाद पुरूष व ईश्वर का एकीकरण भी कर्म से प्रेरित है। कर्मयोग ब्रह्माण्ड की सृजनात्मक शक्ति का विवेकपूर्ण एवं संतुलित उपयोग है। यह प्रवृत्तिमार्ग है, जो निष्काम कर्म की प्रेरणा को जीवनपयोगी बनाता है। तिलक ने आचार नीति की समस्याओं का आध्यात्मिक विवेचन श्रेष्ठ मानते हुए सुखवाद, पराभववाद और उपयोगितावाद की आलोचना की। वे नैतिक गुणों को निरपेक्ष तत्व के रूप में मानते हुए उसे आधिदैविक एवं आधिभौतिक दृष्टिकोण से दूर रख उसकी तत्वशास्त्रीय व्याख्या पर जोर देते हैं। तिलक ने मनुष्य में स्वार्थ तथा परमार्थ दोनों ही प्रवृत्तियों का दर्शन किया है। परमार्थ की स्वार्थ पर विजय ही नैतिक मूल्यों द्वारा व्यक्ति के चरमोत्कर्ष का मार्ग है। जीवन में आध्यात्मिक दृष्टिकोण अपनाकर मानव आत्मा की शक्तियों का साक्षात्कार मनुष्य को सुख दुःख के अनित्य से मुक्त कर उसे धर्म की नित्यता का संदेश देते हैं। उनके मतानुसार ऐन्द्रिक एवं भौतिक सुखों से बढ़कर आध्यात्मिक परमसुख की प्राप्ति ही श्रेष्ठ है।

तिलक ने परब्रह्म के सच्चिदानंद स्वरूप की कल्पना को आध्यात्मिक चिन्तन की महत्तम उपलब्धि बतालाया है। वे ऋग्वेद में वर्णित परब्रह्म के इस प्रत्ययात्मक निरूपण के संबंध में आदि शंकराचार्य के विचारों से सहमत है। वेदान्त में व्यक्त परब्रह्म की दृश्यमान अभिव्यक्ति को ईश्वर के रूप में तिलक ने स्वीकार किया है। आध्यात्मिक साधना के प्रथम चरण में ईश्वर की समाधि है जिसमें निराकार परब्रह्म के सच्चिदानंद स्वरूप की प्राप्ति होती है। इस प्रकार तिलक ने सांख्य दर्शन के अनीश्वरवादी परब्रह्म तथा श्रीकृष्ण के ईश्वरीय अस्तित्व के वेदान्ती हृष्टिकोण का गीता में अतीव सुन्दर समन्वय अनुभूत किया है। तिलक के अनुसार ज्ञान से उत्पन्न वैराग्य अथवा संन्यास में भी कर्म की स्थिति बनी रहती है। दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संन्यासी को भी विचरण करना होता है फिर कर्म से मुक्ति कहां सम्भव है। इसलिए कर्महीन जीवन की कोई उपादेयता नहीं। गीता में तिलक के अनुसार मानसिक अहिंसा का उपदेश दिया गया। आपद्धर्म आत्मरक्षा के लिए प्रेरित करता है। गीता ज्ञानभक्ति समन्वित कर्मयोग का मार्ग प्रशस्त करती है। गीता को आधुनिक जीवन की मार्गदर्शिका मानते हुए भारतीय राष्ट्रीय स्वतंत्रता आदोलन में निर्भयता, स्वतंत्रता, बलिदान तथा सेवा की प्रेरणा तिलक ने गीता से प्राप्त की है। उनका सांख्य तथा वेदान्त ज्ञान उन्हें संकीर्ण सम्प्रदायवादी हिन्दू न बनाकर सार्वभौमिक मानव के रूप में परिवर्तित करने में सहायक रहा है।

इस प्रकार तिलक का धर्म एक संकीर्ण मत नहीं था बल्कि अपने स्वधर्म की महानता को मानते हुए अन्य सम्प्रदायों के प्रति समानता के आधार पर व्यवहार करने वाला धर्म है। उन्होंने अपने धर्म के माध्यम से राष्ट्रीयता की जनजागृति फैलाई। गणपति उत्सव एवं शिवाजी

उत्सव के माध्यम से राष्ट्रीयता के आवेश में आध्यात्मिकता को प्रधानता देते हुए धार्मिक उत्सवों को राजनीतिक अर्थ दिया व धर्म के माध्यम से जनता में जागृति पैदा करते हुए देश के प्रति उनके कर्त्तव्य को जगाया और सभी लोगों को एकता के सूत्र में बांधने का कार्य किया और सभी धर्मों को अच्छी तरह समझने के लिए उन्होंने धार्मिक शिक्षा की बात कही, ताकि रूढ़िवादी धर्मों का आपस में झगडा नहीं करवाएं।

निष्कर्ष रूप में तिलक धार्मिक दृष्टि से हिन्दू होते हुए भी रूढ़िवादिता से ग्रसित नहीं थे उन्होंने हिन्दू धर्म की तत्वमीमांसा का पाश्चात्य दर्शन एवं उसके वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। उन्होंने धर्म को राष्ट्रीयता का एक आवश्यक एवं मनोवैज्ञानिक पहलू माना।

तिलक ने अवतारवाद में आस्था प्रकट की। उन्होंने कृष्ण को ईश्वर का अवतार माना तथा गीता की अपनी व्याख्या उन्हीं को समर्पित की। धार्मिक जीवन के लिए भक्ति को उन्होंने आवश्यक बताया।

9.7.2 गीता का विचार

तिलक के विचार एवं दर्शन पर जितना प्रभाव गीता का था उतना किसी अन्य ग्रंथ का नही था। इसलिए गीता का गहरा अध्ययन करके उन्होंने मांडले के कारागार में प्रसिद्ध "गीता रहस्य" की रचना की थी। यह वृहत् और चिरस्थायी ग्रंथ गीता का विद्वतापूर्ण भाष्य ही नहीं है, अपितु उसने आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद की अधिकारिक पाठ्यपुस्तक का भी काम किया है। उसने देश के नवयुवकों को निष्काम कर्म से अनुप्रेरित संदेश दिया। तिलक बचपन से ही गीता से प्रभावित थे और 1892 में ही विवेकानन्द के साथ वार्तालाप करते हुए तिलक ने अपना यह मत व्यक्त किया था कि गीता निष्काम कर्म की शिक्षा देती है। उसके बाद उन्होंने गीता का गहन अध्ययन किया और जब इसके लिए उन्हें मांडले जेल का एकान्तवास एवं समय मिला तो उन्होंने 2 नवम्बर 1910 से 30 मार्च 1911 तक केवल पांच महीने में गीता पर प्रथम पांडुलिपि तैयार की और उसके बारे "मराठा" में जो पत्र प्रकाशित हुआ उसमें उन्होंने लिखा है कि "गीता के संबंध में जिसे गीता-रहस्य कहता हूं उसे मैंने समाप्त कर लिया है। यह स्वतंत्र और मौलिक पुस्तक है जो गीता के उद्देश्य की छानबीन करती है और जिसमें यह दिखाया गया है कि उसमें हमारा धार्मिक दर्शन आचारशास्त्रीय समस्या के समाधान में किस प्रकार प्रयुक्त किया है, क्योंकि गीता के विषय में मेरा विचार है कि यह आचारशास्त्र की पुस्तक है - उपयोगितावाद, या अन्तर्दृष्टि विषयक नहीं, अपितु ग्रीन की "आचारशास्त्र की प्रस्तावना" के ढंग पर कुछ-कुछ अत: प्रेरणात्मक है। मैंने सर्वत्र गीता के दर्शन की पाश्चात्य धार्मिक और आचारशास्त्रीय दर्शन से तुलना की है और मैंने पाया है कि हमारा दर्शन किसी पाश्चात्य दर्शन से किसी भी कम से कम निम्न कोटि का नहीं है"। तिलक के मतानुसार गीता ब्रह्म-साक्षात्कार हो जाने पर भी कर्म करने की आवश्यकता का प्रतिपादन करती है। ईश्वर की प्राप्ति होने के पूर्व और बाद में भी कर्म करना अनिवार्य है। गीता-रहस्य पर 1917 में अमरावती में भाषण दिया उसमें उन्होंने इसकी रूपरेखा के बारे में कहा कि, "प्रारम्भ में मुझे कहने दीजिए कि भगवद्गीता का अध्ययन करने के लिए मुझे प्रेरणा किससे मिली। जब मैं छोटा बालक था तो

मेरे गुरू जन ऐसा कहा करते थे कि पूर्ण रूप से धार्मिक और वास्तविक रूप से दार्शनिक जीवन की, हमारे प्रतिदिन के कार्य संकुल जीवन के साथ संगति नहीं बैठती। यदि कोई मोक्ष प्राप्त करने का है, जो मनुष्य का उच्चतम लक्ष्य है, तो उसे सभी सांसारिक इच्छाओं को त्याग कर इस संसार में संन्यास ले लेना चाहिए। संसार और ईश्वर इन दोनों प्रभुओं की सेवा कोई साथ-साथ नहीं कर सकता। मैंने इसका यह अर्थ समझा कि यदि कोई ऐसा जीवन बिताना चाहता है जो उस धर्म के अनुसार जिसमें मैं उत्पन्न हुआ हूँ श्रेष्ठ है तो उसे जितना जल्द हो सके संसार का त्याग कर देना चाहिए। इसने मुझे सोचने को बाध्य किया। मैंने अपने लिए समाधान करने हेतु जो प्रश्न रखा वह था क्या मेरा धर्म चाहता है कि मैं संसार को छोड़ दूं और पुरूषार्थ की पूर्णता प्राप्त करने के लिए प्रयास करने के पहले ही इसका त्याग कर दूं। बचपन में मुझसे यह भी कहा गया था कि भगवद्गीता को ऐसी पुस्तक के रूप में मान्यता प्राप्त है जिसमें हिन्दू धर्म के सभी सिद्धान्त और दर्शन निहित हैं और मैंने सोचा कि यदि ऐसी बात है तो मुझे अपने प्रश्न का उत्तर इस पुस्तक में खोजना चाहिए और इस प्रकार भगवद्गीता का मेरा अध्ययन प्रारम्भ हुआ। किसी दर्शन के विषय में पूर्व विचारों से ग्रस्त हुए बिना खुले मन से उस पुस्तक को पढ़ता है, उदाहरण के लिए जब कोई ईसाई इस पुस्तक को पढ़ता है तब वह यह जानना नहीं चाहता कि गीता क्या कहती है, परन्तु वह यह पता लगाना चाहता है कि गीता में कोई ऐसा सिद्धान्त है, जिसे बाईबिल में देखा है और यदि ऐसी बात है जो यह निष्कर्ष निकालता है कि गीता बाईबिल की नकल की गई है। मैंने इस विषय पर गीता रहस्य में किया है। परन्तु मैं इस बात पर जोर देना चाहता हूं कि "यदि आप किसी किताब को पढना और समझना चाहते हैं, विशेषत: गीता जैसी महत्वपूर्ण पुस्तक को तो आपको पूर्वाग्रहरहित मन से पढ़ना चाहिए। मैं जानता हूँ कि ऐसा करना बहुत कठिन है। जो लोग ऐसा करने को कहते हैं उनके मन में एक छिपा हुआ विचार या पूर्वाग्रह रह सकता है जिससे कुछ दूर तक पुस्तक का अध्यन दूषित हो जाता है। फिर भी आपसे मन की उस संरचना का वर्णन करता हूं जिसे उस मनुष्य को धारण करना चाहिए। यदि वह सत्य पर पहुंचना चाहता है, और चाहे यह जितना कठिन हो इसे करना होगा। दूसरा काम जो पाठक को करना है वह यह कि उस समय और उन परिस्थितियों को ध्यान हें रखना होगा जिसमें वह पुस्तक लिखी गयी है और उस उद्देश्य को भी जिसके लिए यह पुस्तक लिखी गई। संक्षेप में प्रसंग को छोडकर पुस्तक का अध्ययन नहीं करना चाहिए। यह भगवत गीता जैसी पुस्तक के लिए विशेष सच है। विभिन्न भाष्यकारों ने इस पुस्तक की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की है और निश्चय ही लेखक या कवि ने इतनी व्याख्याओं के लिए इसकी रचना नहीं की होगी। इस कवि का केवल एक अर्थ और केवल एक ही उद्देश्य इस पुस्तक में होगा और मैंने उसे पाने की चेष्टा की है। मुझे विश्वास है कि मैं इसमें सफल हुआ हूं क्योंकि इस व्यापक रूप से समादृत पुस्तक के द्वारा अपने किसी सिद्धान्त का समर्थन प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं होने से मुझे अपने सिद्धान्त के अनुसार अर्थ को परिवर्तित करने का कोई कारण नहीं था। गीता को कोई ऐसा टीकाकार प्राप्त नहीं हुआ जिसने अपना कोई प्रिय सिद्धान्त नहीं चलाया है और जिसने यह दिखाकर कि गीता उसका समर्थन करती है, उस सिद्धान्त की पुष्टि करने की चेष्टा न की है। मैं जिस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं वह यह है कि गीता ज्ञान या भक्ति के द्वारा ईश्वर से साक्षात्कार कर लेने पर भी कर्ता को कर्म करने की शिक्षा देती है।

नैतिक और तात्विक विकास के उसी मार्ग पर संसार को चलते रहने के लिए कर्म अवश्य करना चाहिए। जिसका संसार के द्वारा अनुसरण ईश्वर को अभीष्ट है। कर्म कर्ता के, बधंन के कारण नहीं बने, इसलिए इसे अपने उद्देश्य की सहायता करने के लक्ष्य से और होने वाले फल की आसक्ति से रहित होकर करना चाहिए। मेरे विचार से यही गीता की शिक्षा है। हां, उनमें ज्ञानयोग है, उसमें भक्ति योग है। कौन कहता है, नहीं। परन्तु दोनों गीता में उपदिष्ट कर्मयोग के सहायक हैं। यदि हतोत्साह अर्जुन को युद्ध करने के लिए प्रस्तुत करने के लिए कर्म करने के लिए गीता का उपदेश दिया गया तो यह कैसे कहा जा सकता है कि उस महान् ग्रंथ की सर्वोच्च शिक्षा केवल ज्ञान या भक्ति है वास्तव में गीता में इन सभी योगों का समन्वय है ओर जिस प्रकार वायु केवल हाइड्रोजन या ऑक्सीजन या अन्य कोई गैस नहीं है, बल्कि एक विशेष अनुपात में सबों में संयुक्त रूप है, उसी प्रकार गीता में ये सभी योग एक में संयुक्त है।

मैं जब यह कहता हूं कि ज्ञान और भक्ति में पूर्णता प्राप्त कर लेने पर भी गीता कर्म करने की शिक्षा देती है तो मैं प्राय: सभी टीकाकारों से अपना मतभेद व्यक्त करता हूं। ईश्वर, मनुष्य और संसार में एक मौलिक एकता है। संसार का अस्तित्व है क्योंकि ईश्वर ने इसे वैसा होने की इच्छा की है। उन्हीं के संकल्प से यह टिका हुआ है। मनुष्य ईश्वर से ऐक्य प्राप्त करना चाहता है और जब यह ऐक्य प्राप्त हो जाता है तो व्यक्ति का संकल्प शक्तिशाली विश्व संकल्प में मिल जाता है। जब यह स्थिति प्राप्त हो जाती है तो क्या व्यक्ति यह कहेगा कि "मैं कोई काम नहीं करूंगा और संसार की सहायता नहीं करूंगा....." वह संसार जिसका अस्तित्व इसलिए है कि उस संकल्प ने उसे वैसा होने की इच्छा की है, जिसके साथ उसने ऐक्य स्थापित करना चाहा। यह तर्कसम्मत नहीं है। मैं ऐसा नहीं कहता, गीता ऐसा कहती है। स्वयं श्रीकृष्ण कहते हैं कि तीनों लोकों में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे प्राप्त करने की आवश्यकता है, फिर भी वे काम करते हैं। वे कर्म करते हैं क्योंकि यदि वे नहीं करें तो संसार नष्ट हो जाएगा। यदि मनुष्य ईश्वर के साथ एकता चाहे तो उसे निश्चित रूप से संसार के हित के साथ भी एकता स्थापित करनी होगी। उसके लिए काम भी करना होगा। यदि वह ऐसा नहीं करता तो एकतापूर्ण नहीं है क्योंकि तीन में से दो (मनुष्य और ईश्वर) के बीच एकता है और तीसरा (संसार) छूट जाता है। इस प्रकार मैंने अपने लिए इस प्रश्न का समाधान निकाला है और मैं यह मानता हूं कि संसार की सेवा करना और इस प्रकार ईश्वर के संकल्प की सेवा करना मोक्ष का मार्ग सर्वश्रेष्ठ मार्ग है और इस मार्ग का अनुसरण संसार में रहने से हो सकता है, उससे भागने से नहीं हो सकता।" तिलक के अनुसार गीता एक महान और गम्भीर ग्रंथ है। यह अद्वैतवाद के तत्वदर्शन की शिक्षा देती है। अनन्त, चेतन, अमृत, सर्वाधार, पुरूषोत्तम एवं सर्वशक्तिमान तत्व में इसे पूर्ण आस्था है। यह सर्वोच्च आध्यात्मिक चेतना की प्राप्ति का मार्ग बताती है, परन्तु साथ ही साथ यह संसार में कर्म के महत्व का खण्डन नहीं करती। निष्काम कर्मयोग का इसका दर्शन ज्ञान, भक्ति और कर्म में समन्वय स्थापित करता है। गीता हमें प्रेरणात्मक और उदात्त स्वर में वैदिक ज्ञान, भक्ति और कर्म में समन्वय स्थापित करता है। गीता हमें प्रेरणात्मक और उदात्त स्वर में वैदिक और उपनिषद् धर्म का सारांश प्रदान करती है।

बोध प्रश्न-3

प्रश्न: तिलक के संदर्भ में गीता रहस्य का क्या महत्व है।

उत्तर: .....

.....

9.8 राष्ट्रवाद

आधुनिक भारतीय चिन्तन में राजनीतिक सोच भारतीय परम्पराओं का एक समिश्रण प्रस्तुत करती है। विभिन्न धाराओं में व्यक्त होने वाला भारतीय राजनीतिक चिन्तन मुख्यतया दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, एक वह जिसमें भारत के आधुनिकीकरण का प्रयास पश्चिमी आधुनिकीकरण के अनुरूप किये जाने पर बल दिया गया है, जिसमें राजा राममोहन राय से गोखले एवं एम. एन. राय तक एक सशक्त परम्परा है।

दूसरे भाग में भारतीयता के संदर्भ को देखते हुए आधुनिकीकरण की प्रक्रिया भारत की प्राचीन सांस्कृतिक एवं धार्मिक धरोहर को पुर्नव्याख्यित एवं सशक्त करने पर बल दिया गया है। इसमें मुख्यतया स्वामी दयानन्द, विवेकानन्द, तिलक और गांधी आदि 'विचारकों की परम्परा है।

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक का राष्ट्रवाद पुनरूत्थानवादी और पूनर्निर्माणवादी था। उन्होंने राष्ट्र को धर्म से भी उच्च स्थान दिया है। उन्होंने भारत की प्राचीन परंपराओं के आधार पर भारतीय राष्ट्रवाद की स्थापना की। भारतीय सभ्यता और संस्कृति से प्रेरित तिलक ने पुनरुत्थान की भावना से राष्ट्रवाद को स्थापित करने पर जोर दिया। गीता के कर्मयोग व वेद शिक्षा को जनता के समक्ष प्रस्तुत किया। तिलक का मानना था कि स्वस्थ राष्ट्रवाद की स्थिति तभी प्राप्त की जा सकती है, जब भारतीय अपने अतीत की परम्पराओं को सम्माननीय भाव से माने। 3 दिसम्बर, 1919 को मराठा में लिखे गये एक पत्र में लिखा था "सच्चा राष्ट्रवादी पुरानी नींव पर ही निर्माण करना चाहता है। जो सुधार पुरातन के प्रति घोर असम्मान की भावना पर आधारित है। उसे सच्चा राष्ट्रवादी रचनात्मक कार्य नहीं समझता, हम अपनी संस्थाओं को अंग्रेजियत के ढांचे में नहीं ढालना चाहते सामाजिक और राजनीतिक सुधार के नाम पर हम उनका अराष्ट्रीयकरण नहीं करना। राष्ट्रवाद तिलक के जीवन की प्रबल भावना बन नया था जिसे उन्होंने अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया। उसके आगे उनकी अन्य सारी इच्छाएं, आकांक्षाएं और दिलचस्पियां दब सी गई। वे देश का स्वतंत्रता पाने के काम में तन, मन, धन से जुट गये। वे बहुत ही छोटे-छोटे सवालों पर भी जबर्दस्त राष्ट्रीय आन्दोलन खड़ा कर देने में माहिर थे। 1907 में पूना में चले मद्यनिषेध के दौरान एक पुलिस रिपोर्ट में बताया गया था कि "'पूना में ब्रिटिश राज खत्म हो गया है, सारे जिले पर तिलक का ही अधिकार है, उन्हीं का शासन चल रहा है।"

तिलक की मान्यता थी कि राष्ट्रवाद एक आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक धारणा है। यह उस पुरानी गणभक्ति की भावनाओं का आधुनिक संस्करण है, जो हम और प्राचीन युगों से देखते आए हैं। लोगों में प्रेम और अनुराग की जो भावना अपने कबीले अर्थात् गण पोलिस सिविटास और देश के प्रति थी उसी ने वर्तमान युग में विकसित होकर राष्ट्रभक्ति रूप ले लिया है। अर्थात् प्राचीनकाल में जो आत्मिक प्रभाव और लगाव एक क्षेत्र विशेष तक थे, वे अब

राष्ट्रवाद के अन्तर्गत सम्पूर्ण राष्ट्र में व्याप्त हो गये हैं। जिसके परिणामस्वरूप आज की भावना किसी क्षेत्र विशेष के प्रति नहीं अपितु समूचे राष्ट्र के प्रति अनुभव की जाती है तिलक के अनुसार जो राष्ट्रवाद राष्ट्रीय एकता पर आधारित होता है वही सच्चा और स्वस्थ है। राष्ट्रवाद की विदेशी साम्राज्यवाद के विरूद्ध आर्थिक संघर्ष या स्वायत्त आत्मनिर्धारित जीवन की राजनीतिक आकांक्षा या स्वायत्त आत्मनिर्धारित जीवन की राजनीतिक आकांक्षा का ही द्योतक नहीं बल्कि उससे संस्कृति की आत्मा के विकास का भी विशेष रूप से परिचय मिलता है। सर्वमान्य द्वारा बोली जाने वाली एक भाषा, किसी एक ही वास्तविक अथवा काल्पनिक जाति से सब की उत्पत्ति का विश्वास, एक ही भूमि पर निवास और एक सामान्य धर्म में कुछ बहुत ही महत्त्वपूर्ण वस्तुगत तत्व है जिनसे राष्ट्रवाद की भावना उत्पन्न होती है।"

लोकमान्य तिलक ने राष्ट्रवाद के विकास में सार्वजनिक उत्सवों को महत्वपूर्ण स्थान दिया। उनके अनुसार उत्सव और समारोह राष्ट्रवाद के प्रतीकात्मक तत्व हैं। एक ओर वे अपने शामिल होने वालों में व्याप्त एकता के बंधन को दर्शाते हैं वहीं उनसे उन एकता की भावनाओं को बल और उत्तेजना मिलती है यह सब निर्माता और राष्ट्रनेता ही होते हैं जो अपने का सहारा लेकर इन भावनाओं को सृजनात्मक शक्तियों के रूप में वांछित कार्यो में नियोजित कर सकते हैं। ध्वज, राष्ट्रचिन्ह स्वतंत्रता दिवस समारोह तथा उत्सव गंभीर भावनाओं को प्रतीकात्मक रूप देते हैं। इस प्रकार का प्रतीक प्रयोग पाशविक जीवन की मांगों और आवश्यकताओं की पूर्ति में डूबे रहने से कहीं अधिक प्रगतिशील है। प्रतीक प्रयोग सांस्कृतिक विकास का द्योतक है, क्योंकि वही बताता है कि मनुष्य भौतिक जीवन से उठ रहा है और राष्ट्र जैसी किसी बडी वैयक्तिक सत्ता के आनन्द और आहलाद का अनुभव कर सकता है।

तिलक ने समझाया कि "मैने शिवाजी और गणपति उत्सवों को प्रोत्साहन इसलिए दिया है कि उनके द्वारा वर्तमान घटनाओं और आन्दोलनों को ऐतिहासिक परम्पराओं के साथ। संबंध जोड़ा जा सके"। गणपति और शिवाजी उत्सव आज महाराष्ट्र के जीवन के अंग बन गये है। आज के युवकगण यह विश्वास नही कर पाते कि धार्मिक पर्वों की तरह मनाये जाने वाले ये उत्सव 70 वर्ष पूर्व तिलक ने आरम्भ किये थे।

तिलक पहले राजनीतिक नेता थे जिन्होंने धर्म के माध्यम से राजनीति में प्रचार किया और 20वीं शताब्दी की पहली कुछ दशाब्दियों में क्रान्तिकारी नेता व संगठनों का माध्यम बना। एक नेता के रूप में तिलक महाराष्ट्र में अपने अनुयायियों का शक्तिशाली संगठन खडा करना चाहते थे और इसके लिए उन्होंने जनता की धार्मिक व ऐतिहासिक परम्पराओं को प्रतीकात्मक रूप देने का प्रयत्न किया। गणपति और शिवाजी उत्सव महाराष्ट्र के उदायीमान भावना मण्डित राष्ट्रवाद के प्रतीक रूप में प्रयुक्त होने लगे।

राष्ट्रवाद विदेशी साम्राज्य के विरूद्ध आर्थिक संघर्ष और स्वायत्त आत्मनिर्धारित जीवन की राजनीतिक आकांक्षा का ही द्योतक नही है अपितु उससे संस्कृति की आत्मा के विकास भी विशेष रूप से परिचय मिलता है।

राष्ट्रीयता के आवेश को आध्यात्मिक रंग देने के लिए उन्होंने गणपति उत्सव को फिर से जागृत किया और साथ ही शिवाजी की उपासना का पंथ भी शुरू किया। गणपति उत्सव द्वारा उन्होंने एक धार्मिक उत्सव को सामाजिक एवं राजनैतिक अर्थ दिया तथा शिवाजी उत्सव

द्वारा राष्ट्रीय भावनाओं को उभारने और संगठित करने का काम किया। तिलक उत्सवों का दोहरा महत्त्व स्वीकार करते थे - एक ओर तो इनके माध्यम से एकता की भावना अभिव्यक्त होती है और दूसरी और उत्सवों में भाग लेने वाले व्यक्ति यह अनुभव करने लगते हैं कि उनके संगठन ओर उनकी एकता को किसी श्रेष्ठतर कार्य में लगाया जा सकता है। तिलक ने प्राचीन उत्सवों को किसी प्रकार आधुनिक राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुकूल बना दिया यह निःसन्देह उनकी राजनीतिक और नेतृत्व प्रतिभा का सुन्दर व अधभूत उदाहरण है।

शिवाजी उत्सव 1896 में शुरू हुआ। वहीं सार्वजनिक गणेश उत्सव का विचार भारतीय राज्यों में फैलने लगा और 1896-97 तक वह सम्पूर्ण महाराष्ट्र में मनाया जाने लगा। जहां गणपति पौराणिक देवता थे वहां मराठा साम्राज्य के संस्थापक शिवाजी ऐतिहासिक व्यक्ति थे। मराठा में 24 जून, 1906 में लिखा था - "वीर पूजा मानव का स्वभाव है और अपनी राजनैतिक आकांक्षाओं को मूर्त कराने के लिए एक भारतीय महावीर के आदर्श की हमें आवश्यकता थी। इसके लिए शिवाजी से उत्तम चरित्र मिलना असंभव था। हम अकबर या भारतीय इतिहास के अन्य चरित्र की याद में उत्सव आरम्भ करने के विरूद्ध नहीं। इनका अपना एक महत्त्व होगा किन्तु शिवाजी का नाम सारे देश के लिए एक विशिष्ट महत्त्व लिए हुए है और हर देशवासी का यह कर्त्तव्य है, कि वह इस चरित्र को विस्मृत और विकृत न करे। हर महापुरूष चाहे वह भारत का हो या यूरोप का अपने युग के अनुकूल ही कार्य करता है यह सिद्धान्त यदि हम मान लें तो हमें शिवाजी के जीवन में कोई भी ऐसा कार्य नहीं मिलेगा जिसकी हम निन्दा कर सकें। शिवाजी के हृदय में स्वतंत्रता की जो भावना आरम्भ से अंत तक थी उसी भावना के कारण यह राष्ट्र के आदर्श माने जाते हैं।

इस प्रकार एक राजनीतिक आंदोलन के कृत्रिम विचार ने एक नागरिक धर्म का रूप धारण कर लिया। इन उत्सवों को प्रारम्भ करके तिलक ने राष्ट्रीय भावनाओं को जनता तक पहुंचाने का प्रयत्न किया। जिसमें वे सफल रहे। गणपति उत्सव जनता में राष्ट्रवादी भावनाओं को जगाने की दिशा में एक बड़ा सफल प्रयोग था और इस दृष्टि से उसने महाराष्ट्र की जनता की मानसिक दशा को प्रभावित किया।

'गणपति उत्सव से विद्यार्थियों के स्कूल व कॉलेज में राष्ट्रवादी आंदोलन जागृत हुआ। साथ ही एथलेटिक क्लब से जुड़ गये इन्हीं सब विकासों के साथ महाराष्ट्र में "अभिनव भारत" जैसे संगठन का उदय हुआ। जिसने कई क्रांतिकारी नेताओं को जन्म दिया। साथ ही महाराष्ट्र और इसकी सीमाओं से लगे भारतवर्ष के कई क्षेत्रों में संगठन के लिए नेतृत्व किया।'

23 अप्रेल 1895 को केसरी में लेख प्रकाशित हुआ जिसमें महाराष्ट की जनता से शिवाजी के ऐतिहासिक जीवन की रक्षा की अपील की गई। तिलक शिवाजी को गीता के अर्थ में एक विभूति मानते थे। 1908 में तिलक के कलकत्ता पहुंचने से पहले वहां शिवाजी उत्सव पाश्चात्य ढंग से मनाया जाता था, सभा बुलाई जाती थी और भाषण किये जाते थे। किन्तु जून 1906 में तिलक के वहां पहुंचने के बाद हिन्दू पद्धति से उत्सव मनाया गया।

गणपति पूजा की सुधारकों ने हंसी उड़ाई क्योंकि उसकी विधि धार्मिक त्यौहारों का अनुकरण थी। तिलक ने आलोचना का उत्तर देते हुए लिखा कि "जो यह कहते हैं, कि गणपति की झांकियाँ मुसलमानों के ताजियों की नकल है, उन्होंने आषाढ़ व कार्तिक की एकादशी की

भजन मण्डलियों को नहीं देखा। लेजिक का खेल, नगाड़ों की गड़गड़ाहट और इसी प्रकार के अन्य कार्य प्राय: हर मेले में होते हैं, पिछले दो तीन वर्षो से हिन्दू मोहर्रम के अवसर पर मुसलमानों पीरों की मनौती मनाते रहते हैं कारण हम हर धर्म का मान करते हैं।

हिन्दुओं में सामंजस्य और एकता की भावना उत्पन्न करने के उद्देश्य से तिलक ने राष्ट्रवाद के विकास में सार्वजनिक उत्सावों को महत्वपूर्ण माना। तिलक का कहना था "मानव व्यवहार ही इस तरह का है, कि बिना उत्सव हम उसे नहीं रह सकते। यह मानव की प्रकृति है, कि वह उत्सव से प्यार करता है यदि तुम्हें अपनी भावना को बनाये रखना है, तो साल में एक बार अपने आंतरिक व आत्मिक शक्ति को स्थायी विचार के लिए केन्द्रित करना होगा। त्यौहार चली गई स्मृति को बनाये रखने के लिए मनाये जाते हैं। दुर्भाग्यवश भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अलावा हमारे पास हमारे वीरों की याद में कोई राजनीतिक उत्सव नहीं है। यही कारण है कि महाराष्ट्र में शिवाजी उत्सव इसी आशा के साथ शुरू किया गया कि यह पूरे देश में बिना जातिगत या धार्मिक भेदभाव के फैले।

प्राचीन यूनान देश के ओलम्पिक त्यौहार और अन्य देशों के राष्ट्रीय पर्वों का उदाहरण देते हुए उन्होंने जोरदार शब्दों में जनता से अनुरोध किया कि वह गणपति उत्सव में पूरा सहयोग दे यह उत्सव शुरू से ही बिना जात-पात के भेदभाव से मनाया जाता था।

9 अप्रेल, 1901 को तिलक ने केसरी में एक लेख प्रकाशित करके बताया कांग्रेस आन्दोलन का उद्देश्य कुछ विशिष्ट अधिकारों को तत्काल प्राप्त करना है जोकि शिवाजी उत्सव एक स्फूर्तिदायक और औषधि की भांति है जिससे सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन की नींव सुदृढ़ होती है। तिलक के अनुसार राष्ट्रवाद कोई दृश्यमान स्थूल नहीं वह तो एक भावनात्मक प्रत्यय है और इस भावना को जागृत करने में देश के महापुरूषों की ऐतिहासिक स्मृतियाँ महत्त्वपूर्ण योग देती है। शिवाजी के मन में लोक कल्याण की भावनाएं थी उन्होंने कभी स्थानीय स्वीर्थों अथवा समाज में किसी वर्ग विशेष के हित में नहीं सोचा।

तिलक साहसी व निर्भीक व्यक्ति थे, शिवाजी और गणेश उत्सव का प्रचार करने की योजना के मूल में तिलक का व्यवस्थित राजनीतिक दर्शन था। वे भारतीय जनता की भावना और संवेगों को जागृत करना चाहते थे। शिवाजी उत्सव मुस्लिम विरोधी है, इसका उन्होंने बार-बार खण्डन किया। सत्रहवीं शताब्दी में शिवाजी ने उन मुसलमानों से युद्ध किया जो उत्पीड़क थे आज ऐसी कोई स्थिति नहीं है। बंगभंग विरोधी आदोंलन के दिनों में तिलक ने एक जुट होने की बात कही।

प्राय: तिलक पर यह आरोप लगाया जाता है कि वे हिन्दू पुनरूत्थानवादी थे। साम्प्रदायिकता से ओतप्रोत शिवाजी और गणपति उत्सव उनके द्वारा चलाये गये। जबकि यह निराधार आरोप है कि यह पूर्ण सत्य है, कि वे हिन्दू जनता में इन उत्सवों के माध्यम से उत्साह व जोश पैदा करना चाहते थे किन्तु मुस्लिमों या अन्य जातिगत भेदभाव के आधार पर उन्होंने लोगों के साथ कोई दुर्व्यवहार नहीं किया।

तिलक ने इस मत को स्वीकार किया कि भारत में राष्ट्रीयता तभी मजबूत और दृढ़ रह सकती है, जब जनता जाति भेद भुला कर सौहार्द्र व विश्वास को महत्व दे। यही कारण था कि

तिलक हिन्दू-मुस्लिम सहअस्तित्व की भावना को प्रश्रय देते थे। साथ ही अंग्रेजों की हिन्दू-मुस्लिम विरोधी नीति का अपनों पत्रों मराठा व केसरी के द्वारा प्रबल शब्दों में विरोध करते थे।

यह सत्य है कि तिलक भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को हिन्दुत्व के सशक्त सांस्कृतिक और धार्मिक पुनरूत्थान के द्वारा बल प्रदान करना चाहते थे। किन्तु राष्ट्रवाद के संबंध में वे आर्थिक तर्को को भी स्वीकार करते थे। तिलक और गोखले दोनों ही ने स्वीकार किया कि विदेशी साम्राज्य के कारण भारत के आर्थिक साधनों का भारी निर्गम हुआ है। 1897 में रानी विक्टोरिया की हीरक जयत्नी पर तिलक ने केसरी में तीन लेख लिखे। 22 जून 1897 के लेख में लिखा "ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भारतीय उद्योगों व कलाओं का ह्रास हुआ है। उनका कहना था कि विदेशी पूंजीपतियों द्वारा भारत में जो धन लगाया गया है, औद्योगिक दिशा में कदम उठाये गये हैं वह मात्र दिखावा हैं। उन्होंने दादाभाई नोरोजी द्वारा दैल्बी आयोग के समक्ष दिये गये साक्ष्य का उल्लेख किया।

तिलक भारतीय राष्ट्रवाद के आर्थिक आधारों के प्रति जागृत थे उन्होंने स्वदेशी आदोलन के आर्थिक पक्ष को भी महत्व दिया। भारत में विदेशी आंदोलन ने आध्यात्मिक तथा राजनीतिक स्वरूप धारण कर लिया। वह वस्तुत: देश की राजनीतिक मुक्ति के लिए राष्ट्र की शक्तियों को उन्मुक्त करने का आंदोलन बन गया। गोखले ने बनारस के अपने अध्यक्षीय भाषण में इसे राष्ट्रप्रेम का आंदोलन माना जिसका उद्देश्य पूंजी और क्षमता का विवेक संगत उपयोग करके उत्पादन को बढ़ावा है। तिलक तथा बंगाली अतिवादियों के नेतृत्व में जिस स्वदेशी आंदोलन का विकास हुआ वह वास्तव में आयरलैण्ड सिन फिन आंदोलन का प्रतिरूप था।

तिलक से पूर्व दयानन्द सरस्वती ने भी इस विचार का सूत्रपात किया था किन्तु तिलक द्वारा यह लोकप्रिय बना अपितु ब्रिटिश शासन के विरूद्ध भारतीयों को अपना राजनीतिक विरोध करने का सशक्त माध्यम प्राप्त हुआ। तिलक ने बंग भंग को एक छिपा वरदान बताया क्योंकि इसने राष्ट्र को एकताबद्ध करने की चेतना उत्पन्न कर दी। दरअसल बहिष्कार आंदोलन पहले ही शुरू हो चुका था और तिलक ने केसरी के सम्पादकीय में लिखा था कि, "लगता है कि बहुत से लोगों ने बहिष्कार आदोलन के महत्व को समझा नहीं। ऐसा आंदोलन आवश्यक है, विशेषकर उस समय जब एक राष्ट्र और उसके विदेशी शासकों में संघर्ष चल रहा हो। इंग्लैण्ड का इतिहास इस बात का ज्वलंत उदाहरण प्रस्तुत करता है कि वहां की जनता अपने सम्राट को कैसे नाकों चले चबवाने के लिए उठ खड़ी हुई थी क्योंकि सम्राट ने उनकी मांगें पूरी करने से इंकार कर दिया था। सरकार के विरूद्ध हथियार उठाने की न हमारी शक्ति है और न ही कोई इरादा लेकिन देश से जो करोड़ों रूपये बाहर जा रहे है। क्या हम उसे बंद करने का प्रयास न करें? क्या हम नहीं देख रहे, कि चीन ने अमेरिकी माल का जो बहिष्कार किया था। उससे अमेरिकी सरकार की आँखें खुली।..... इसलिए हमें विश्वास है कि, वर्तमान संकट में देश के दूसरे भागों की जनता बंगालियों की सहायता में कुछ भी कसर न उठा रखेगी।

तिलक ने स्वदेशी और बहिष्कार आंदोलन के राजनीतिक महत्व को उजागर किया। उन्होंने लोगों से कहा कि चाहे कुछ भी त्याग करना पड़े वे स्वदेशी का उपभोग करें। वी. सी. जोशी ने लिखा है, "स्वदेशी का उद्देश्य है जिन वस्तुओं का आयात किया जाता है, घर में

उत्पादन करना तथा बहिष्कार का अर्थ है उपभोग में उन वस्तुओं को अनियमित करना निर्माण भारत में नहीं होता।"

तिलक ने स्वदेशी उद्योगों पर जोर देते हुए कहा "हमारे देश में यदि लघु उद्योग धंधे शुरू किये जायें तो अधिक अच्छा होगा। उदाहरण के लिए माचिस जैसे धंधो का निर्माण अपने अधीन किया जायें। क्योंकि इनके उत्पादन में खर्चा यातायात के साधनों व अन्य चुंगी के सहित भी कम बैठेगा। फ्रांस व जर्मनी युद्ध के पश्चात् भी जर्मनी 50 वर्षों के अन्दर ही उद्योग धन्धों के शुरू करने से औद्योगिक रूप से विकसित हो गया था। हम बहुत ही छोटी-छ चीजों जैसे पेन्सिल, पेन, होल्डर, सुई आदि पर भी दूसरों पर निर्भर हैं, क्यों नहीं सरकार तकनीकी स्कूल और प्रशिक्षण की व्यवस्था करती, ताकि हमारे नवयुवक इन वस्तुओं का निर्माण करें? पर सरकार यह नहीं चाहती कि तकनीकी शिक्षा हमें मिले। इंग्लैण्ड ऐसा करके कुछ भी खोना नहीं चाहता वह इन वस्तुओं को निर्मित नहीं करता। माचिस निर्माण हमारे यहां बड़े पैमाने पर वन सम्पत्ति और कच्चे माल के द्वारा संभव हो सकता है।"

तिलक ने इस बात पर जोर दिया कि उनकी कृति "गीता" स्वदेशी कागज पर छपे जो पद्मजी पेपर मिल बाम्बे, रिमा पेपर मिल पूना में ही छपे।

तिलक ने केसरी में लिखा "हमारा राष्ट्र एक वृक्ष की तरह है जिसका मूल तना स्वराज्य है और स्वदेशी तथा बहिष्कार उसकी शाखाएं। तिलक का विचार था कि स्वदेशी' अपना लेने से भारतीय उद्योगों के विकास को एक सुदृढ़ आधार प्राप्त होगा और उन्हें विदेशी प्रतियोगिता से बचाया- जा सकेगा।

स्वदेशी की भांति बहिष्कार का भी मूल उद्देश्य यह था कि ब्रिटिश सरकार के आर्थिक हितों पर दबाव डालकर उसे अपनी मांगें मनवाने के लिए विवश कर दिया। जब बहिष्कार आंदोलन बहुत अधिक चल रहा था विपिन चन्द पाल ने आर्थिक और राजनीतिक दोनों ही बहिष्कार की बात की। तिलक ने उनके विचारों से सहमत हो कर कहा "हम सैन्यकृत नहीं हैं और न ही हमें इसकी जरूरत है, हमारे पास एक मजबूत हथियार है और वह है राजनीतिक बहिष्कार। इसे अपनाते हुए हम किसी लगान को इकट्ठा करने व शांति बनाये रखने में सहायता नहीं देंगे। हम उनको भारत में या इसके बाहर भारतीय खून या धन से कोई सहायता नहीं देंगे हम उनको प्रशासन में भी सहायता नहीं करेंगे। हमारी अपनी अदालतें होंगी और जब समय आयेगा हम कोई कर भी नहीं देंगे"।

लेकिन स्वदेशी या बहिष्कार आंदोलन विदेशी विचारों या विदेशी कलाओं को सीखने में अवरोध नहीं बने। वे राष्ट्रीय व्यवस्था में एकीभूत हुए है! राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में हो गये तथा राष्ट्रीय जीवन में संयुक्त हुए हैं।

इस प्रकार तिलक का राष्ट्रवाद यथार्थ के धरातल पर सांस्कृतिक परिवेश के अनुकूल था, वे अपने राष्ट्रवाद में पश्चिमी राष्ट्रवाद की तरह मात्र राजनैतिक पक्ष को शामिल नहीं करते थे, बल्कि उसके सभी पहलुओं को उसमें शामिल मानते थे। उसमें सांस्कृति एवं राजनीतिक रूप के समान ही आर्थिक राष्ट्रवाद भी शामिल था।

बोध प्रश्न - 4

प्रश्न: राष्ट्रवाद के प्रवर्तन के तिलक ने शिवाजी एवं गणपति उत्सवों से क्यों प्रधानता दी?

उत्तर : .....

.....

9.9 सारांश

तिलक उग्रवादी विचारों के आधार पर शिरोल ने उन्हें अशांति का जनक कहा है, उसके अनुसार तिलक ने हत्याओं को जन्म देने वाले वातावरण का निर्माण किया है मगर तिलक ने हिंसा और क्रांति को कभी प्रोत्साहन नहीं दिया। यह सही है, कि अहिंसा तिलक के जीवन की नीति या मूल्य कभी नहीं रही लेकिन फिर भी सुविधा के रूप में इसका प्रयोग किया। तिलक स्वराज्य की पाश्चात्य धारणा पर विश्वास नहीं करते थे। स्वराज्य की धारणा को क्रियान्वित करने के लिए सार्वजनिक रूप में क्रांति को उपयुक्त नहीं माना। तिलक का युवा क्रांतिकारियों से सम्पर्क था मगर उन्होंने इन्हें सदैव संयत किया। तिलक बाकुनिन, क्रोपेटकिन या लेनिन की भांति क्रांतिकारी नहीं थे तिलक ने तो राष्ट्रीय शिक्षा, स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार, विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार, निष्क्रिय प्रतिरोध एवं सांविधानिक आन्दोलनों द्वारा स्वराज्य प्राप्ति का मार्ग दिखाया। जनता को अधिकारों के लिए संघर्ष करने का उत्साह पैदा किया।

1919 में मोन्टफोर्ड सुधारों के सम्बन्ध में तिलक ने जो सूझ- बूझ का परिचय दिया और कहा "नौकरशाही द्वारा भारत को जो कुछ दिया जा रहा है उसे स्वीकार कर, अधिकार के लिए अपना आन्दोलन जारी रखना चाहिए।" 20 अप्रैल 1920 को कांग्रेस डेमोक्रेटिव पार्टी को घोषणापत्र पर तिलक ने हस्ताक्षर किये। यह घोषणा पत्र तिलक की उत्तरवर्ती राजनीतिक विचारधारा का वसीयतनामा कहा जा सकता है। ईन सब बिन्दुओं के आधार पर तिलक पर लगाये गये आरोप निराधार ठहराये जा सकते हैं। उनका सार्वजनिक जीवन निष्कलंक था। वे अशांति के जनक नहीं थे क्योंकि वे एक ऐसे देशभक्त थे जिनका हृदय भारतीयों की दुर्दशा देखकर रोता था और यह कहते नहीं अघाते थे कि स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूंगा। उनका विचार था कि भारत जैसे पूर्णत: निःशस्त्रीकृत और विघटित समाज में सशस्त्र क्रान्ति राष्ट्रीय इतिहास को गति प्रदान नहीं कर सकती। तिलक ने निरन्तर यही तर्क दिया कि मैं राष्ट्रवादी हूँ और अपने देश से प्रेम करता हूँ। किन्तु मैं ऐसी योजना से परिचित नहीं हूँ जिसका उद्देश्य वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था को हिंसात्मक तरीके से उलट देना हो। इस प्रकार तिलक अशांति के जनक नहीं थे। उन्होंने तो भारतीय जनता को स्वतंत्रता प्राप्ति हेतु जागत किया।

9.10 अभ्यास प्रश्न

1. राजनीतिक चिंतन में तिलक के योगदान का वर्णन कीजिये।
2. राष्ट्रीय शिक्षा एवं सामाजिक विचारों पर लेख लिखिये।
3. तिलक के राष्ट्रवाद, स्वदेशी, स्वराज्य एवं बहिष्कार से सम्बन्धित विचारों की व्याख्या कीजिये।

9.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. कसमैन, आर.आई - लोकमान्य तिलक एण्ड मॅस पॉलिटिक्स इन महाराष्ट्रा, बर्कले यूनिवर्सिटी प्रेस, बर्कले 1975।
2. वर्मा, वी.पी. - लाइफ एण्ड फिलोसोफी ऑफ लोकमान्य तिलक, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, नई दिल्ली 1978
3. इनामदार, एन.आर. - पोलिटिक : नई दिल्ली, लीडर्शिप ऑफ लोकमान्य तिलक, कॉन्सेप्ट : नई दिल्ली, 1983।
4. पेंथम, थामस एण्ड डायच, केनेथ एल. : पोलिटिकल थॉट इन मॉडर्न इण्डिया, सेज : नई दिल्ली 1986

इकाई-10

विवेकानन्द

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 स्वामी विवेकानन्द जीवन परिचय

10.3 धर्म सम्बन्धी विचार

10.3.1 विवेकानन्द एवं हिन्दू धर्म

10.3.2 साम्प्रदायिकता का विरोध

10.3.3 सार्वभौमिक धर्म

10.3.4 धर्म का मानवतावादी स्वरूप

10.4 राष्ट्रवाद व राजनीति की अवधारणा

10.4.1 शक्ति व निर्भयता का सिद्धांत

10.4.2 अन्तर्राष्ट्रीयतावाद

10.5 सामाजिक चिन्तन

10.6 शिक्षा सम्बन्धी विचार

10.7 समग्र दृष्टि

10.8 सारांश

10.9 अभ्यास प्रश्न

10.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

10.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढने के उपरान्त आप जान पायेंगे-

- धर्म व भारतीय राष्ट्रवाद के अन्तर्सम्बन्धों की विवेचना
- स्वामी विवेकानन्द द्वारा भारतीय समाज के पुनरूत्थान के लिए किए गये प्रयासों की व्याख्या
- भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में स्वामी विवेकानन्द की भूमिका, एवं
- विवेकानन्द के राजनीतिक चिन्तन का समग्र विश्लेषण।

10.1 प्रस्तावना

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन का उद्गम समाज व धर्म सुधार आन्दोलन से हुआ है। विदेशी शासन व पश्चिमी चिन्तन धाराओं ने भारतीय चिन्तन व संस्कृति की उपादेयता के सम्बन्ध में जो चुनौती प्रस्तुत की उसकी एक विशेष प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन का उद्देश्य राज्य, सरकार, सम्प्रभुता आदि मौलिक धारणाएं देना नहीं था वरन् जातीय, साम्प्रदायिक, सामाजिक, आर्थिक शोषण और अज्ञानता के चंगुल से भारत

को राजनीतिक दृष्टि से प्रबुद्ध बनाना था। आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का विचार, आधुनिक भारतीय विचारकों की अनुपम देन था।

वर्तमान में धर्म और राष्ट्रवाद के अन्तर्सम्बन्धों को संदेह की दृष्टि से देखा जाता है जबकि भारतीय संदर्भ में धर्म जीवन का मूल आधार है। प्राचीन काल से भारत में धर्म को मानवतावादी सार्वभौमिक रूप में प्रकट किया गया। भारतीय राष्ट्रवादियों पर वेंदात हिन्दू धर्म का स्पष्ट प्रभाव था। स्वामी विवेकानन्द ने अपने चिंतन में कई पूर्वकालीन अवधारणाओं को समकालीन संदर्भ में परिभाषित किया और एक नई सामाजिक राजनीतिक समझ को जन्म दिया। मूलत: आध्यात्मिक विचारक होने के कारण स्वामी विवेकानन्द के राजनीतिक चिन्तन आधार धर्म रहा। इसी आधार पर स्वामी विवेकानन्द ने राष्ट्र की स्वतन्त्रता एवं आत्मसम्मान महत्व देते हुए राष्ट्र के आध्यात्मिक पहलू को स्थापित किया जो उन्हें पश्चिमी राष्ट्रवादी चिंतन अलग कर देता है क्योंकि पश्चिम में राष्ट्रवाद का विकास, महत्वपूर्ण सांस्कृतिक तत्व धर्म से होकर हुआ हैं। स्वामी विवेकानन्द से पूर्व विभिन्न कालों में धर्म के स्वरूप व व्यवस्था में रूढियां गई थीं, जिससे न केवल व्यक्ति की स्थिति बदतर हुई वरन् समाज व राष्ट्र भी लम्बे समय तक अज्ञान रूपी अंधकार में रहें, ऐसी स्थिति में विवेकानन्द ने धर्म के व्यवहारिक रूप को पहचानने की पर बल दिया। धर्म में व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों पहलुओं को महत्व दिया और कर्मकाण्ड से अलग राजनीतिक एवं सामाजिक चिंतन में उसकी विशेष भूमिका पर बल दिया। वेंदात के आधार पर स्वामी विवेकानंद ने समानता, कर्त्तव्य, अधिकार एवं न्याय इत्यादि राजनीतिक अवधारणाओं की व्याख्या की। स्वामी विवेकान्द ने धर्म के माध्यम से राष्ट्र को पुन: जागृत करने का प्रयास किया, इस हेतु राष्ट्रवाद के निर्भीक, संगठित एवं स्वावलम्बी मूल्यों को स्थापित किया। स्वामी ने धर्म को व्यक्ति के विकास का माध्यम न मानकर उसके सामाजिक स्वरूप को महत्व दिया। सामाजिक विषमता, रूढ़िवादिता, संकीर्ण कट्टरता, असहिष्णु साम्प्रदायिकता, जातीयता निर्बलता एवं को समाप्त कर सशक्त भारत का आदर्श दिया जिसमें सबको समान अधिकार के साथ-साथ समान अवसर देने वाली व्यवस्था हो। सार्वभौमिक धर्म की स्थापना को महत्व देते हुए उसे मानव के कष्टों व संघर्षों से मुक्ति दिलाने में सहायक के रूप में प्रतिपादित किया।

इस इकाई के अनुभाग 10.2 में आप स्वामी विवेकानन्द के जीवन वृत की जानकारी लेगें। इसमें विवेकानन्द के चिन्तन के विकास में सहायक तत्वों का विवेचन गया है। 10.3 में स्वामी विवेकानन्द द्वारा दी गई धर्म की अवधारणा का अध्ययन करेंगें। इस के माध्यम से आप जान पाऐंगे कि उनकी धर्म की अवधारणा साम्प्रदायिक व पंथ आधारित न होकर, मानवतावादी है। इकाई के 10.4 में राष्ट्रवाद से सम्बन्धित विचारों का विवेचन किया गया है जो धर्म से अनुप्राणित है। स्वामी विवेकानन्द के सामाजिक चिन्तन का विवेचन 10.5 में दिया है। इसमें आप स्वामी विवेकानन्द द्वारा बताये सामाजिक पतन के मूल कारणों के साथ-साथ सामाजिक उत्थान के सम्बन्ध में उनके विचारों को जान पाएगें। स्वामी जी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों का विवेचन 10.6 में दिया गया है, जिसमें ज्ञान को अन्तर्निहित मानते हुए शिक्षा की आवश्यकता के को प्रतिपादित किया गया है।

10.2 स्वामी विवेकानन्द : जीवन परिचय

स्वामी विवेकानन्द का जन्म 12 जनवरी 1863 को कलकत्ता के एक कुलीन परिवार में हुआ था। उनका वास्तविक नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था, विवेकानन्द नाम उन्होनें सन्यास ग्रहण करने के उपरान्त शिकागो (अमेरिका) में धर्म संसद में भाग लेने हेतु बम्बई जाते समय ग्रहण किया था। उनका व्यक्तित्व प्रभावोत्पादक, मुखमंडल तेजोमय था। उनकी बुद्धि प्रखर थी और स्मृति विलक्षण। उनके सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि उन्हें 'एनसाईक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' के ग्यारह खंड कंठस्थ थे। स्वामी विवेकानन्द अपने महाविद्यालयी जीवन में एक अच्छे वक्ता के रूप में जाने जाते थे। उनके पिता कलकत्ता उच्च न्यायालय में वकालत करते थे। उनकी माता हिन्दू धर्म की महत्ता में विश्वास रखने वाली विदुषी महिला थी। माता के सद्गुणों का उन पर विशेष प्रभाव पडा। उन्होने "जे.एस. मिल, हीगल, डेविड ह्यूम, कांट व फिक्टे, स्पिनोजा, शोपेन हॉवर आदि-पश्चिमी दार्शनिकों की रचनाओं का विशद् व गहन अध्ययन किया।" स्वामी विवेकानन्द ब्रह्म समाज के विचारों से प्रभावित थे। लेकिन वैचारिक अन्तर्द्वन्द्व के चलते वे नास्तिकतावाद व सशंयवाद की ओर भी प्रवृत हुए अपने मित्र बृजेन्द्रनाथ सील की प्रेरणा से उन्होनें शेले व वड्सवर्थ को पढा और साथ में परम ब्रह्म के तत्वज्ञान की ओर प्रवृत हुए "स्वामी विवेकानन्द के विचारों में बुद्धिवाद, वेदान्त के अद्वैतवाद, हीगल के द्वन्द्वात्मक परमतत्व तथा फ्रांस की राज्य क्रांति के ध्येय वाक्य' स्वतंत्रता, समानता एवं भ्रातृत्व' का स्वरूप दिखाई देता है। उन्होनें व्यक्तिवाद के स्थान पर सार्वभौमिक विवेक को श्रेष्ठ माना।"

वे सत्यज्ञान की खोज में नवम्बर 1881 में रामकृष्ण परमहंस के सम्पर्क में आए। 1886 में रामकृष्ण परमहंस की मृत्यु के समय विवेकानन्द उनके प्रमुख शिष्य थे। उन्होनें गृहस्थाश्रम का त्याग कर दिया ओर हिमालय के जंगलों में साधना करने लगे। "6 वर्ष तक अत्यधिक कठोर संयम में रहे। परिव्राजक के रूप में उन्होनें भारत में भ्रमण किया। जिससे उन्हें साधारण जनता के भयंकर कष्टों और उसकी तकलीफों का पता चला।" (देखें अवस्थी, पृ. 74)

स्वामी जी ने 1893 में विश्व धर्म संसद के शिकागो सम्मेलन में भाग लेने का निर्णय लिया। खेतड़ी (राजस्थान) के तत्कालीन ठाकुर साहब ने शिकागो सम्मेलन में सम्मिलित होने का व्यय वहन किया। यह सम्मेलन स्वामी विवेशानन्द के जीवन में एक स्वर्णिम अध्याय बन गया। भारतीय वेदान्त की आधुनिक अर्थो में व्याख्या कर स्वामी विवेकानन्द ने दिव्य संदेश दिया। उनका भाषण भारत की सार्वदेशिकता और विशाल हृदयता से ओतप्रोत था। वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने पश्चिम की भौतिकवादी जनता के सम्मुख भारत के आध्यात्मवाद का महान् आदर्श उपस्थित कर अपने देश के वास्तविक स्वरूप का चित्र पश्चिम के सामने रखकर उन्हें चकित कर दिया। 1895 में भारत लौटने पर उन्होंने हिन्दू जाति की अन्तरात्मा को जगाने का प्रयत्न किया और अन्धविश्वासों व कुप्रथाओं को दूर करने के लिये कार्य प्रारम्भ किया। 1897 में कलकत्ता के पास बैलूर में उन्होंने विख्यात रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। एक वर्ष पश्चात उन्होनें सान फ्रांसिको, पेरिस व मिस्त्र की यात्राऐं की। संस्कृत व वेदान्त के अध्ययन के लिए उन्होने बनारस में एक पाठशाला स्थापित की। अत्यधिक कार्यभार के कारण स्वामी

विवेकानन्द का स्वास्थ्य निरन्तर गिरने लगा, लेकिन इसकी परवाह किये बिना वे अपने कार्य में लगे रहे। अन्तत: मात्र 39 वर्ष की अल्पायु में 4 जुलाई 1902 को उनका देहावसान हो गया। भारतीय चिंतन में कर्मयोग का उनका संदेश आज भी प्रेरक शक्ति है।

10.3 धर्म सम्बन्धी विचार

धर्म एक शाश्वत अवधारणा के रूप में मानव इतिहास में अवस्थित रहा है। यह केवल दर्शन अथवा ईश्वरीय साधना का विषय मात्र ही नहीं वरन् जीवन के समस्त पहलुओं से सम्बन्धित रहा है। भारत में धर्म एक विशिष्ट उपासना पद्वति तक ही सीमित नहीं रहा वरन् उपासना पद्वति उसका एक अंग मात्र है। धर्म शब्द की उत्पत्ति 'धृ' धातु से हुई है जिसका अर्थ धारयति इति धर्म:' अर्थात धारण किया जाए या जिसे आचरण में धारण कर सकें। धर्म के रूप में विधान, नैतिक सदाचार, सत्कर्म, कर्तव्य, न्याय पवित्रता, नीति आदि को परिभाषित किया गया।

स्वामी विवेकानंद के धार्मिक विचारों के निर्माण का प्रमुख वेद व वेदान्त दर्शन रामकृष्ण परमहंस का प्रभाव व स्वयं के निजी अनुभव था। उन्होंने के दर्शन को व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया। उनका मानना था कि वेदांत उस ईश्वर मे नहीं करता जो मृत्यु के पश्चात तो स्वर्ग में समस्त सुख दे सके, किन्तु जीवित व्यक्ति को रोटी ही उपलब्ध नहीं करा सके।

उनका मानना था कि मानव की वास्तविक प्रकृति ईश्वरीय है और वेदांत, संसार त्यागने के उपदेश के स्थान पर समस्त विश्व को ब्रह्ममय बनाने का पाठ सिखाते हैं। उन्होने अपने समय के अन्य विचारको से अलग ईश्वर के निगुर्ण व सगुण दोनो रूपों को स्वीकार किया।

'ईशावस्यतिदम सर्वम' की धारणा से उनके विचारों में अद्वैत, एवं विशिष्टाद्वैत तीनों का अदभूत मिश्रण दिखाई देता है। स्वामी विवेकानंद ने कहा कि वेदों ने शुद् प्रेम की शिक्षा दी है। इसी आधार पर शिकागो धर्म संसद को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा - हे अमृत के पुत्रगण! बंधुओ, इसी मधुर नाम से मुझे तुम्हें पुकारने दो। हे अमृत के अधिकारिगण। सचमुच हिन्दू तुम्हें 'पापी कहना अस्वीकारता है, तुम तो ईश्वर की संतान हो, अमर आनंद के हो, पवित्र और पूर्ण आत्मा हो। तुम इस भूमि पर देवता हो। तुम भला पापी? मनुष्य को पापी कहना ही पाप है, वह मानव स्वभाव पर घोर लांछन है।।

उठो! ए सिंहो! तुम तो जरामरण रहित नित्यानंदमय आत्मा हो। तुम जड़ पदार्थ नहीं हो, तुम शरीर नहीं हो। जड़ पदार्थ तो तुम्हारा गुलाम है, तुम उसके नहीं हो। अत: वेद ऐसी घोषणा नहीं करते कि यह सृष्टि व्यापार कतिपय भयावह, निर्दय अथवा विधानों का प्रवाह है और न ही यह कि वह कार्य कारण का अच्छेघ बंधन है। वेद घोषित हैं कि इन सब प्राकृतिक नियमों के मूल में प्रत्येक अणु - परमाणु में शक्ति के प्रत्येक स्पन्दन में ओतप्रोत वही एक पुराण पुरूष विराजमान है, जिसके आदेश से वायु चलती है, अग्नि दहकती है, 'बादल बरसते हैं और मृत्यु पृथ्वी पर इतस्तत', नाचती है।

पूर्व व पश्चिम के दर्शनशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन करके वे यह मानते थे कि पश्चिम की तुलना में भारतीयों का साहित्य, ज्ञान विज्ञान इतिहास, संस्कृति और धर्म का पक्ष कहीं अधिक सहिष्णु और समृद है। परन्तु वे हर संस्कृति की अच्छाइयों को आदर की दृष्टि से देखते थे और उनसे सीखने में कोई संकोच नहीं करते थे।

विवेकानंद ने वेदांत को प्रतिदिन के जीवन की पारिवारिक और सामाजिक सफलता की कुंजी बताया, उन्होंने वेदांत की व्याख्या व्यक्ति के उत्थान, समाज के निर्माण तथ राष्ट्र के समन्वय के शस्त्र के रूप में की।

विवेकानंद के चिंतन में सार्वदेशिकता व्याप्त थी, वेदान्त के आहार पर वे एक ऐसा दर्शन विकसित करना चाहते थे, जो समस्त संघर्षों को दूर करके मानव जाति बहुमुखी सम्पूर्णता के उस स्तर पर उठा सके जो उसका प्राप्य है। विवेकानन्द की धर्म की परिभाषा अनुसार, धर्म वह नैतिक बल है जो व्यक्ति और राष्ट्र को शक्ति प्रदान करता है। उनका मानना था कि भविष्य में धर्म ही भारत का मेरूदण्ड बनेगा।

10.3.1 विवेकानन्द और हिन्दू धर्म

प्राचीन काल में 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग किसी धर्म के रूप में नहीं, विशेष लोगों के संदर्भ में हुआ है। एक विशेष धर्म के रूप में हिन्दू शब्द का प्रयोग तो बहुत बाद में आरम्भ हुआ। हिन्दू धर्म में मौजूद विभिन्न मत-मतान्तर इसे दुरूह पंथो, कर्मकांडों, अंधविश्वासों, परम्परागत मतों व आदिम कर्मकांडों का पुंज मानते थे, इसीलिए यूरोपीय इसकी आलोचना करते थे।

स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म की व्याख्या किसी संकुचित अर्थ, उपासना, पद्धति या विशेष कर्मकांड के आधार पर नहीं की। उनका कहना था- "हम लोग हिन्दू हैं। मैं हिन्दू शब्द का प्रयोग किसी बुरे अर्थ में नहीं कर रहा और मैं उन लोगों से कदापि सहमत नहीं, जो उससे कोई बुरा अर्थ समझते हैं। प्राचीन काल में इस शब्द का अर्थ था - सिन्दु नदी के दूसरी ओर बसने वाले।"

स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म को महत्व दिया। उन्होनें 'धर्म' व 'हिन्दू', इन दो शब्दों को समानार्थक माना उनका मानना था कि यदि कोई हिन्दू धार्मिक नहीं है तो वे उसे हिन्दू ही नहीं मानते। उनका कहना था कि प्रत्येक धर्म में ईश्वर को माना जाता है लेकिन धर्म से जुड़ा व्यक्ति स्वयं के धर्म को ही श्रेष्ठ समझता है ठीक वैसे ही जैसे एक कुंए का मेंढक अपने कुंए को ही सम्पूर्ण संसार समझता है। जबकि हिन्दू धर्म में माना जाता है कि जैसे विभिन्न नदियाँ भिन्न-भिन्न स्रोतों से निकल कर समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार विभिन्न टेढ़े मेढ़े अथवा सीधे रास्ते से जाने वाले लोग अन्त में ईश्वर में ही आकर मिल जाते हैं।

विवेकानन्द ने विश्व धर्म संसद में कहा था, कि ऐतिहासिक युग के पूर्व के केवल तीन धर्म ही आज संसार में विधमान है - हिन्दू धर्म, पारसी व यहूदी धर्म। ये तीनों धर्म अनेकानेक प्रचंड आघातों के पश्चात भी लुप्त न होकर आज भी जीवित हैं। यह उनकी शक्ति का प्रमाण है। उनका मानना था कि जहाँ यहूदी धर्म, ईसाई धर्म को आत्मसात नहीं कर इसका अपने

जन्म स्थान से निर्वासित कर दिया गया, वहाँ भारत में एक के बाद एक अनेक धर्मग्रंथों का उद्भव हुआ और वे पंच वेद प्रतीत धर्म की जड़ को हिलाएं प्रतीत हुए परन्तु अन्ततः जब सारा कोलाहल शांत हुआ तो सारे धर्म सम्प्रदाय अपनी जन्मदात्री मूल हिन्दू धर्म की विराट काया द्वारा आत्मसात कर लिए गए। आधुनिक विज्ञान के नवीनतम आविष्कार जिसकी केवल प्रतिध्वनि मात्र है, ऐसे वेदान्त के अति उच्च आध्यात्मिक भाव से लेकर मूर्तिपूजा एवं अनेकानेक पौराणिक दन्त कथाओं और इतना ही नहीं बल्कि बौद्धों के अज्ञेयवाद तथा जैनों के निरीश्वरवाद तक, प्रत्येक के लिए हिन्दू धर्म में स्थान है।

उन्होंने हिन्दू धर्म को केवल विभिन्न मत मतान्तरों पर विश्वास करने का प्रयत्न भर नहीं माना वरन् इसे प्रत्यक्ष अनुभूति अथवा साक्षात्कार पर आधारित माना। उन्होंने हिन्दू धर्म का मूल मन्त्र माना, "मैं आत्मा हूँ, यह विश्वास होना और तदनुरूप बन जाना। ईश्वर सानिध्य को प्राप्त करके उनके दर्शन करना, उन सर्वलोक पिता ईश्वर के समान पूर्ण होना, असल में हिन्दू धर्म है।

10.3.2 साम्प्रदायिकता का विरोध

उन्होनें धर्म के आधार पर साम्प्रदायिकता का विरोध किया। भारत में पर्याप्त पंथ व सम्प्रदाय हैं क्योंकि भारतीय धर्म की यह विशेषता है कि उसमें उदारता है, लेकिन इन सम्प्रदायों के मध्य विवाद स्वाभाविक नहीं है, यह दूर होना चाहिए। उनका मानना था कि - सम्प्रदाय अवश्य रहे लेकिन साम्प्रदायिकता दूर हो जाए, क्योंकि साम्प्रदायिकता से संसार की कोई उन्नति नहीं होगी, पर सम्प्रदायों के नहीं रहने से संसार का काम नहीं चल सकता। भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक शक्ति समूहों के परिचालन हेतु सम्प्रदाय होना आवश्यक है लेकिन इनमें भेद केवल ऊपरी है।

10.3.3 सार्वभौमिक धर्म

स्वामी विवेकानन्द ने धर्म का व्यापकतम स्वरूप, सार्वभौमिक धर्म के रूप में प्रतिपादित किया। उनका मानना था कि विभिन्न दर्शन पद्धतियों में कोई विरोध नहीं है। प्रत्येक धर्म में तीन भाग होते हैं - पहला दार्शनिक जिसमें इस धर्म का मूल तत्व, उद्देश्य और उनकी प्राप्ति के उपाय निहित हैं। दूसरा पौराणिक- इसमें उदाहरणों से प्रथम भाग को स्पष्ट किया है। तीसरा भाग - अनुष्ठानिक- जो कर्म कांड और पूजा पद्धतियां पर बल देता है। प्रत्येक धर्म में किसी एक भाग पर बल दिया जाता है। सार्वभौमिक धर्म किसी एक दार्शनिक तत्व, कोई सार्वभौमिक, पौराणिक तत्व या अनुष्ठान पद्धति को स्वीकार नहीं करता है क्योंकि विषमताऐं स्वाभाविक हैं। जैसा कि स्वामी विवेकानन्द का कहना था कि सूर्य के विभिन्न कोणों और स्थान से चित्र लेने पर वे भिन्न सूर्यों के समान लगेगें, ऐसा ही ईश्वर के सम्बन्ध में है। मनुष्य चाहे जितने प्रकार के सत्य प्राप्त करले, प्रत्येक सत्य ईश्वर दर्शन के अतिरिक्त कुछ नहीं है, जैसे विभिन्न पात्रों में जल डाला जाता है तो वह वही आकर ग्रहण कर लेता है जो बरतन का है परन्तु जल वही होता है। धर्म के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है।

10.3.4 धर्म का मानवतावादी स्वरूप

भारत में धर्म का जब भी चिन्तन किया गया मानव मात्र के उपयोगी आत्मा के मुक्त स्वभाव को जागृत करने वाले धर्म के रूप में किया गया। बुद्ध, शंकराचार्य, श्री रामकृष्ण परमहंस, दयानन्द सरस्वती, व विवेकानन्द ने पंथ, मत-मतान्तरों, या जातियों के संकीर्ण दायरों में न तो चिन्तन किया न शिक्षा दी। इन्होनें मानव को मानव के रूप में देखा और उसमें निहित अनन्त दिव्य सम्भावनाओं को समझा। उसकी क्षुद्रता व अपूर्णता के करूणा का अनुभव किया। वैदान्तिक धर्म में माना गया कि एक सच्चा धार्मिक व्यक्ति अपना, बेसहारा, अविकसित और निराश्रित लोगों की सेवा में व्यतीत करेगा। भारतीय धर्म में वैराग्य पर है लेकिन वह निषेधात्मक नहीं है। यह व्यक्ति में वह दृष्टि विकसित करता है, जिससे मानव सांसरिक कार्यो में रचनात्मक ढंग से भाग ले सके।

श्री रामकृष्ण परमहंस ने विवेकानन्द को मानव मात्र की सेवा में उद्यत होना ही ईश्वर प्राप्त करने के सर्वोत्तम साधन के रूप में बताया था। उनका मानना था कि ही सेवा सत्य है और हर प्रकार के धर्म का एक मात्र सार है। समस्त विवाद व मतमतान्तर इसलिये हैं क्योंकि व्यक्ति सम्पूर्ण व्यक्ति में धार्मिक होने के स्थान पर बाहरी अनुष्ठानों व कर्मकांडों पर जोर देता है। स्वामी विवेकानन्द किसी ऐसे धर्म को स्वीकार नहीं करते थे जो मानवता में विश्वास नही करता। उनका मानना था कि ईश्वर में विश्वास करने वाला कोई भी व्यक्ति मानवता के प्रति किए गये अपराधों से सहमत नहीं हो सकता।

भारत में यद्यपि शताब्दियों से धर्म का आस्तित्व है लेकिन कठोर व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था, छुआछूत, विधवाओं के प्रति अत्याचार और इसी तरह के अन्य अपराधों को धर्म का नाम दिया जा रहा था। इसलिए स्वामी विवेकानन्द ने कहा कि जो धर्म विधवाओं के आंसू पौंछने और अनाथ के मुँह में रोटी का टुकड़ा डालने में विश्वास नहीं करता, धर्म नहीं है। उनका कहना था- "कि मुझे उस ईश्वर में विश्वास नहीं है जो मुझे यहाँ रोटी न दे सके लेकिन स्वर्ग में आनन्द देता है। मुझे यदि भारत को उठाना है, तो गरीबों को भोजन देना है, शिक्षा का प्रसार करना है और पोप लीला का अन्त करना है।" उन्होनें धर्म के उस पुराणपंथी स्वरूप को किया जो दलितों और हरिजनों के नाम पर मानव पर अत्याचार करता है। इस रूप में स्वामी, महात्मा गांधी व अम्बेडकर के अग्रज थे। उन्होनें हिन्दू मुसलमान अथवा ईसाई के रूप मानव को बांटने के स्थान पर दलितों को दरिद्रनारायण' के रूप में देखा और उनकी सेवा को प्रत्येक भारतीय का प्रथम कर्तव्य माना। उनकी सेवा को मानवता की सच्ची सेवा कहा। स्वामी के अनुसार, "मैं न तत्व शास्त्री हूं न दार्शनिक और न ही संत। मैं दरिद्र हूं। मुझे दरिद्रों से प्रेम है। इन्हीं लोगों को देवता समझो। मैं उसी व्यक्ति को महात्मा कहता हूँ जिसका हृदय, दरिद्रों के द्रवित होता है। जब तक करोड़ों लोग भुखमरी और अज्ञान के शिकार हैं, तब तक मैं उस प्रत्येक व्यक्ति को विश्वासघाती समझता हूं जो धन से शिक्षा प्राप्त कर उनकी और तनिक ध्यान नहीं देता।" इस तरह स्वामी विवेकानन्द ने धर्म की अवधारणा में वैदान्तिक स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए, हिन्दू धर्म की उदार व्याख्या की, सर्वधर्म समन्वय को स्वीकार कर धर्म के आध्यात्मिक स्वरूप को व्यावहारिक स्तर पर लाकर उसके सार्वभौम स्वरूप की संकल्पना प्रस्तुत की। धर्म के

मानवतावादी स्वरूप को स्थापित करते हुए उन्होंने अन्याय, भय और बुराई को दूर कर, आध्यात्मिक जागृति लाने का आहवान किया, जो आगे चलकर राजनीतिक जागरण का कारण बना। नेताजी सुभाष चन्द बोस ने उनके बारे में कहा था कि - 'जहां तक बंगाल का प्रश्न है स्वामी विवेकानन्द, आधुनिक राष्ट्रीय आन्दोलन के आध्यात्मिक पिता कहे जा सकते हैं।"

बोध प्रश्न - 1

प्रश्न 1: स्वामी विवेकानन्द के अनुसार धर्म कि परिभाषा क्या है?

उत्तर : .....

.....

.....

प्रश्न 2: स्वामी विवेकानन्द ने दलितों व गरीबों को किस नाम से पुकारा?

उत्तर: .....

.....

.....

10.4 राष्ट्रवाद व राजनीति की अवधारणा

इस इकाई में अब तक आप स्वामी विवेकानन्द के धर्म सम्बन्धी विचारों की जानकारी ले चुके हैं। भारत में राष्ट्रवाद की अभिव्यक्ति दर्शन, धर्म और संस्कृति के क्षेत्र से होती हुई राजनीतिक क्षेत्र में आयी है। स्वामी जी के पूर्ववर्ती विचारकों ने वेदों उपनिषदों, गीता व पुराणों आदि के अनुरूप स्वयं को ढालते हुए भौतिकता और साम्राज्यवाद पर आधारित विदेशी सत्ता के विरूद्ध राष्ट्र का आहवान किया। भारतीय संन्यासियों ने अन्य धर्मो के संतों की तरह केवल धर्मोपदेश देने अथवा पूजा अर्चना करने का कार्य ही नहीं किया वरन् समाज सुधार, राजनीतिक जागृति लाने व स्वतंत्रता सम्बन्धी विचारों से जनता को उन्नत बनाने का महत्वपूर्ण कार्य भी किया।

भारतीय चिन्तन धारा में पश्चिम के विपरीत राष्ट्रवाद की उत्पत्ति और विकास, धर्म व चिन्तन के माध्यम से हुई है। स्वामी विवेकानन्द के राजनीतिक विचार उनके धार्मिक व सामाजिक विचारों के सहगामी हैं। भारतीय संस्कृति का मूल तत्व धर्म है जो व्यक्ति व राष्ट्र को शक्ति प्रदान करता है। स्वामी विवेकानन्द के बारे में माना जाता रहा कि वे मात्र वेदांती, संन्यासी और धर्म उपदेशक थे। राजनीति, राजनीतिक चिन्तन और राष्ट्रीय आन्दोलन से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। पश्चिम के धर्मोदेश के विपरीत भारतीय उपदेशक, धर्म के माध्यम से समाज सुधार और राष्ट्र की जागृति को महत्व देते थे, जैसे दयानंद सरस्वती। धर्म, समाज, अर्थ और राज्य सभी का मूल आधार व्यक्ति को माना गया। इसलिए उसे धार्मिक व्यक्ति और राजनीतिक व्यक्ति में नहीं बांटा जा सकता। यह माना गया कि धर्म व समाज का प्रभाव राजनीतिक क्रिया कलापों और राज्य पर निश्चित रूप से पड़ता है, इसलिए भारत में धर्म को समाज का मेरूदण्ड माना गया। स्वामी विवेकानन्द का मनाना था कि भारत का प्राण धर्म है, राष्ट्रीय जागृति भी धर्म द्वारा ही आएगी।

धर्म को महत्व देने के कारण उन्होनें राष्ट्रवाद का आध्यात्मिकरण कर दिया। उनके अनुसार धर्म ही व्यक्ति व राष्ट्र को शक्ति प्रदान करता है। राजनीतिक दासता से मुक्ति के लिए दृढ़ चरित्र और आत्म विश्वास को अत्यधिक महत्व देने वाले विवेकानन्द ने दासता से मुक्ति के लिए आह्वान किया कि, इसका हम तभी सामना कर सकते हैं, तभी शक्तिशाली बन सकते हैं जब अद्वैत के आदर्श का साक्षात्कार करलें, जब एकता के आदर्श की अनुभूति कर ले। अपने में विश्वास, विश्वास और विश्वास। अपने में विश्वास रखो, और उस विश्वास पर दृढता पूर्वक खड़े रहो। क्या कारण है कि हम तैंतीस करोड़ लोगों पर पिछले एक हजार वर्ष से मुट्ठी पर विदेशी शासन करते आए हैं? इसलिये कि, उन्हें अपने पर विश्वास था और हमें नहीं।

स्वामी विवेकानन्द ने भारत के कल्याण को स्वयं का कल्याण माना। उनके चिन्तन में राष्ट्र का उत्थान व्यक्ति का उत्थान था, क्योंकि राष्ट्र व्यक्तियों से मिलकर बना है। उनका मानना था कि, राष्ट्र के रूप में भारत अपना व्यतित्व खो बैठा है और यही सब दुष्कर्मो की जड है। भारत देश को उसका खोया हुआ व्यक्तित्व वापस देने से ही जनता का उत्थान करना संभव है। उत्थान की शक्ति व्यक्ति के भीतर से आनी चाहिए। उन्होनें महसूस किया कि जनता का उत्थान किए बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं की जा सकती। तत्कालीन समय में राजनीतिक संगठन राजनीतिक जागृति लाने का कार्य तो कर रहे थे परन्तु उनका उतना जोर सामाजिक उत्थान पर नहीं था। स्वामी विवेकानन्द का मानना था कि जब तक पद दलित, दीन व दरिद्र का ऊत्थान नहीं होगा तब तक महान् भारत माता का कभी उद्धार नहीं हो सकता। केवल कुछ प्रस्ताव करने जैसी राजनीतिक गतिविधियों पर उनका विश्वास नहीं था। वे पहले भारत की जनता को जगाना चाहते थे, उनकी प्राथमिक आवश्यकता, रोटी अर्थात भोजन को पूरा करना चाहते थे, जिसके बाद साधारण जन अपना उद्धार स्वयं कर लेंगें।

स्वामी विवेकानन्द मानते थे कि भारत का उद्देश्य कभी भी राजनीतिक श्रेष्ठता या सामरिक शक्ति प्राप्त करना नहीं रहा। सहनशीलता, सहिष्णुता और त्याग की व्याख्याओं ने देश को विभिन्न आक्रांताओं के हाथों परास्त कराया। गरीब लोगों को कडे धार्मिक और सामाजिक बंधनों में जकड़ दिया, जिससे वे पद दलित हो गए। विवेकानन्द का मानना था कि जैसे-जैसे वैंदातिक धर्म का प्रसार प्रारम्भ होने लगा है समाज में जागृति आने लगी है, यह इतनी तेजी से फैलेगी की इसे दबाना आसान नहीं होगा। वे दयानन्द सरस्वती की तरह प्राचीन भारतीय गौरव को स्थापित करते हुए मानते हैं कि हमारी मातृभूमि अपनी गम्भीर निद्रा से जाग रही है। अब कोई इसकी उन्नति को नहीं रोक सकता, कोई बाहरी शक्ति इसे दबा नहीं सकती।

स्वामी विवेकानन्द के चिन्तन में राजनीतिक दार्शनिकता नहीं थी और उन्होनें किसी राजनीतिक क्रिया कलापों में कभी भाग नहीं लिया। विभिन्न अवसरों पर उन्होंने यह स्पष्ट भी किया कि' "मैं न राजनीतिज्ञ हूँ न राजनीतिक आन्दोलन चलाने वालों में से हूँ। मैं केवल आत्म तत्व की चिन्ता करता हूँ। जब वह ठीक हो जाएगा तो सब काम अपने आप ठीक हो जाएगा।" स्वामी विवेकानन्द ने प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक आन्दोलन या राष्ट्रीय सिद्धान्त के में लिप्त होने के स्थान पर विभिन्न प्रयत्नों से सम्पूर्ण देश में राष्ट्रीयता की नींव रखी। उन्होंने देशवासियों से कहा - "बंकिम चन्द्र को पढो तथा उनके सनातन धर्म और उनकी देशभक्ति ग्रहण करो।"

उन्होंने जन्म भूमि की सेवा को अपना सबसे बड़ा कर्तव्य बताया। भारत पहले राजनीतिक रूप से स्वतन्त्र होना चाहिए। उन्होनें अपनी धरती पर अपने पांवों से खड़े होने की दी। अन्धे बनकर यूरोपीयकरण से बचने की सीख दी। स्वामी विवेकानन्द ने राष्ट्र को अत्यधिक महत्व दिया और भारत माता को एक अराध्य देवी माना। हीगल की तरह उन्होंने राष्ट्रवाद को आध्यात्मिक पुट दिया। राजनीतिक गुलामी से मुक्ति के लिए उन्होनें शाश्वत सिद्धान्तों और सत्य को समझ लेना आवश्यक माना। उनका मानना था कि यदि धर्म व आध्यात्म को भुला दिया जाऐ तो भारत की आत्मा ही नष्ट हो जाएगी। उन्होनें देश में एक नैतिक शक्ति व चेतना का संचार किया जिसने- विपिनचन्द्र पाल, तिलक व अरविन्द जैसे महापुरूषों के चिन्तन को दिशा दी। महात्मा गांधी ने भी राजनीति में आध्यात्मिकता को ग्रहण किया।

स्वामी विवेकानन्द ने राजनीतिक बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने के लिये कहा था- "आज हमारे देश को जिन चीजों की आवश्यकता है, वे हैं - लौहे के मांस पेशियां, इस्पात की तंत्रिकाऐ और प्रखर संकल्प।" उन्होनें नवीन शक्ति व अभय का संदेश देते हुए युवाओं से साहस, आत्मबल एवं दृढ इच्छा शक्ति जागत करने को कहा। श्री नेहरू ने उनके बारे में लिखा था- "वे राजनीति से अलग रहे, उन्हें अपने वक्त के राजनीतिज्ञ नापसंद थे।" (देखें नेहरू, हिन्दुस्तान की कहानी पृ. 760) लेकिन उन्होनें आजादी, बराबरी और जनता को उठाने की जरूरत पर अत्यधिक बल दिया। स्वामी विवेकानन्द का कहना था, "जीवन, सुख, समृद्धि की एक मात्र शर्त चिन्तन और कार्य की स्वतन्त्रता है। जिस क्षेत्र में यह नहीं है, उस क्षेत्र में मनुष्य जाति और राष्ट्र का पतन होगा"। उन्होंने स्वतंत्रता को मनुष्य का प्राकृतिक अधिकार माना और समाज के सभी सदस्यों के लिये समान अवसर प्राप्ति को महत्व दिया।

10.4.1 शक्ति व निर्भयता का सिद्धान्त

राजनीति विज्ञान की भाषा में इसे 'प्रतिरोध का सिद्धान्त' कहा जा सकता है। विवेकानन्द ने भारतीयों को शक्ति और निर्भीकता का सन्देश दिया और उनके हृदय में यह भावना लाने की कोशिश की कि शक्ति और निडरता के अभाव में न तो व्यक्तिगत अस्तित्व की रक्षा हो सकती है और न ही अपने अधिकारों के लिये संघर्ष ही किया जा सकता है। उन्होंने यह संदेश दिया कि भारत के निवासी शक्ति निर्भिकता और आत्मबल के आधार पर ही विदेशी सत्ता का मुकाबला कर सकते हैं, स्वाधीनता प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन प्रत्यक्ष रूप से उन्होंने राजनीतिक आन्दोलन में भाग नहीं लिया। उन्होनें कमजोर, कायर भारतीयों को धिक्कारा, वे कायरता को घृणा की दृष्टि से देखते थे। वे कहते थे - "अपने हृदय को उत्साह से भर लो और सब जगह फैल जाओ, काम करो, भारत का भविष्य तुम पर निर्भर है। उन्होंने दुनिया में दुर्बलता को पाप मानते हुए उसे मृत्यु के समान माना जिसे दूर करना अत्यंत आवश्यक है। कर्ममय चिंतन से वे शक्ति व निर्भीकता की ओर जाने के लिए भारतीयों का आहवान करते है।

10.4.2 अन्तर्राष्ट्रीयतावाद

स्वामी विवेकानंद अन्तर्राष्ट्रीयवादी थे। उन्होंने विश्व बंधुत्व का समर्थन किया। विश्व धर्म संसद में उनके द्वारा सम्बोधित - 'हे अमृत के पुत्रगण' उनके विश्व बधुंत्व की चिंतन धारा

को पोषित करता है। उन्हें मनुष्य व मनुष्य के मध्य अंतर स्वीकार नहीं था। उनका कहना था कि कोई मनुष्य, किसी जाति या दूसरों से घृणा करते हुए जीवित नहीं रह सकता। उनका मानना था कि भारतीयों के भाग्य का निपटारा उसी दिन हो चुका जब उन्होनें 'म्लेच्छ' (विदेशियों के लिए प्रयुक्त) शब्द ढूंढ लिया और दूसरों से अपना नाता तोड़ दिया। उन्होंने पश्चिम से बहुत कुछ सीखने का आह्वान करते हुए कहा कि - जो व्यक्ति और समाज दूसरो से कुछ नहीं सीखता, वह समाप्त हो जाता है। स्वामी जी ने सभी धर्मों का आदर करते हुए उन सभी धर्मों के आराध्य देवों की चर्चा की। अपने राष्ट्र से असीम स्नेह करते हुए भी अन्य राष्ट्रों से घृणा का विरोध किया।

बोध प्रश्न- 2

प्रश्न: स्वामी विवेकानन्द ने राष्ट्रवाद के उत्थान के लिए किन-किन बातों पर बल दिया?

उत्तर: .....

.....

.....

10.5 सामाजिक चिंतन

स्वामी विवेकानंद सामजिक संगठन और सामाजिक मामलों में जात - पांत, सम्प्रदायवाद और छुआछूत तथा सब तरह की विषमताओं के विरूद्ध थे - उन्होंने सामाजिक सेवा कार्यों को आध्यात्म के महत्वपूर्ण अंग के रूप में स्वीकार किया।।

उन्होंने स्पेन्सर की तरह समाज को सावयवी ही माना। उनका मानना था कि "अनेक व्यक्तियों का समूह समष्टि कहलाता है और अकेला व्यक्ति उसका एक है। आप और हम अकेले व्यक्ति हैं, समाज एक समष्टि है।" उन्होंने समाज के आंगिक जीवन, मस्तिष्क और आत्मा को स्वीकारा। सभी के कल्याण की कामना तभी संभव है जब उसके घटक कुछ बलिदान करें। विवेकानंद कर्मफल में विश्वास करते हैं और व्यक्ति के जन्म का आधार जन्म के कर्म को मानते हैं। शुभ कर्म करके ही व्यक्ति अपना और समाज का कल्याण कर सकता। मानव का अन्तिम लक्ष्य और परिणाम सामूहिक सुख होना चाहिए, व्यक्तिगत सुख नहीं।

भारतीय समाज के पतन के सम्बन्ध में विचार :-

तत्कालीन समाज में पतन तेजी से हो रहा था। स्वामी विवेकानंद लिए यह असहनीय था। उन्होंने अस्पृश्यता, छुआछूत, अंग्रेजियत और पाश्चात्य भौतिकवादी संस्कृति के प्रति लगाव, जाति व्यवस्था, परम्परागत रूढ़ियों, धर्म की गलत व्याख्या व पिछडेपन को सामाजिक पतन का कारण माना।

(क) अस्पृश्यता व रूढ़िवादिता पर स्वामी विवेकानंद ने कठोर प्रहार किये। विवेकानंद का कहना था कि भारत की गरीब पदलित जनता के दुख और पीड़ा के बहुत कम लोग चिन्तित हैं तथा उनकी जीविका और उन्नति के लिए कुछ करने के स्थान उन्हें छूने से

भी इंकार करते हैं। कुछ लोगों ने अस्पृश्यता को धर्म का नाम देकर के एक बड़े भाग को अधिकारों और उत्थान से वंचित कर दिया।।

(ख) विवेकानंद ने लोगों को कूप मंडूपता की स्थिति से निकालने का संदेश दिया। रूढ़िवाद पर प्रहार करते हुए उन्होंने समाज में व्याप्त अंधविश्वासों को प्रत्येक बात को तर्क और बुद्धि के आधार पर ग्रहण करने पर बल दिया।

(ग) राजा राममोहन राय व दयानंद सरस्वती की तरह स्वामी जी ने बाल विवाह की कटु आलोचना की। उन्होंने स्त्रियों की अल्पायु में विवाह के कारण, कम उम्र में संतानोत्पति, दुर्बल व बीमार संतानो की संख्या में वृद्धि तथा अत्यधिक बाल विधवा होने का मूल कारण बाल विवाह माना। इस समस्या के निराकरण हेतु उनका मानना था कि समाज का प्रत्येक घटक, चाहे वह स्त्री हो या पुरूष, शिक्षित और सुसंस्कृत बने। शिक्षित हो जाने पर व्यक्ति स्वयं ही हानि-लाभ का विचार कर कुरीतियों को समाप्त कर देगा।

(घ) स्वामी विवेकानंद गांधी के अग्रदूत थे। उन्होंने गरीब व दलितों को सीने से लगाने का संदेश दिया। उन्होनें ईश्वर की सच्ची सेवा गरीबों व पीड़ितों की सेवा को माना। गरीबों व सर्व साधारण की शक्ति को जगाते हुए विवेकानंद ने कहा - "ऊंचे पद वालों या धनिको का भरोसा न करना। उनमें जीवनी शक्ति नहीं हैं, वे तो जीते हुए भी मुर्दे के समान है।" इस रूप में विवेकानंद एक समाजवादी नजर आते हैं।

(ङ) स्वामी विवेकानंद ने जाति भेद को केवल एक सामाजिक व्यवस्था माना, जिसकी कोई उपयोगिता नहीं है। यह व्यवस्था तभी समाप्त हो सकती है जब लोग अपने खोए हुए सामाजिक व्यक्तित्व को पुन: प्राप्त कर लेगे। उनके अनुसार प्राचीन काल में जाति का मूल अर्थ था - प्रत्येक व्यक्ति की अपनी प्रकृति की अपनी विशेषता को प्रकाशित करने की स्वाधीनता। तत्कालीन भारत में जाति सम्बन्धी इस भाव का परित्याग कर दिया गया जिससे जाति व्यवस्था में बुराइयां पनपने लगीं व इससे समाज का पतन होने लगा।

जाति व्यवस्था को समूल नष्ट करना संभव नहीं है इसलिए स्वामी विवेकानंद ने उचित प्रयास कर चतुर्वर्ण को पुनर्जीवित कर निम्नतर वर्णों को ऊपर उठाकर उच्च वर्णों के स्तर पर लाने पर बल दिया। उन्होंने परम्परावादी ब्राह्मणों के पुरातन अधिकारवाद के सिद्धान्त का खंडन किया क्योंकि इस सिद्धांत ने शुद्रों अर्थात देश की बहुसंख्यक जनता को वैदिक ज्ञान से वंचित रखा। उन्होनें किसी भी प्रकार के क्रांतिकारी सामाजिक परिवर्तन की अपेक्षा धीमे सुधारों को महत्व दिया।

मूर्ति पूजा का स्वामी विवेकानंद ने पूर्ण खंडन नहीं किया क्योंकि उन्होंने उसे मानव मन को ईश्वर की अनुभूति के लिए तैयार करने वाला माना। उन्होंने केवल अधिकारों के लिए संघर्ष करने की अपेक्षा कर्तव्यों को विशेष महत्व दिया। आत्म विश्वास को समाज सुधार में भी एक महत्वपूर्ण हथियार के रूप में स्वीकार किया।

10.6 शिक्षा सम्बन्धी विचार

स्वामी विवेकानंद ने भारत की पिछड़ी स्थिति के लिए शिक्षा की कमी को जिम्मेदार माना। तत्कालीन शिक्षा पद्वति की प्रबल आलोचना करते हुए उन्होंने अंग्रेजों की शिक्षा पद्वति को बाबुओं का निर्माण करने वाला माना। उनका मानना था - "यह शिक्षा भारतीयों को नकारात्मक ज्ञान देती हैं और व्यक्ति को स्वावलम्बी बनाने में सहायक नहीं है। इसमें रटने पर अधिक जोर दिया जाता था जिस के कारण बुद्धि का विकास नैसर्गिक रूप में नहीं हो सकता था। यह शिक्षा न तो भारतीय को जीविकोपार्जन के लिए तकनीकी ज्ञान देती थी और न ही जीवन जीने का मार्ग दिखाती थी। स्वामी विवेकानंद का उद्देश्य मनुष्य तथा उसके जीवन का निर्माण करना था, प्लेटो की तरह विवेकानंद मानते थे कि - ज्ञान मनुष्य में ही अन्तर्निहित है। जब व्यक्ति कोई बात सीखता है तो वह अपने अन्दर ही उस तथ्य को जागृत करता है। शिक्षक उसे सिखाता नहीं है अपितु ज्ञान जागृत करता है। उन्होनें गुरूकुल पद्वति को उचित माना जहाँ विद्यार्थी शिक्षक के सम्पर्क में रहकर पवित्रता, धैर्य और विश्वास सीखता है। उन्होंने धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन को भी पाठ्यकम का हिस्सा बनाना आवश्यक माना ताकि विद्यार्थी धर्म सहिष्णु बन सके। शिक्षा के लिए स्वामी विवेकानंद ने शरीर, मस्तिष्क व आत्मा के समन्वय पर बल दिया। ग्रामीण जनता हेतु शिक्षा के साथ रोजगार सिखाना तथा स्त्रियों को गृह उपयोगी शिक्षा देना आवश्यक माना।

10.7 समग्र दृष्टि

स्वामी विवेकानंद आधुनिक भारतीय चिंतन के प्रणेता व राष्ट्रीय आंदोलन के अग्रदूत थे। उन्होंने भारतीय धर्म व चिन्तन धारा से भारतीय राष्ट्रवाद की नींव रखी। वे पहले भारतीय थे जिन्होंने पूर्व व पश्चिम की संस्कृतियों में समन्वय का प्रयास किया। उन्होंने प्रत्यक्षत: राजनीति में भाग नहीं लिया लेकिन अपनी रचनाओं व भाषणों से भारत, विशेषकर बंगाल में राष्ट्रवाद की नैतिक नींव को मजबूत आधार दिया, स्वामी विवेकानंद ने धर्म से समाज सुधार और उससे राष्ट्रवाद का आहवान किया।

10.8 सारांश

स्वामी विवेकानंद ने वेदांत दर्शन को इस तरह से विकसित लिया जिससे समस्त संघर्षों को दूर किया जा सके, और इससे मानव जाति का बहुमुखी विकास हो सके। उन्होंने भारत की विशिष्टता को धर्म के रूप में प्रतिष्ठित किया। धर्म की इस विशद् व्याख्या में मानवतावादी, सार्वभौमिक स्वरूप, वैज्ञानिकता और आचरण के नियमों को प्रस्तुत किया। उन्होने विश्व के सम्मुख भारतीय संस्कृति और सभ्यता की श्रेष्ठता को प्रतिपादित किया। उनके मन में मातृ भूमि के प्रति अगाध प्रेम था। उन्होंने पश्चिम के विपरीत राष्ट्रवाद का आधार, धर्म को बनाते हुए आध्यात्मिक राष्ट्रवाद की अवधारणा विकसित की।

राष्ट्रवाद के उन्ननय में अभयम्, आत्मबल और आत्मविश्वास को अत्यधिक महत्व दिया। उन्होंने अस्पृष्यता, शोषण, स्त्रियों की गिरती दशा, शिक्षा के अभाव आादि को सामाजिक विषमता व गिरती स्थिति के लिए उत्तरदायी माना तथा अवसरों की समानता को सिद्धांत को

स्वीकार किया। स्वामी विवेकानंद ने युवाओं को कर्मयोग की महत्ता समझाई। दरिद्रनारायण की सेवा को राष्ट्रवाद से जोड़ने का उनका विचार गांधी चिंतन में स्पष्ट दिखाई देता है। उन्होंने संर्कीण राष्ट्रवाद से दूर रहकर राष्ट्रीय एकीकरण पर बल दिया। वे भारत के एक ऐसे राष्ट्रवादी है जो धर्म के माध्यम से भारत में राष्ट्रवाद को पुनर्जागत करना चाहते थे। स्वामी विवेकानंद परम्परागत अर्थो में दार्शनिक या समाज सुधारक नहीं थे। वास्तव में वे धार्मिक व्यक्ति थे जिन्होंने धर्म की व्याख्या इस तरह से की, कि आपसी संघर्ष, साम्प्रदायिकता, सामाजिक दुरावस्था व राष्ट्रीय परतन्त्रता का समाधान स्वत: ही हो जाए।

10.9 अभ्यास प्रश्न

1. स्वामी विवेकानंद के चिंतन में धर्म विषयक विचारों की विवेचना कीजिये।
2. भारत में राष्ट्रवाद के विकास के लिए स्वामी जी द्वारा बताए उपायों की व्याख्या कीजिये।
3. पुन:जागरण में विवेकानन्द के योगदान की विवेचना कीजिये।

10.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. वर्मा, वी०पी० : आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, 1971
2. गौतम घोष : ए बायोग्राफी ऑफ स्वामी विवेकानन्द, रूपा, दिल्ली, 2003
3. वरिन्दर ग्रोवर (सं.): स्वामी विवेकानन्द - ए बायोग्राफी ऑफ हिज एण्ड आईडियाज, दीप एण्ड दीप, नई दिल्ली, 1998

इकाई- 11

सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन के विविध वैचारिक आधार

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 अर्वाचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन का ऐतिहासिक सन्दर्भ (ब्रिटिश साम्राज्यवाद एवं स्वातंत्र आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में) एवं आर्थिक-सामाजिक पुनर्रचना

11.3 अर्वाचीन भारतीय चिन्तन एवं सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन के विविध वैचारिक आधार एवं प्रमुख अवधारणाएँ

11.3.1 राष्ट्रवाद

11.3.2 समग्र लोकतंत्र व सामाजिक न्याय

11.3.3 समाजवाद

11.3.4 राजनीतिक व आर्थिक विकेन्द्रीकरण

11.3.5 धर्मनिरपेक्षता

11.4 सारांश

11.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

11.6 संदर्भ ग्रंथ सूची

11.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान पायेंगे-

- आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन के विभिन्न ऐतिहासिक संदर्भ
- अर्वाचीन भारतीय चिन्तन के विविध वैचारिक आधार, एवं
- अर्वाचीन भारतीय चिन्तन की प्रमुख अवधारणाएँ।

11.1 प्रस्तावना

आधुनिक पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन की उत्पत्ति का प्रश्न विवादास्पद है। कुछ लोग उसका प्रारम्भ मैकयावेली से, कुछ हाब्स से और कुछ रूसो से मानते हैं। किन्तु यदि हम आधुनिक और अर्वाचीन में भेद करें तो अर्वाचीन पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का प्रारम्भ हमें हेगेल और मार्क्स से मानना पड़ेगा। मोटे तौर पर अर्वाचीन पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का युग आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन के युग के समानान्तर चलता है।

राजा राममोहनराय हेगेल के समकालीन थे और दयानन्द सरस्वती मार्क्स के समसामयिक थे। भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में आधुनिक और अर्वाचीन का सुनिश्चित, स्पष्ट व दो टूक भेद करना सम्भव नहीं है। किन्तु भारत में पुनर्जागरण के प्रवर्तकों राष्ट्रवाद के सिद्धान्त के निर्माताओं के बीच एक विभाजन रेखा स्पष्टत: दिख पड़ती है। मोटे

तौर पर हम कह सकते हैं कि राजा राममोहनराय, दयानन्द सरस्वती एवं स्वामी विवेकानन्द आदि पुनर्जागरण के प्रवर्तक आधुनिक भारतीय चिन्तन की प्रमुख विभूतियां हैं और महात्मा गांधी अर्वाचीन भारतीय इतिहास के महानतम नायक हैं। गांधी, अरविन्द, एम. एन. राय, जवाहरलाल नेहरू, जयप्रकाश, नारायण, अम्बेडकर आदि मानवतावादी, राष्ट्रवादी-अन्तर्राष्ट्रवादी, साम्यवादी-समाजवादी एवं सर्वोदयवादी -लोकतंत्रवादी महापुरूषों के समय को हम अर्वाचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन का युग मान सकते हैं।

भारतीय राजनीतिक चिन्तन का मुख्य विषय राज्य की प्रकृति तथा सिद्धान्तों की व्याख्या और समीक्षा करना नहीं है। उसके अन्वेषण का क्षेत्र इससे भी अधिक व्यापक है, जिसके अन्तर्गत पूर्व तथा पश्चिम के, पुरातन तथा नवीन के और धार्मिक तथा वैज्ञानिक सिद्धान्तों के समन्वय की समस्या ही मुख्य है। इस प्रकार भारतीय विचारकों के लिए सभ्यता का दर्शन उपयुक्त और आकर्षक समस्या बन गया है, जैसा कि उन्नीसवीं शताब्दी के रूस में हुआ था टैगोर, विवेकानन्द, गांधी, अरविन्द आदि कुछ विचारकों को भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों ही सभ्यताओं के जीवन का निजी अनुभव था। उन्होंने पाश्चात्य तथा पूर्वोत्य सभ्यताओं के संबंधों का अध्ययन करते समय इस अनुभव का प्रयोग किया।

हम इस बात से इन्कार नहीं कर सकते कि राजनीतिक विचारों का उदय जीवन की परिस्थितियों और सामान्य सन्दर्भ में हुआ करता है। आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन भी बहुत कुछ अंशों में तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक वास्तविकता की विभिन्न व्याख्याओं का संघटन तथा स्पष्टीकरण है। कहा गया है कि महान चिन्तन का उदय ऐसी विषम परिस्थितियों तथा महान संकट के युगों में हुआ करता है, जब अव्यवस्था और अराजकता के मध्य किसी प्रकार के स्थायित्व के लिए गम्भीर खोज की जाती है। विदेशी पाश्चात्य साम्राज्यवाद के ध्वंसकारी आघात ने हमें अपने मूल का अन्वेषण करने के लिए विवश किया। आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन उस काल में फला-फूला जब भारतीय संस्कृति के बीच पुरातन मूल्यों तथा ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन की यन्त्रचालित क्षमता और वैज्ञानिक कौशल के बीच भयंकर संघर्ष चल रहा था। इस संघर्ष के फलस्वरूप बौद्धिक क्षेत्र में एक नये सन्तुलन की खोज आरम्भ हुई। सामजिक-राजनीतिक परिवर्तन के एक नवीन नैतिक तथा आध्यात्मिक आधार को ढूंढ निकालने के लिए प्रयत्न किये जाने लगे। टैगोर, गांधी व नेहरू आदि की रचनाएँ इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

11.2 अर्वाचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन का ऐतिहासिक सन्दर्भ (ब्रिटिश साम्राज्यवाद एंव स्वातंत्र्य-संग्राम के परिप्रेक्ष्य में) एवं आर्थिक सामाजिक पुनर्रचना

आधुनिक एशिया का प्रबुद्धीकरण, उसमें नवजीवन का संचार तथा उसका पुनरुत्थान पिछले डेढ़ सौ वर्षों के विश्व इतिहास की अत्यधिक महत्वपूर्ण घटना है। कुस्तुन्तुनिया और काहिरा से लेकर कलकत्ता, पीकिंग और टोक्यो तक सर्वत्र हमें प्राचीन प्राच्य की आत्मा के मुक्तिकरण का दृश्य देखने को मिलता है। सुदुर अतीत में पूर्व ने ही चीन, भारत, काबुल तथा

मिस्र की शक्तिशाली सभ्यताओं को जन्म दिया था। यहीं प्रथम साम्राज्यों तथा विश्व के धर्मों का उदय हुआ था। सभ्यता के प्रकाश की किरण सर्वप्रथम एशिया में प्रस्फुटित हुई थी।

किन्तु जब सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में यूरोप के राष्ट्रों ने विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी (टेक्नोलॉजी) का विकास आरम्भ किया, उस समय एशिया के लिए यूरोप समकक्ष खडा रह सकना असम्भव हो गया। यूरोपीय राष्ट्रवाद के उदय, बड़े पैमाने पर उत्पादन, वाणिज्य के अभूतपूर्व विस्तार एवं औद्योगिक क्रांति के आगमन से एशिया यूरोपीय-साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का क्रीड़ांगन बन गया। अठारहवीं शताब्दी में तथा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में एशियाई देशों में सर्वत्र आर्थिक अध: पतन, राजनीतिक जर्जरता, सामाजिक गतिहीनता तथा सांस्कृतिक सडान्ध के दृश्य दिखाई देने लगे।

भारत भी इस उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद का शिकार हुआ। दक्षिण भारत के अतल-फ्रांसिसी युद्धों (1740-1763), प्लासी की लडाई (1757) तथा बक्सर के युद्ध (1764) तथा शाह आलम द्वारा ईस्ट इण्डिया कम्पनी को दीवानी अधिकारों को दिए जाने (1765) के साथ-साथ आरम्भ हुए बलशाली ब्रिटिश-साम्राज्यवाद ने इस देश में कूटनीति, शासन पटुता तथा उच्च प्रकार के सैनिक शस्त्रास्त्र की सम्पूर्ण शक्तियों के साथ प्रवेश किया तथा धीरे- धीरे भारत का अधिकांश भाग 'कम्पनी' के प्रादेशिक स्वामित्व के अन्तर्गत चला गया मुख्यत: क्लाइव, वारेन हेस्टिंगज, वैलेजली तथा डलहौजी के नायकत्व में ब्रिटिश साम्राज्यवादी आधिपत्य की स्थापना सम्पादित हुई।

किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से एशिया का मन तथा आत्मा एक बार पुन : निश्चित रूप से जागे। जिन प्रमुख नेताओं तथा महान विभूतियों को एशियाई कुम्भकरण के इस भयंकर जागरण का श्रेय है, उसमें सुनयात सेन, बालगंगाधर तिलक, महात्मा गांधी और कमाल पाशा का स्थान विशेषत: उच्च तथा अद्भुत है। राष्ट्रीय चेतना व राष्ट्रवाद की बढ़ती भावना, सांस्कृतिक नवजागरण, आर्थिक-सामाजिक पुनर्रचना की जोर पकड़ती मांग, आधुनिक औद्योगिकी (टेक्योलॉजी) और पाश्चात्य बौद्धिक तथा वैज्ञानिक चिन्तन धाराओं के उच्च पहलुओं से स्थापित होता भारतीयों का सीधा जुड़ाव तथा पाश्चात्य शिक्षा तथा ज्ञान के प्रचार से देश में उत्पन्न बौद्धिक अनुसन्धान एवं बौद्धिक पुनर्जागरण ने आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद के उदय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। जिस प्रकार इटली के पुनर्जागरण तथा जर्मनी के धर्मसुधार आन्दोलन ने यूरोपीय राष्ट्रवाद के उदय के लिए बौद्धिक आधार का काम किया था, उसी प्रकार भारत के सुधारकों तथा धार्मिक नेताओं के उपदेशों ने देशवासियों में स्वायत्त तथा आत्मनिर्णय पर आधारित राजनीतिक जीवन का निर्माण करने की इच्छा उत्पन्न की। भारतीय आत्मा के जागरण की सृजनात्मक अभिव्यक्ति सर्वप्रथम दर्शन, धर्म तथा संस्कृति के क्षेत्रों में हुई, और राजनीतिक आत्म-चेतना का उदय उसके अपरिहार्य परिणाम के रूप में हुआ। भारतीय पुनर्जागरण के मूल में तत्वत : नैतिक और आध्यात्मिक आकांक्षाओं का प्राधान्य था।

इस प्रकार पश्चिम की यांत्रिक सभ्यता तथा भारत की धार्मिक व आध्यात्मिक संस्कृतियों के संघर्ष व विरोधाभासों के बीच एक नए भारत का उदय हुआ। विदेशी राजनीतिक शक्ति के आघात के विरूद्ध बचाव की व्यवस्था के रूप में देश की प्राचीन संस्कृतियाँ पुन :

सचेत तथा सचेष्ट हो उठीं तथा अपने अस्तित्व को पुन : आग्रहपूर्वक जताने लगीं। प्राचीन ग्रंथों का नये मानवतावादी तथा सर्वराष्ट्रवादी दृष्टिकोण से विवेचन किया जाने लगा तथा प्राचीन धर्मशास्त्रों में आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तों का बीज ढूंढ निकालने के प्रयास भी किए जाने लगे। इस प्रकार विदेशी सभ्यता की चुनौती ने भारतवासियों को आत्मान्वेषण के लिए विवश किया। पूर्व बनाम पश्चिम की सभ्यताएँ भारतीय चिन्तन का मुख्य विषय बन गयीं। उससे राजनीतिक चिन्तन के लिए भी महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध हुई। अत : भारतीय राजनीतिक चिन्तन एक अर्थ में सभ्यता का आधारभूत दर्शन बन गया।

बोध प्रश्न - 1

प्रश्न : भारतीय राष्ट्रवाद के उदय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले किन्हीं दो प्रेरक तत्वों का उल्लेख कीजिये।

उत्तर : .....

.....

11.3 अर्वाचीन भारतीय चिन्तन एवं सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन के विविध वैचारिक आधार एवं प्रमुख अवधारणाएँ

आधुनिक भारतीय विचारकों के सामाजिक राजनीतिक परिवर्तन संबंधी के विवेचन के सन्दर्भ में राष्ट्रवाद-स्वराज्य, सत्याग्रह मानवतावाद, सामाजिक-न्याय, समाजवाद, लोकतंत्र-विकेन्द्रीकरण व धर्मनिरपेक्षवाद आदि अवधारणाएँ हमारी अध्ययन सामग्री बनी हैं। इन अवधारणाओं के विकास को क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया जाना उपादेय है।।

11.3.1 राष्ट्रवाद

भारतीय राजनीतिक चिन्तन का प्रमुख विषय राष्ट्रवाद रहा है। है कि आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन में राष्ट्रवाद तथा स्वराज्य की दोनों अवधारणाओं को एक-दूसरे से पृथक करके नहीं देखा जा सकता। राष्ट्रवाद और स्वराज्य इन दोनों का सुन्दर समन्वय दासता-पीड़ित भारत की मुक्ति के लिए राजनीतिक-सामाजिक तथा आर्थिक प्रबुद्धता का * रहा है। राष्ट्रवाद के प्रसार एवं प्रभाव के अन्तर्गत स्वराज्य प्राप्ति की लालसा बलवती होती गई और अन्त में राष्ट्रवादी विचारधारा ने ही भारत को स्वतंत्रता दिलवाई भी। राष्ट्रवाद के कारणों तथा उसके अंगों की सांगोपांग विवेचना तथा राष्ट्र, राज्य, जनता तथा राष्ट्रवाद के बीच भेद की स्पष्ट अभिव्यक्ति के साथ-साथ अवधारणात्मक दृष्टिकोण से राष्ट्रवाद के विविध रूप आधुनिक भारतीय चिन्तन में प्रकट हुए हैं।

भारत का बौद्धिक पुनर्जागरण आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद के उदय का एक प्रमुख महत्वपूर्ण कारण था। पाश्चात्य राष्ट्रवादी विचारधारा में राजनीतिक एवं आर्थिक पक्ष अधिक महत्व दिया गया है तथा भारत में भी राष्ट्रवाद को राजनीतिक एवं आर्थिक दृष्टि से देने वाले अनेक विचारक हैं किन्तु राष्ट्रवाद को आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान करने वाले विचारकों राष्ट्रवाद को नवीन दिशा दी है जो कि भारतीय चिन्तन की मौलिक प्रवृति की परिचायक मानी सकती

है। स्वामी विवेकानन्द, विपिनचन्द्र पाल, अरविन्द घोष तथा महात्मा गांधी का राष्ट्रवाद एक नवीन अनुभूति है।

दूसरी ओर, पाश्चात्य राष्ट्रवादी चिन्तन की संकीर्णता को भारत ग्रहण नहीं किया। विश्व-बन्धुत्व तथा सर्वहितकारी प्रयोजनों के प्राचीन भारतीय आदर्श ने को अन्तर्राष्ट्रीयता का बाधक न बना कर उसका सहयोगी बना दिया है। राष्ट्रवाद के दर्शनिक मत्सीनी के प्रभाव में रहते हुए भी भारतीय चिन्तकों ने मानववादी विचारधारा को तिलांजलि नहीं दी अपितु व्यक्तिगत अधिकारों तथा नैतिक मूल्यों को स्वीकार करते हुए व्यक्ति के कर्त्तव्यों के साथ-साथ उसके अधिकारों का भी ध्यान रखा है। इस प्रकार राष्ट्रवाद को आर्थिक, आध्यात्मिक तथा धार्मिक आधारों पर प्रकल्पित किया गया है।

भारत में विभिन्नता के अनेक कारण रहे हैं, फिर भी धार्मिक एवं ऐतिहासिक कारणों से राष्ट्रीयता की भावना प्रारम्भ से ही बनी रही है। समय-समय पर इस भावना को जागृत करने की सामग्री मिलती रही है। मुगलकाल में महाराणा प्रताप तथा छत्रपति शिवाजी समय राष्ट्रीय भावना की जागृति के अवसर उपस्थित हुए इससे राष्ट्रीय विचारधारा में तेजी आई। भारत में राष्ट्रवादी भावनाओं का पहला प्रबल और साकार विस्फोट 1857 की क्रांति में हुआ। देश का दुर्भाग्य था कि कतिपय राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक कारणों से 1857 का संग्राम असफल रहा। पर इसमें सन्देह नहीं कि इस संग्राम ने सोते हुए भारतीय राष्ट्रवाद को जगा दिया।

राजा राममोहनराय, स्वामी दयानन्द सरस्वती एवं स्वामी ने भारतीय राष्ट्रवाद के धार्मिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक सिद्धान्तों पर बल दिया। उदारवादी दादाभाई नौरोजी ने इसे आर्थिक आधार प्रदान किया। गोपालकृष्ण गोखले के इस संबंध में कोई प्रभावी विचार सामने नहीं आए। राष्ट्रवाद का धार्मिक-आध्यात्मिक और अत्यन्त ओजस्वी चरित्र आगे चलकर लाल-पाल-बाल (लाला लाजपत राय, विपिन चन्द पाल, बालगंगाधर तिलक) के चिन्तन में मुखरित हुआ। उदारवादियों के नरमपंथ की प्रतिक्रियास्वरूप देश में उग्रवादी विचारधारा का विकास हुआ तथा इन तीनों नेताओं ने "अभिनव राष्ट्रवाद" का शंख फूंका तथा विदेशी हुकूमत के प्रति नरम रवैया अपनाए जाने वाली उदारवादी नीति का प्रतिकार करते हुए तदनुसार "स्वदेशी" और "बहिष्कार" आन्दोलन प्रारम्भ करके राष्ट्रीय आन्दोलन और संवैधानिक विकास के इतिहास में एक नए अध्याय की रचना की।

अरविन्द घोष आरम्भ में उग्रराष्ट्रवाद के प्रणेता बने पर बाद में उनका राष्ट्रवाद पूर्णत: आध्यात्मिक धरातल पर प्रतिष्ठित हो गया। उन्होंने राष्ट्रवाद को सामाजिक तथा राजनीतिक विकास में एक आवश्यक कदम माना, पर अन्तिम अवस्था में उनका आदर्श मानवीय एकता का था। भारतीय राष्ट्रवाद के शांतिप्रिय और समन्वयवादी स्वरूप के दर्शन रवीन्द्रनाथ टैगोर में हुए जिन्होंने संकीर्ण राष्ट्रवाद के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का उपदेश दिया। उन्होंने उस राष्ट्रवाद का समर्थन नहीं किया जो "बन्दूक और बारूद" की उपासना करता है। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने "व्यक्तित्व शून्य राजनीतिक राष्ट्रवाद" के स्थान पर "आध्यात्मिक साहचर्य" में विश्वास प्रकट किया।

सन् 1920 में महात्मा गांधी का राजनीतिक उदय हुआ। उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद को बहुत ही शुद्ध धरातल पर प्रतिष्ठित किया। गांधीजी राष्ट्रवादी थे पर जो राष्ट्रवाद आज दुनिया के लिए घातक हो रहा है, उस राष्ट्रवाद का उन्होंने कभी समर्थन नहीं किया। गांधीजी ने भारतीय राष्ट्रवाद को, जीवन की सहिष्णुता और आध्यात्मिक सिद्धान्तों पर आधारित किया। उन्होंने राष्ट्रवाद को विश्वप्रेम का एक अंग माना और कहा- "हम विश्बन्दुत्व के लिए जीना और मरना चाहते हैं। उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद में यह भावना भरी कि "विशुद्ध देशभक्ति व राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता की विरोधी नहीं होती।"

पं. जवाहरलाल नेहरू के मानवतावाद ने भारतीय राष्ट्रवाद को मार्गभ्रष्ट होने से बचाया। उन्होंने सदैव इस बात का प्रयत्न किया कि भारतीय राष्ट्रवाद अपना उदार स्वरूप लिए रहे। नेहरू भारत की विभिन्नता में एकता का दर्शन करने वाले राष्ट्रवादी थे। उन्होंने राष्ट्रवाद को धर्मनिरपेक्षता पर आधारित मानते हुए इसे महत्त्वपूर्ण भावनात्मक प्रतीक के रूप में स्वीकार किया। नेहरू जी ने भी सदैव संकीर्ण राष्ट्रवादी मनोवृत्ति का तिरस्कार किया। राष्ट्रवाद के साथ ही साथ उन्होंने विश्व के सभी पराधीन राष्ट्रों के लिए आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन किया। भारत के लिए पूर्ण स्वतंत्रता की मांग उन्हीं के द्वारा कांग्रेस में प्रस्तुत की गई। नेहरू ऐसी स्वतंत्रता के पोषक थे जो केवल राजनीतिक न होकर सामाजिक और अन्तर्राष्ट्रीय भी हो।

स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान हिन्दू और मुसलमान दोनों ही के कतिपय वर्गो में विकृत राष्ट्रवाद भी पनपा। मुस्लिम-साम्प्रदायिकता ने अपने पृथकवादी राष्ट्रवाद का जो रूप धारण किया था उसकी परिणति पाकिस्तान के निर्माण में हुई। मुस्लिम-साम्प्रदायिकता और पृथकवादी-राष्ट्रवाद की प्रतिक्रिया-स्वरूप कुछ हिन्दुओं में भी "हिन्दू-राष्ट्रवाद" जैसे विचार पनपे। इस प्रकार देश की दो महान जातियों में फूट को प्रोत्साहन मिला, जिससे देश को अपूरणीय क्षति हुई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय राष्ट्रवाद विभिन्न अवस्थाओं से गुजरा और कुल मिलाकर इसके उदार तथा मानवतावादी चरित्र की ही प्रधानता रही। भारतीय राष्ट्रवाद ने जिन स्वस्थ परम्पराओं और आदर्शो की नींव डाली, वे ही आज भी भारतीय राष्ट्रवाद को उस उग्रवादी राष्ट्रवाद से बचाए हुए हैं जो विश्वशांति के लिए जबरदस्त खतरा है।

बोध प्रश्न - 2

प्रश्न: सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन के विविध आधारों एवं अर्वाचीन भारतीय चिन्तन की प्रमुख अवधारणाओं का नामोल्लेख कीजिए।

उत्तर: .....

.....

11.3.2 समग्र लोकतंत्र एवं सामाजिक न्याय

आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक विचारक प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में सामजिक-आर्थिक-राजनीतिक परिवर्तन अथवा सामाजिक न्याय के प्रति अपनी चिन्ता और जागरूकता प्रकट करते रहे हैं। राजा राममोहनराय ने न्यायिक व्यवस्था के संबंध में अपने जो विचार प्रकट

किए उनमें सामाजिक न्याय की मांग अन्तर्निहित थी। महिलाओं के आर्थिक अधिकारों की रक्षा के लिए उन्होंने जो विचार रखे उनमें भी सामाजिक न्याय की भावना मुखर थी। विवेकानन्द ने जब भारतीय समाज की बुराइयों और पतन के कारणों पर प्रहार किया तो वे सामाजिक परिवर्तन एवं न्याय की ही मांग कर रहे थे। उनके स्वतंत्रता के सिद्धान्त तथा दीनहीनता के प्रति असीम संवेदन के अन्तर्गत सामाजिक न्याय एवं परिवर्तन की धारणा अन्तर्निहित थी। श्रीमती एनीबिसेन्ट के हृदय में अभावग्रस्त लोगों के प्रति अत्यधिक स्नेह था। महादेव गोविन्द रानाडे के सामाजिक-आर्थिक दर्शन में सामाजिक न्याय के प्रति जागरूकता परिलक्षित होती है। दादाभाई नौरोजी ने जब राजनीतिक सत्ता के नैतिक आधार पर पोषण किया, स्वशासन और स्वराज्य की मांग की, भारतीय गरीबी जोर आर्थिक निष्कासन पर विचार करते हुए भारतीय राष्ट्रवाद के आर्थिक आधारों को प्रस्तुत किया तो अप्रत्यक्ष रूप में उन्होंने सामाजिक न्याय की प्रस्थापना पर बल दिया। गोपालकृष्ण गोखले के राजनीतिक आर्थिक चिन्तन में भी हमें सामाजिक न्याय के प्रति उनकी जागरूकता के दर्शन होते है। लोकमान्य तिलक तो हर प्रकार के अन्याय के विरोधी थे और यही बात लाला लाजपतराय के साथ थी।

महात्मा गांधी तो सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन व सामाजिक-आर्थिक न्याय की स्थापना के लिए आजीवन संघर्ष करते रहे। सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन एवं न्याय की आकांक्षा ने ही उन्हें एक आदर्श अहिंसक समाज की कल्पना प्रदान की। उनके संरक्षकता प्रन्यास (ट्रस्टीशिप) सिद्धान्त में आर्थिक न्याय का पोषण होता है जो सामाजिक न्याय से घनिष्ठ रूप से संबंधित है। उनके सामाजिक चिन्तन एवं समाज-सुधार कार्यो में भी हमें सामाजिक न्याय के प्रति उनकी जागरूकता स्पष्ट परिलक्षित होती है।

पं. जवाहरलाल नेहरू का मानवतावाद सामाजिक न्याय के विचार से ओतप्रोत था। उनका समाजवादी दर्शन सामाजिक-आर्थिक न्याय की अवधारणा का ही प्रतिबिम्ब थी। उन्होंने सदैव इस बात पर बल दिया कि सामाजिक न्याय की प्रस्थापना के लिए अनिवार्य है कि आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण न हो और विकास कार्यो का लाभ सभी तबकों के लोगों को मिले। नेहरू के समाजवाद में उनकी सामाजिक-आर्थिक न्याय एवं परिवर्तन की मांग में - अभावों से पीड़ित जनता के लिए दर्द था। उन्होंने कहा था कि- "हमारा उद्देश्य भारत में समाजवादी समाज की स्थापना करना है क्योंकि हमारा उद्देश्य यह है कि भारत में प्रत्येक पुरूष, महिला तथा बच्चे को समान-अवसर प्राप्त हो और बड़ी-बड़ी विषमताएँ दूर हो जाएँ।" लोककल्याणकारी राज्य के प्रति नेहरू के चिन्तन और व्यवहार में सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन तथा आर्थिक न्याय की चिन्ता अन्तर्निहित। विनोबा भावे एवं जयप्रकाश नारायण के सर्वोदय की अवधारणा तो सामाजिक न्याय का मूर्त रूप थी।

11.3.3 समाजवाद

भारत में समाजवादी चिन्तन के बीज तो अति प्राचीन काल से ही पाए जाते हैं और ऋग्वेद तथा अन्य धर्मग्रन्धों में, विशेषकर 'धम्मपद' में मानव एकता, भातृत्व और आध्यात्मिक-समानता के सिद्धान्तों के दर्शन होते हैं, तथापि आधुनिक अर्थ में भारतीय समाजवादी चिन्तन बीसवीं शताब्दी की उपज है। आर्थिक तथा सामाजिक पुनर्निर्माण व परिवर्तन के दर्शन के रूप में

समाजवाद भारत में पश्चिम के प्रभाव से ही विकसित तथा लोकप्रिय हुआ है। पश्चिम के आधुनिक समाजवादी विचारों को भारतीय समाजवादी नेताओं ने भारतीय परिस्थितियों, वातावरण और चिन्तन के अनुरूप ढालने की कोशिश की।

भारत में आधुनिक समाजवाद के तत्वों का प्रथम दर्शन हमें महर्षि अरविन्द के उन सात लेखों में होता है जिन्हें 1893 में उन्होंने इन्दुप्रकाश नामक पत्र में "पुरानों के बदले नवीन दीप" (न्यू लेम्प फॉर द ओल्ड) शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित कराया था। इन लेखों में अरविन्द ने कांग्रेस की मध्ययुगीन मनोवृति की आलोचना करते हुए "सर्वहारा" वर्ग की दशा को सुधारने का आग्रह किया था। 1908 में बालगंगाधर तिलक ने भी 'केसरी' में कुछ लेखों में रूसी सर्वखण्डनवादियों (Russian Nihilist) की चर्चा की। लाला लाजपतराय भी सम्भवत: प्रथम भारतीय थे, जिन्होंने समाजवाद और "बोल्शेविकवाद" के विषय में कुछ लिखा था। "बोल्शेविकवाद" के प्रति उनका कोई सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण नहीं था, तथापि अपनी पुस्तकों में उन्होंने कांग्रेस पर पूंजीपति-आधिपत्य की कटु आलोचना की। एम. एन. राय ने, जिन पर मार्क्सवाद का प्रभाव था, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के बुर्जुआ वर्ग द्वारा संचालन की आलोचना की थी।

भारत में समाजवादी चिन्तन को प्रोत्साहन देने में पं. मोतीलाल का भी योगदान रहा। जवाहरलाल नेहरू ने 1926 में सोवियत संघ की यात्रा की। उन्होंने 'सोवियत एशिया' नामक अपनी एक लघु पुस्तिका में रूस की तत्कालीन उपलब्धियों का प्रशंसात्मक चित्र खींचा और 'विश्व इतिहास की झलक' तथा "आत्मकथा" में कार्लमार्क्स की वैज्ञानिक एवं आर्थिक पद्धति की भारी प्रशंसा की। 1934 में कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना भारत में समाजवाद के संगठनात्मक विकास में एक महत्वपूर्ण घटना थी। समाजवादियों का प्रथम अखिल भारतीय सम्मेलन 17 मई 1934 को पटना में आचार्य नरेन्द्र देब की अध्यक्षता में हुआ।

कांग्रेस समाजवादी दल के प्रमुख प्रतिपादकों में जयप्रकाश नारायण, डॉ. राममनोहर लोहिया, अशोक मेहता, आचार्य नरेन्द्र देब, अच्युत पटवर्धन व एम. आर. मसानी आदि थे। सैद्धान्तिक रूप से समाजवादी नेता तीन मिश्रित प्रवृतियों में विभाजित थे- (1) मार्क्सवादी (2) अंग्रेजी मजदूर दल सरीखे सामाजिक लोकतंत्रवादी एवं (3) लोकतांत्रिक समाजवादी जिन पर कि गांधीजी के विकेन्द्रीकरण सिद्धान्त तथा सविनय अवज्ञा के राष्ट्रवादी आन्दोलन का एवं वर्ग संघर्ष का प्रभाव था। प्रथम प्रवृत्ति के प्रवर्तकों में जयप्रकाश नारायण एवं आचार्य नरेन्द्र देब प्रमुख थे, जबकि द्वितीय गुट में एम. आर. मसानी और अशोक मेहता तथा तृतीय के अच्युत पटवर्धन एवं लोहिया।

समाजवादियों ने देश के स्वाधीनता संघर्ष में कांग्रेस के साथ सहयोग किया। भारतीय राजनीतिक चिन्तन को उनकी मुख्य देन यह रही कि उन्होंने मार्क्सवाद के उद्देश्यों तथा तकनीकों का राष्ट्रीय स्वातंत्र-संघर्ष के साथ तालमेल बैठाने का प्रयत्न किया। इस क्षेत्र में समाजवादी लोग साम्यवादी लोगों से अधिक सफल हो सके। साम्यवादी तीसरे अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन' में "स्टालिनवाद" को भारतीय राष्ट्रीयता से गुरूत्तर मान रहे थे। समाजवादियों ने राष्ट्रीय आन्दोलन में जो योगदान दिया उसने कई कट्टर राष्ट्रवादियों को भी यह मानने पर बाध्य किया कि

राष्ट्रवाद और समाजवाद के मूल रूप में ऐसी कोई विभिन्नता नहीं है जो दूर नहीं की जा सकती हो और यह वास्तव में बहुत बड़ी उपलब्धि थी। फिर भी समाजवादी नेताओं के राजनीतिक व्यवहार और कांग्रेस की व्यवहार शैली में सामंजस्य-सूत्र शिथिल होते चले गए तथा 1947 मे अपने कानपुर अधिवेशन में समाजवादियों ने दल के नाम से 'कांग्रेस' शब्द हटाने तथा 1948 में कांग्रेस को छोड़ देने का निर्णय ले लिया। आगे चलकर 'कृषक मजदूर दल'; 'भारतीय समाजवादी दल' एवं 'प्रजा समाजवादी' दल' आदि नामों से ये समाजवादी नेता राजनीति में क्रियाशील रहे।

स्पष्ट है कि भारत में समाजवादी चिन्तन का विकास यूरोपीय समाजवाद के सन्दर्भ से दो बातों में भिन्न रहा - "प्रथम, भारत में समाजवाद का इतिहास सामाजिक तथा आर्थिक पुनर्निर्माण की एक योजना के रूप में ही नहीं हुआ, बल्कि वह एक क्रूर विदेशी साम्राज्यवाद के बन्धनों से राजनीतिक मुक्ति की एक विचारधारा के रूप में भी विकसित हुआ। 1900 से 1947 तक के काल में भारत में मूल समस्या देश की राजनीतिक स्वतंत्रता की थी और कोई भी लोकप्रिय दल उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता था। दूसरे, भारतीय समाजवादी चिन्तन के लिए यह भी आवश्यक था कि वह खेतिहर-मजदूरों के उद्धार का भी कोई सिद्धान्त और योजना प्रस्तुत करे। पश्चिमी यूरोप से सामन्तवाद का 18वीं शताब्दी तक प्राय: उन्मूलन हो चुका था, किन्तु भारत में सामन्तवाद 20वीं शताब्दी के मध्य तक फलता-फूलता रहा, अत: सामन्ती-अभिजातवर्गीय विशेषाधिकारों पा प्रहार करने का जो काम पश्चिम में पूंजीवादी लोकतंत्र और पूंजीवादी उदारवाद के प्रवर्तकों ने किया था, वह भारत में समाजवादी विचारकों को करना पड़ा। उन्हें पूंजीपतियों के भारी लाभ और समाज की बुनियाद को ही चुनौती नहीं देनी थी, बल्कि भूमिपतियों के लगान तथा भूमि से बिना परिश्रम के होने वाली कमाई का भी विरोध करना था। देश के समाजवादी नेताओं ने प्रारम्भ में अपनी भूमिका प्रभावशाली ढंग से निभाई, लेकिन आगे चलकर वे आपसी फूट के शिकार बन गए और प्रभाव खो बैठे।

भारतीय समाजवादियों की अत्यधिक अस्थिरता के कारण हमें भारतीय समाजवादी साहित्य में वह गहराई और परिपक्वता देखने को नहीं मिलती जो, प्लेखनाव बुखारिन या रोजा लुक्जम्बुर्ग की रचनाओं में पाई जाती है। उनका मौलिक सैद्धान्तिक योगदान नहीं है, किन्तु उनका महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने भारत के खेतिहर, जातिबद्ध तथा अविकसित अर्थतंत्र और राज्यतंत्र के सन्दर्भ में मौलिक समाजवादी चिन्तन की आवश्यकता पर बल दिया है। भारतीय समाजवादियों ने इन तीन प्रमुख समस्याओं पर गम्भीर चिन्तन किया है- अविकसित अर्थतंत्र में किसानों की भूमिका, वर्ग-संघर्ष तथा आर्थिक नियोजन। जर्मन समाजवादी लोकतंत्रवादियो भांति भारतीय समाजवादी भी राजनीतिक स्वतंत्रता तथा आर्थिक पुनर्निर्माण का समन्वय करना चाहते रहे हैं। उन्हें गांधीवाद व भारतीय शासन की लोकतांत्रिक व्यवस्था के प्रभाव के फलस्वरूप संसदीय एवं संवैधानिक तरीकों में विश्वास रहा है। किन्तु पाश्चात्य समाजवादियों के विपरीत वे विकेन्द्रीकरण की धारणा के अधिक उग्र समर्थक हैं। कदाचित विकेन्द्रीकरण पर यह जोर भारतीय समाजवाद को गांधीवाद की विरासत के रूप में मिला है।

11.3.4 राजनीतिक व आर्थिक विकेन्द्रीकरण

भारत के उदारवादी, उग्रवादी और समन्वयवादी सभी विचारकों ने राजनीतिक और प्रशासनिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण की वकालत की। इन्होंने आर्थिक क्षेत्र में भी पर बल दिया। स्वामी दयानन्द ने अपने राज्यतन्त्र की कल्पना में भारत की प्रशासनिक इकाई के रूप में ग्राम को मान्यता देते हुए यह व्यवस्था दी कि दो, तीन. पांच और सौ ग्रामों के एक प्रशासनिक कार्यालय की स्थापना होनी चाहिए। उन्होंने अपने राज्यतन्त्र की जो कल्पना की उसमें प्रशासनिक और आर्थिक क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था के दर्शन होते हैं। एनिबीसेंट ने भारत में ग्राम पंचायतों की स्थापना पर बल दिया और सत्ता के तत्कालीन केन्द्रीकृत रूप से असहमति प्रकट की। महादेव गोविन्द रानाडे ने अत्यधिक केन्द्रीकृत प्रशासन-व्यवस्था का विरोध किया क्योंकि उसमें स्थानीय उपक्रम के लिए कोई स्थान नहीं रहता। रानाडे की दृष्टि में ब्रिटिश केन्द्रीकृत प्रशासनिक व्यवस्था का सबसे बडा दोष यह था कि इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण देश के लिए एक संहिता, एक विधि, एक नीति, एक कर-व्यवस्था और एक ही कार्य-पद्धति थी। रानाडे ने भारत को आर्थिक अवनति से उबारने के लिए औद्योगीकरण का समर्थन किया, लेकिन उद्योगों के केन्द्रीकरण का पक्ष नहीं लिया। दादाभाई नौरोजी ने ब्रिटेन के निरंकुश केन्द्रीकृत शासन को एक 'क्रूर स्वाँग' की संज्ञा देते हुए इसमें आमूल परिवर्तन की मांग की। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने सत्ता के विकेन्द्रीकरण पर प्रहार करते हुए स्थानीय स्वशासन को प्रोत्साहन देने की मांग की। उन्होंने स्थानीय संस्थाओं को सरकारी नियन्त्रण में यथासम्भव अधिकाधिक मुक्त रखने का समर्थन किया। स्थानीय स्वशासन मन्त्री के रूप में उन्होंने स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं को बड़ी सीमा तक लोकतन्त्री रूप दिया। उदारवादी नेताओं में गोपालकृष्ण गोखले ने सत्ता के केन्द्रीकरण का जबरदस्त विरोध किया। उन्होंने कहा कि भारतीयों को उनके अधिकार तभी प्राप्त हुए हैं जब ब्रिटिश सरकार ने सत्ता के विकेन्द्रीकरण की नीति अपनाई। गोखले की मान्यता थी कि सत्ता का केन्द्रीकरण प्रशासकीय निरंकुशता को बढाता है।

उग्रवादी नेताओं ने ब्रिटिश शासन के निरंकुश और केन्द्रीकृत स्वरूप को देश के लिए घातक बताया। लाला लाजपतराय ने मांग की कि भारत में लोकतान्त्रिक प्रतिनिधि संस्थाएँ विकसित की जाएँ, जिनके पास अपने क्षेत्र में समुचित शक्ति हो। उन्होंने कहा कि ब्रिटिश शासन अस्वाभाविक रूप से केन्द्रीकृत, अनियन्त्रित और अलोकतान्त्रिक है। ग्राम स्तर पर स्वायत्त शासन की उन्होंने हिमायत की। विपिन चन्द्र पाल ने ब्रिटिश एकात्मक शासन का इस आधार पर विरोध किया कि यह शासन सामान्यत: अत्यधिक केन्द्रीकृत हो जाता है- इसमें सत्ता के विकेन्द्रीकरण की गुंजाइश नहीं रहती। पाल ने कहा कि स्वतन्त्र भारत में वास्तविक लोकतान्त्रिक शासन स्थापित करने का सर्वोत्तम तरीका यह होगा कि प्रशासन की इकाई एक ग्राम अथवा ग्राम-समुदाय हो, ग्राम प्रशासनों का संघ बना कर जिला प्रशासनों और जिला प्रशासनों के संगठनों से प्रान्तीय प्रशासन तथा प्रान्तीय प्रशासनों को मिलाकर एक अखिल भारतीय संघ की व्यवस्था हो।

महात्मा गांधी ने राजनीतिक-आर्थिक क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण का नैतिक आधार पर समर्थन किया। उनकी मान्यता थी कि केन्द्रीकृत व्यवस्था का आधार बल और हिंसा है। गांधीजी

ने एक आदर्श विकेन्द्रीकृत अहिंसक समाज की कल्पना की। विकेन्द्रीकरण इसलिए आवश्यक है कि केन्द्रीकरण से थोडे-से लोगों के हाथ में शक्ति एकत्र हो जाती है और केन्द्रित शक्ति के दुरुपयोग की सम्भावना रहती है। कोई भी समाज जिस परिमाण में सत्ता का विकेन्द्रीकरण करेगा, उसी परिमाण में वह अलोकतन्त्रीय हो जाएगा। विकेन्द्रित समाज अहिंसावादी होता है जिसमें बल-प्रयोग का नहीं बल्कि नैतिक नियन्त्रण का शासन होता है। गांधीजी ने अपने द्वारा कल्पित आदर्श विकेन्द्रित अहिंसक समाज का चित्र भी प्रस्तुत किया। गांधी के राजनीतिक विकेन्द्रीकरण का सार यह था कि गांवों को अपने कार्यो की व्यवस्था करने में अधिकाधिक स्वतन्त्रता और सुविधा प्राप्त होनी चाहिए। उनके ऊपर राष्ट्रीय अथवा संघीय सरकार का नियन्त्रण न्यूनतम होना चाहिए। यह नियन्त्रण जितना अधिक नैतिक होगा उतना ही अच्छा है। राजनीतिक क्षेत्र में गांधी के विकेन्द्रीकरण सम्बन्धी विचार की आवश्यकता को आजकल पाश्चात्य संसार भी अनुभव कर रहा है। राजसत्ता की निरंकुशता के विरूद्ध बहुलवादी आक्रोश गांधीवादी दर्शन की इस मान्यता के अनुरूप है कि राजसत्ता को सीमित और नियन्त्रित होना चाहिए।

महात्मा गांधी ने आर्थिक क्षेत्र में भी विकेन्द्रीकरण पर जोर दिया। उनका कहना था कि उत्पादन को अनेक स्थानों पर छोटे पैमाने पर शुरू किया जाए, घरों में छोटी-छोटी इकाईयां स्थापित की जाएं। गांधीजी कुटीर ग्रामीण उद्योगों के विकास के पक्ष में थे। विकेन्द्रित व्यवस्था को लोकतन्त्र का जीवन-रक्त समझते थे। रूस की भांति राज्य द्वारा नियन्त्रित अर्थ-व्यवस्था उन्हें रूचिकर नहीं थी। वे उद्योगों में राष्ट्रीयकरण के पक्ष में भी नहीं थे क्योंकि उनका विचार था कि इसमें लोकतन्त्र की समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। गांधीजी ने कहा कि विश्व में जिस हिंसा के हम दर्शन करते हैं उसका एक बहुत बड़ा अंश केन्द्रीकृत ओधोगिक व्यवस्था का ही परिणाम है। गाँधी औधोगीकरण के विरोधी होते हुए भी उस सीमा तक मशीनों के प्रयोग की अनुमति देते थे जहां तक उनसे सामाजिक हितों को हानि न पहुँचे। संक्षेप में, गांधी का विश्वास था कि मानव-सुख का ध्येय जो व्यक्ति के मानसिक-नैतिक-आध्यात्मिक विकास की पूर्ण सुविधा पर निर्भर है, उत्पादन और सत्ता की विकेन्द्रीकृत व्यवस्था में ही प्राप्त हो सकता है।

सर्वोदय विचारक भी समाज की जिस आर्थिक संरचना की बात हैं उसमें विकेन्द्रीकरण का प्रमुख स्थान है। सर्वोदय चिन्तन राजसत्ता का भी अधिकाधिक विकेन्द्रीकरण चाहता है। जयप्रकाश नारायण ने राज्य व्यवस्था का जो ढांचा प्रस्तावित किया है वह पिरामिड की शक्ल का है जिसके आधार में ग्रामसभा है और जिसका शिखर राष्ट्रीय पंचायत है। बीच में क्षेत्रीय पंचायत जिला पंचायत और प्रादेशिक पंचायतें आती है। स्वतन्त्र भारत में पंचायती राज की स्थापना लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण को साकार रूप देने का ही एक प्रशंसनीय और बहुत कुछ सफल प्रयास है।

11.3.5 धर्मनिरपेक्षता

धर्मनिरपेक्षता का अभिप्राय यह है कि हम धर्म के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव न रखें। हम अपने-अपने धर्मो को मानें, लेकिन उन्हें एक-दूसरे पर थोपने की कोशिश न करें।

हम धर्म के प्रति एक निरपेक्ष दृष्टिकोण रखें। धर्म के आधार पर एक-दूसरे से द्वेष न करें। धर्म को मानवता की प्रगति के मार्ग में बाधक न बनाएं। धार्मिक संकीर्णता को पास न फटकने दें। धर्मनिरपेक्ष राज्य वह है जो धर्म से अप्रभावित होता है। ऐसे राज्य में सभी धर्मो के लोगों को किसी भेदभाव के समान अधिकार प्राप्त होते हैं। राज्य, धर्म के नाम पर किसी भी संस्था, समुदाय या शिक्षा-संस्था को सहायता नहीं देता। संविधान अथवा कानून द्वारा किसी धर्म-विशेष को संरक्षण नहीं मिलता पर इसका यह अभिप्राय नहीं है कि धर्मनिरपेक्ष राज्य धर्म-विरोधी या अधार्मिक होता है। इसका अर्थ केवल यही है कि धर्म और राज्य का क्षेत्र अलग-अलग माना जाता है। राज्य का अपना कोई धर्म नहीं होता और वह किसी धर्म-विशेष का समर्थन नहीं करता। धार्मिक मामलों में राज्य की तटस्थता रहती है। हाँ, राज्य धार्मिक स्वतन्त्रता का दुरूपयोग नहीं होने देता, वह धार्मिक अत्याचारों को सहन नहीं करता।

व्यवहार में अनेक कमियों के बावजूद भारत की धर्मनिरपेक्षता लिए गौरव की बात है। धर्मनिरपेक्षता वस्तुत: भारत जैसे बहुलवादी समाज को, जहां विविध भाषाएँ, रीति-रिवाज, मान्यताएँ धर्म, सम्प्रदाय आदि अस्तित्व में हैं, एकता का सम्बल प्रदान करती हैं। यह विचार राष्ट्रीय विकास व उसके प्रति जनमानस की आस्था के प्रतीक रूप में उभरा है।

यह कहा जा सकता है कि मोटे तौर पर धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा ने तीन स्रोतों से अपनी विशेषताएँ ग्रहण की हैं - राज्य एवं धर्म को अलग रखना (यूरोप से), 'नो एसटेब्लिशमेन्ट क्लाज' (राज्य तथा चर्च के बीच एक दीवार खड़ी करने के उद्देश्य से बनाया गया अमेरिकन क्लाज) एवं परम्परागत धार्मिक सहिष्णुता की भारतीय विचारधारा।

धर्मनिरपेक्षता सम्बन्धी भारतीय विचारधारा के अन्तर्गत धर्म एवं धर्मनिरपेक्षता के मध्य कोई टकराव नहीं है। किसी भी व्यक्ति की आत्मानुभूति के लिए धर्म समझा गया है। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने एक बार स्वीकार किया था कि यद्यपि हम धार्मिक अंधविश्वाशों, कुरीतियों एवं कट्टरता की आलोचना करते हैं "तथापि मैं जानता हूँ कि इसमें ऐसा कुछ जरूर है जो सभी मानवों में गहरी आन्तरिक जिज्ञासा को शान्त करता है।" सहिष्णुता के भारतीय विचार का संविधान-सभा के वाद-विवादों के दौरान आमतौर से जिक्र किया गया। पण्डित नेहरू ने संविधान-सभा के सम्मुख जोर देकर कहा कि "एक धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना सबसे अधिक बहुसंख्यक वर्ग की आस्था का प्रश्न है क्योंकि उन्हें ही यह सिद्ध करना है कि वे अल्पसंख्यकों के साथ उदारता, उचित एवं न्यायपूर्ण तरीकों से बर्ताव कर सकते हैं। हमें इसी आस्था पर चलना चाहिए।

अन्त में धर्मनिरपेक्षता का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू और है जिसका उल्लेख संविधान सभा में भी किया गया था। यह तर्क दिया गया था कि धर्मनिरपेक्षता का अर्थ सिर्फ सभी धर्मो के प्रति सहिष्णुता तथा धर्म को राज्य से अलग करने से बढ़कर होना चाहिए। यह महसूस किया गया था कि समय की आवश्यकता यह है कि जातिगत संकीर्ण विचारधारा को त्याग कर व्यापक राष्ट्रीय विचारधारा को अपनाया जाए। यह धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति को अपनी शक्तियां, नैतिक प्रतिबद्धता एवं सामाजिक आदर्शवाद को राष्ट्रीय हित में लगाने के लिए प्रेरित करता है। धर्मनिरपेक्षता के इस राष्ट्रीय एवं आधुनिक पहलू के महत्व को अनदेखा नहीं किया जा सकता।

पण्डित नेहरू ने अपनी कई घोषणाओं में इस विचार का अनुमोदन किया है। उदाहरण के लिए पण्डितजी ने 'आजाद स्मारक' भाषणों में जोर दिया कि समाज को एक ऐसे धर्म की आवश्यकता है जो 'जीवन के उत्कृष्ट पहलुओं' से सम्बन्ध रखता हो, लेकिन कुरीतियों, आडम्बरों एवं रीति-रिवाजों के बार में ऐसा नहीं कहा जा सकता ।धर्मनिरपेक्षता की इसी विचारधारा को ध्यान में रखते हुए भारतीय संविधान ने छुआछूत एवं जातिप्रथा को अवैध घोषित किया है (अनुच्छेद 15,16,17), उपेक्षित वर्गो के लिए हिन्दू मन्दिरों के द्वारों को खोला है। (अनुच्छेद 25:2) तथा राज्य को विशेष निर्देश दिए हैं कि यह सभी व्यक्तिगत कानूनों के स्थान पर एक आम सिविल कोड बनाए (अनुच्छेद 44)।

इस प्रकार भारतीय धर्मनिरपेक्षता तीन लक्ष्य लेकर चली है - धर्म को राज्य से अलग करने पर जोर देना, सभी धर्मो के प्रति सहिष्णुता एवं नैतिकता, तथा राष्ट्रीय एकता से टकराने वाली कुरीतियों, अन्धविश्वासों तथा संकीर्ण जातीय भावनाओं को समाप्त कर इनके स्थान पर एक व्यापक तथा सभी को अपने में आत्मसात कर लेने वाली राष्ट्रीय निष्ठा स्थापित करना।

एक धर्मनिरपेक्ष संविधान वही है जो हमारे संविधान के निर्माताओं ने हमें प्रदान किया। यह एक परम्परा है जिसे अक्षुण बनाए रखकर समृद्ध किया जाना चाहिए। एक धर्मनिरपेक्ष संविधान होना एक अलग बात है और धर्मनिरपेक्ष व्यवस्था का निर्माण करना दूसरी बात है। एक सही धर्मनिरपेक्ष व्यवस्था के निर्माण के लिए व्यापक शिक्षा एवं सहिष्णुता की ऐसी भावना की आवश्यकता है जिसका अर्थ केवल अन्य व्यक्ति के धर्म को सहन करना मात्र ही न होकर हर साथी नागरिक एवं उसके धर्म का ईमानदारी से आदर करना हो। ऐसी राष्ट्रीय निष्ठा उत्पन्न करने के लिए सक्रिय रूप से कार्य किया जाए जो आम व्यक्ति को संकीर्ण निष्ठाओं से ऊपर उठा सके।

बोध प्रश्न-3

प्रश्न: पं. जवाहरलाल नेहरू का मानवतावाद एवं समाजवादी दर्शन किसका प्रतिबिम्ब था ?

उत्तर: .....

.....

11.4 सारांश

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि:

1. आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन सभ्यता के गम्भीर संकट की उपज है।
2. आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन बहुत कुछ अंशों में विद्यमान सामाजिक तथा राजनीतिक वास्तविकता की विभिन्न व्याख्याओं का संघटन तथा स्पष्टीकरण है।
3. भारत का बौद्धिक पुनर्जागरण आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद के उदय का एक महत्वपूर्ण कारण था। इस पुनर्जागरण की प्रक्रिया को एक नये मध्य वर्ग के उदय से भी बल तथा प्रोत्साहन मिला। मध्य वर्ग के लोगों तथा बुद्धिजीवियों का, जिन्होंने भारत की राजनीति में मुख्य भूमिका अदा की है, का पोषण प्रधानत: पाश्चात्य साहित्य से होना बताया जाता है। तथापि भारतीय राष्ट्रवाद तथा स्वातंत्र्य आन्दोलन का इस प्रकार से

निर्वचन करना नितान्त अतिशयोक्तिपूर्ण होगा कि वह पूर्णत: पाश्चात्य आदर्शों तथा पद्धतियों के सांचे में ढला था।

4. पश्चिम की यांत्रिक सभ्यता तथा भारत की धार्मिक- संस्कृतियों के बीच चले संघर्ष से नए भारत का उदय हुआ, प्राचीन ग्रंथों का नये तथा सर्वराष्ट्रवादी दृष्टिकोण से विवेचन किया गया तथा उनमें आधुनिक सिद्धान्तों का बीज ढूंढ निकालने का भी प्रयत्न किया गया।

5. आधुनिक राजनीतिक चिन्तन की प्रमुख अवधारणाएँ तथा सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन का वैचारिक आधार व दर्शन इसी भारतीय राष्ट्रवाद तथा स्वातंष्य आन्दोलन की देन है।

6. इस राजनीतिक चिन्तन में तीन महत्वपूर्ण अवधारणाएँ व उपलब्धियाँ उल्लेखनीय हैं:-

   (i) विश्व राज्यवाद तथा मानव एकता की धारणा

   (ii) मनुष्य की गरिमा तथा अन्तःकरण के उद्धार के आध्यात्मिक प्रयत्न के रूप में गांधीजी का सत्याग्रह का सिद्धान्त तथा राजनीतिक क्षेत्र में उसका सफल क्रियान्वयन।

   (iii) मानवतावादी दर्शन (विशेषकर टैगोर, गांधी, अरविन्द, एम. एन. राय व नेहरू)

11.5 अभ्यास प्रश्न

1. अर्वाचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की पृष्ठभूमि, इसकी विषयवस्तु तथा इसके प्रमुख प्रणेताओं के योगदान की संक्षेप में विवेचना कीजिए।

2. ब्रिटिश साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद के विरूद्ध पनपे आक्रोश सन्दर्भ में उदित भारतीय राष्ट्रवाद, राष्ट्रीय चेतना एवं सांस्कृतिक नवजागरण की समीक्षा कीजिए।

3. सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन के विविध वैचारिक आधारों के परिप्रेक्ष्य में 'सामाजिक न्याय', 'समाजवाद' एवं 'विकेन्द्रीकरण' की अवधारणाओं की व्याख्या करते हुए प्रमुख अर्वाचीन भारतीय राजनीतिक विचारकों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांन्तों को स्पष्ट कीजिए।

4. अर्वाचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की विशेष उपलब्धियों का उल्लेख करते हुए इनकी वर्तमान समय में प्रासंगिकता की विवेचना कीजिए।

11.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ. वी. पी. वर्मा: आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन; लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, 1971

2. ओ. पी. गोयल : स्कन्टेम्पोरेरी इण्डियन पॉलिटिकल थॉट, किताब महल इलाहाबाद, 1965

3. पुरूषोत्तम नागर: आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन, रा.हि.ग्रा.अ., जयपुर, 1999 (छ:ठा संस्करण)

इकाई-12

महात्मा गाँधी

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 जीवन परिचय

12.3 गाँधी चिन्तन पर प्रभाव

12.3.1 पूर्वी प्रभाव

12.3.2 पश्चिमी प्रभाव

12.4 दार्शनिक विचार

12.5 सत्याग्रह

12.6 आर्थिक विचार

12.7 राजनीतिक विचार

12.8 महात्मा गाँधी का राजनीतिक चिन्तन में योगदान

12.9 सारांश

12.10 अभ्यास प्रश्न

12.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

12.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढने के उपरान्त आप जान पायेंगे -

- महात्मा गाँधी के जीवन के बारे में,
- महात्मा गाँधी का महान चिन्तन क्या था,
- महात्मा गाँधी के चिन्तन की विशेषतायें,
- महात्मा गाँधी के चिन्तन की प्रमुख अवधारणाएँ एवं
- महात्मा गाँधी का योगदान।

12.1 प्रस्तावना

महात्मा गाँधी को एक चिन्तक के रूप में प्रस्तुत करने में सबसे बड़ी बाधा यह आती है कि उनका व्यक्तित्व इतना विशाल था कि उनके चिन्तन पर अधिक ध्यान नहीं गया। उनका कथन "मेरा जीवन ही मेरा सन्देश है" उनको चिन्तक के रूप में जानने में बाधक है। जैसा कि अलबर्ट आईस्टीन ने कहा है कि आने वाली पीढ़ियाँ यह विश्वास नहीं करेंगी कि गाँधी जैसा एक हाड़ माँस का मानव पृथ्वी पर रहता था। महात्मा गाँधी की तुलना इतिहास बदलने वाले व्यक्तियों में की जाती है, उन्हें बुद्ध और ईसा जैसे व्यक्तित्व के समान वर्ग में रखा जाता है। महान व्यक्तित्व के धनी होने के कारण तथा समय के सन्दर्भ में हमसे नजदीक होने के कारण विचारक के रूप में उनकी पहचान को बहुत वर्षो तक अधिक महत्व नहीं दिया गया है। 21 वीं

शताब्दी के आरम्भ में आज उनको विकास की एक वैकल्पिक व्यवस्था के जनक के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। आज के सभी समाजिक वैज्ञानिकों को जब भी 'पूँजीवादी', 'भौतिकतावादी', 'इन्द्रियजन्य विकास की अवधारणा' के विकल्प की आवश्यकता होती है, तब महात्मा गाँधी को याद किया जाता है। विश्व में धर्म की स्थापना करने वालों के अलावा किसी भी अन्य व्यक्ति पर इतना अधिक नहीं लिखा गया है और न ही किसी भी व्यक्ति की विपरीत व्यक्तित्व वाले महान लोगों से ही इतनी अधिक तुलना की गई है। महात्मा गाँधी की तुलना (बुद्ध, सन्त फ्रांसिस, लिंकन, सनयायसेन, रूसो, थोरो, मार्क्स और टाल्सटॉय) जैसे व्यक्तियों से की गई है।

उनका व्यक्तित्व भी बहु आयामी था। दक्षिण अफ्रीका में मानव अधिकारों के लिए संघर्ष करने वाला, भारत के जन आन्दोलन का सफलतापूर्वक नेतृत्व करने वाला, सामाजिक बुराइयों जैसे अस्पृश्यता के विरूद्ध युद्ध करने वाला, प्राकृतिक चिकित्सा व स्वस्थ भोजन का प्रयोग करने वाला, समाज सुधारक, महिलाओं को समान दर्जा दिलाने वाला, विभिन्न धर्मो का तुलनात्मक अध्ययन करने वाला, बुद्धिमान प्रचारक, कुशल पेम्फ़लेटर, हजारों व्यक्तियों को नैतिक निर्देशन देने वाला, आश्रम और सामुदायिक जीवन की स्थापना करने वाला और एक संत के रूप में पहचाना जाने वाला व्यक्तित्व महात्मा गाँधी का था। उस भर राजनीतिक गतिविधियों में लिप्त रहने के बावजूद भी जीवन में कभी भी राजनीतिज्ञों द्वारा उनके निर्णय को नियन्त्रित नहीं किया गया। उनके द्वारा लिखे गये लेखन की विस्तृतता इतनी अधिक है कि उसे व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करना असंभव है। उनके द्वारा अपने जीवन में डेढ करोड़ शब्द लिखे गये जिनका 100 ग्रन्थों में संकलन किया गया है। उन्होंने जीवन के हर पहलू पर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। 1933 में. उन्होंने लिखा कि मैंने जो कुछ लिखा है उसमें सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों का समावेश करना आवश्यक है। उन्होंने अपने चिन्तन में विकासात्मक पहलुओं पर जोर दिया। 1939 में उन्होंने लिखा कि, "लिखते समय यह कभी नहीं सोचता हूँ कि इस विषय पर पहले क्या लिखा ? मेरा उद्देश्य अपने पहले लिखे गये वक्तव्यों के प्रति संगतता बनाये रखना नहीं है, अपितु सत्य के प्रति प्रतिबद्धता बनाये रखना है।" उन्होंने अपने चिन्तन में कई अवधारणाओं को जन्म दिया है और पुरानी अवधारणाओं को नये ढंग से प्रस्तुत कर स्वराज, स्वदेशी, सत्याग्रह, सर्वोदय इत्यादि अवधारणाओं को संशोधित किया और लोकप्रिय बनाया। इतना लिखने के पीछे उनकी विस्तृत पठन की प्रवृत्ति थी। 1923 में यर्वदा जेल में 54 वर्ष की आयु में उन्होंने एक साल में 150 पुस्तकों का अध्ययन किया, जिनमें महाभारत, भारतीय दर्शन के सभी छः सम्प्रदायों, मनुस्मृति, उपनिषद्, गीता की सभी टीकाऐं विलियम जेम्स, एच.जी. वेल्स, रूडयार्ड किपलिंग जैसे लेखकों की रचनायें पढीं थी। 1944 में उन्होंने कार्लमार्क्स के 'दास केपिटल' का अध्ययन किया और यह टिप्पणी की कि "मैं यह नही जानता कि मार्क्सवाद सही है या नहीं, लेकिन जब तक गरीब का शोषण होता रहेगा उसके लिए कुछ न कुछ तो करना ही होगा।"

आज विश्व में भारत की पहचान का एक बहुत बड़ा कारण महात्मा गाँधी हैं। महात्मा गाँधी द्वारा किये गये कार्यो और उनके द्वारा बनाये गये सिद्धान्तों का अनुसरण सारे विश्व में

होता है और भारत के नागरिक होने के कारण हमें उनके कार्यो और विचारों के सही परिप्रेक्ष्य को समझना चाहिए और उस पर गर्व करना चाहिये।

12.2 जीवन परिचय

महात्मा गाँधी का जन्म 2 अक्ट्रबर, 1869 को गुजरात प्रांत के पोरबन्दर में हुआ था। इनके पिता करमचंद गाँधी ने 4 शादियाँ की थीं और 3 पत्नियों की मृत्यु के पश्चात् चौथी पत्नी पुतली बाई से उन्हें 3 पुत्र और 1 पुत्री हुए करमचंद गाँधी की पहली पत्नी के भी 2 पुत्रियाँ थी। उनके 3 पुत्रों में सबसे बड़े लक्ष्मीदास 'काला', दूसरे कृष्णदास 'कृष्णिया' और तीसरे मोहनदास 'मोहनिया' थे। तीसरे और सबसे छोटे पुत्र मोहनदास ही महात्मा बने। गाँधीजी जाति से वैश्य थे तथा जूनागढ़ राज्य के कुटियाना जगह से सम्बन्धित थे। गाँधीजी के पडदादा हरजीवन गाँधी ने 1777 में पोरबन्दर में एक मकान खरीदा और व्यापारी के रूप में वे वहाँ स्थापित हुए हरजीवन गाँधी के पुत्र उत्तमचंद (महात्मा गाँधी के दादा) पोरबन्दर के शासक राणा सिंह जी के दीवान नियुक्त हुए 1847 में उत्तमचंद इस राज्य के 28 वर्ष तक दीवान बने रहे। करमचंद गाँधी की शिक्षा बहुत कम हुई थी लेकिन उन्हें राज्य के कार्यो और कार्य निष्पादन का पर्याप्त अनुभव था। उनकी ख्याति एक ईमानदार, प्रतिबद्ध, सक्षम एवं आज्ञाकारी प्रशासक के रूप में थी। महात्मा गाँधी की माता पुतली बाई एक धार्मिक एवं मजबूत महिला थी। वे अनेक व्रतों और उपवासों से मजबूत मनी थी तथा वे आंतरिक रूप से सशक्त महिला थी। महात्मा गाँधी ने माना कि उनके जीवन के व्यक्तित्व में जो कुछ शुद्धता है वह उनकी माता की देन है। महात्मा गाँधी ने 6 वर्ष की उम्र में पढ़ाई आरम्भ की और राजकोट के तालिका स्कूल में शिक्षा प्राप्त की। शिक्षा के आरम्भिक दिनों में वे एक भीरू बच्चे थे और बच्चों से दोस्ती करने की अपेक्षा स्वयं तक सीमित रहते थे। वे प्रकृति से झूठ व फरेब से परे थे। 1887 में महात्मा गाँधी ने मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण की तब तक परिवार के मित्र माउजी दवे ने उन्हें यह सुझाव दिया कि मोहनदास को कानून की शिक्षा प्राप्त करने के लिए इंग्लैण्ड जाना चाहिए ताकि वे बैरिस्टर बन सकें और वापसी में अपने पिता का स्थान ले सकें।

4 सितम्बर, 1888 को वे पानी के जहाज से इंग्लैण्ड के लिए रवाना हो गये। 3 वर्ष तक उन्होंने इंग्लैण्ड में रहकर कानून की शिक्षा प्राप्त की और पुन: भारत लौट आये। उन्होंने भारत में वकालात करने की कोशिश की लेकिन वे अधिक सफल नहीं हुए उनमें सार्वजनिक भाषण देने की कला का अभाव था और वे न्यायालय के जज के समक्ष अपने तर्को को सही प्रकार से प्रस्तुत नहीं कर पा रहे थे। ऐसे समय उन्हें दक्षिण अफ्रीका जाने का न्योता मिला। दक्षिण अफ्रीका में एक मुस्लिम भारतीय व्यापारी अब्दुला ने उन्हें अपना मुकदमा लड़ने के लिए आमंत्रित किया। मई 1893 में महात्मा गाँधी डरबन में पहुँचे। वहाँ एक रेल यात्रा के दौरान उन्हें रंगभेद का सामना करना पड़ा और इस रंगभेद की नीति को उन्होंने बाद में कई स्थानों पर एक भयावह रूप में देखा। धीरे-धीरे महात्मा गाँधी ने दक्षिण अफ्रीका सरकार की रंगभेद नीतियों के विरूद्ध बढ़ती जनचेतना को संगठित रूप प्रदान किया। दक्षिण अफ्रीका में महात्मा गाँधी 1915 तक रहे और इस बीच उन्होंने न केवल अपनी राजनीति को विकसित किया अपितु राजनीतिक संगठन बनाया, राजनीतिक विरोध के स्वरूप का निर्धारण किया तथा वे राजनीतिक

विरोध को जनता और विश्व के कौने-कौने तक फैलाने में सफल रहे। राजनीति में सफल होने के बावजूद उन्होंने स्वयं के साथ प्रयोग करना नहीं छोड़ा। इसे उन्होंने "सत्य के साथ मेरे प्रयोग" नाम दिया। यह 1925 में उनके द्वारा लिखी गई आत्मकथा का शीर्षक भी था। दक्षिण अफ्रीका के प्रवास के दौरान उन्होंने हड़तालें की, अहिंसात्मक संघर्ष किया, कई अखबार निकाले, आश्रमों की स्थापना की और एक पेष्फलेटर के रूप में ख्याति प्राप्त की। इसी दौरान उन्होंने अपनी दार्शनिक सोच को पहली बार स्वयं की पुस्तक "हिन्द स्वराज्य" में प्रस्तुत किया। महात्मा गाँधी ने 1909 में इस पुस्तक की रचना की थी। यह पुस्तक 20 छोटे-छोटे अध्यायों में विभक्त है। 11 अध्यायों में उस समय के इतिहास के परिप्रेक्ष्य में टिप्पणियाँ हैं, बाकी में दार्शनिक प्रश्नों पर टिप्पणियाँ हैं। यह पुस्तक इंग्लैण्ड से दक्षिण अफ्रीका जाते समय जहाज पर (13 नवम्बर 1909 से 22 नवम्बर, 1909 तक) दस दिनों के भीतर गुजराती भाषा में लिखी गयी। आज इस पुस्तक को आधुनिकता के संदर्भ में प्रमुख समीक्षात्मक पुस्तक के रूप में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

1915 में भारत लौटने के पश्चात् महात्मा गाँधी ने 1947 तक भारतीय राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। 1920 से 1947 का समय गाँधी युग के रूप में जाना जाता है। भारत आने के पश्चात् गाँधीजी ने गोपाल कृष्ण गोखले की सलाह पर एक वर्ष तक भारत का दौरा किया, जिससे कि वह भारत के आम आदमियों की सभी समस्याओं को जान सके और भारतीय समाज के बारे में समझ सकें। भारत में आने से पूर्व उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में सत्ता के विरोध का एक नया और सफल हथियार "सत्याग्रह" खोज लिया था। भारत की आजादी की लडाई में इसका सफलतापूर्वक प्रयोग किया गया। भारत में महात्मा गाँधी ने कई आन्दोलनों को सफलतापूर्वक नेतृत्व प्रदान किया। इसमें सबसे पहला व विशाल आन्दोलन 1917 में चम्पारण में हुआ। उसके पश्चात् 1919 का खिलाफत आन्दोलन, 1920, का असहयोग आन्दोलन, 1930 का नमक सत्याग्रह आन्दोलन एवं सविनय अवज्ञा आन्दोलन, 1942 का भारत छोड़ो आन्दोलन आदि प्रमुख हैं। महात्मा गाँधी द्वारा भारत में किये गये इन आन्दोलनों के विस्तार में न जाते हुए हम यह कह सकते हैं कि कुछ प्रवृतियों इन आन्दोलनों को विशिष्टता प्रदान करती हैं।

(1) महात्मा गाँधी ने राष्ट्रीय आन्दोलन की राजनीतिक चेतना को सकारात्मक रूप से जानने व संगठित करने का अभूतपूर्व कार्य किया।

(2) इन आन्दोलनों के माध्यम से राजनीति से आम आदमी को जोड़ने का प्रयास किया। उन्होंने अंग्रेजी के बजाय हिन्दुस्तानी भाषा का प्रयोग, खादी का प्रचलन, महिलाओं को आन्दोलन से जोड़ना, भारतीय पूँजीपतियों का सहयोग और अन्तर्राष्ट्रीय जगत को निरन्तर अखबारों के माध्यम से अपने कार्यो से प्रभावित किया।

(3) राष्ट्रीय आन्दोलन के सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक दल कांग्रेस को जनतांत्रिक संगठन बनाया और कांग्रेस की सदस्यता के लिए बनाये गये नियमों का

निरूपण किया जो आज भी दल का सदस्य बनाने के लिए आवश्यक नियम माने जाते हैं।

(4) इन आन्दोलनों में नेतृत्व देने की एक नई शैली विकसित की जिसमें नेतृत्व और सामान्य जनता के भेद को समाप्त किया। वे मेक्स वेबर के करिश्माई नेतृत्व का जीता जागता उदाहरण हैं।

1947 में भारत के स्वतंत्र होने के समय देश के बँटवारे के कारण साम्प्रदायिक दंगे हो रहे थे। 15 अगस्त 1947 को भारत आजादी के जश्न में डूबा हुआ था। महात्मा गाँधी आजादी का जश्न न मनाकर बंगाल में नौआखली में साम्प्रदायिक दंगे रोकने में लगे हुए थे। 30 जनवरी, 1948 को उनकी हत्या कर दी गई। उनका जीवन एक संत का जीवन था और उनका यह कहना सही था कि उनका जीवन ही उनका संदेश है। महात्मा गाँधी के कई वक्तव्य दुनिया भर में बार-बार उद्धृत किये जाते हैं। किसी भी नीतिगत निर्णय करने के बारे में भ्रम पैदा हो रहा हो तो उसका एकमात्र तरीका (मापदण्ड) यह है कि निर्णयकर्ता निर्णय लेने से पूर्व अपनी ऑखें बंद कर के सोचे कि क्या इस निर्णय से किसी गरीब की आँख का आँसू पुछ जाएगा ? अगर ऐसा है तो वह निर्णय सही है। इस्तई प्रकार आज पर्यावरण की रक्षा के बारे में चिन्तित लोगों के बारे में गाँधीजी का मंत्र था कि पृथ्वी के पास सभी मनुष्यों की आवश्यकताओं को पूरा करने की क्षमता है परन्तु किसी एक व्यक्ति के लालच को पूर्ण करने की उसमें सामर्थ्य नहीं है। इसलिए विकास की यात्रा का आधार मनुष्य की आवश्यकता होनी चाहिए, लालच नहीं।

12.3 गाँधी चिन्तन पर प्रभाव

महात्मा गाँधी ने अपना बचपन भारत में बिताया तथा वे कानून जी शिक्षा प्राप्त करने के लिए इंग्लैण्ड गये थे। उनका कार्यक्षेत्र 20 वर्षा तक दक्षिण अफ्रीका रहा। 1915 में भारत लौटने के पश्चात् अपनी मृत्यु तक वे भारत में रहे और भारत की आजादी के लिए काम करते रहे। अपने जीवन में उन्होंने कई नये अनुभव प्राप्त किये, उनमें अनुभवों से सीखने की अदभुत क्षमता थी। उन्होंने किसी भी अनुभव को न सीखने योग्य नहीं माना। उन्होंने न केवल अपने के अनुभवों से जो कुछ सीखा उसे अपने विचारों में ढाल दिया, अपितु उसे जीवन में भी उतारने की कोशिश की। कर्म और चिन्तन के इस सटीक सम्मिश्रण से उनका चिन्तन अनुभवजन्य और आदर्शवादी सिद्ध हुआ। अपने बचपन में उन्होंने भी किसी भी सामान्य हिन्दू परिवार के बच्चों की तरह राम, कृष्ण, महाभारत एवं पुराणों की कथाएँ सुनी। भारतीय संस्कृतियों के मूल्यों से ओतप्रोत इन कथाओं ने उन्हें प्रेरणा दी। बचपन का प्रभाव था कि वे उम्र भर राम को अपना आदर्श मानते रहे थे। उन्होंने राम नाम' को एक अद्भुत आंतरिक शक्ति प्रदान करने वाला प्रकाश पुंज माना।

उनका परिवार एक वैष्णव परिवार था। इसलिए भक्ति और संतो का उन पर काफी प्रभाव पड़ा। जिसमें नरसिंह मेहता का सुप्रिय भजन "वैष्णव जन तो तेने, जे पीर पराई जानी रे" उनका सर्वाधिक प्रिय था। महात्मा गाँधी अपनी युवावस्था में जैन धर्म से भी काफी प्रभावित हुए और इंग्लैण्ड जाने पर उन्होंने ईसाई धर्म को भी समझने का प्रयास किया दक्षिण अफ्रीका में उनके यहूदी और अंग्रेज मित्र भी बने तथा वहाँ मुस्लिम मित्रों ने भी उनका साथ निभाया। इस

प्रकार वे अनेक धर्मो व संस्कृतियों के माध्यम से विभिन्न व्यक्तियों के सम्पर्क में और उनसे कुछ न कुछ बात ग्रहण की। उनके चिन्तन पर पड़ने वाले प्रभावों को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं :-

12.3.1 पूर्वी प्रभाव

1. पूर्वी धार्मिक प्रभाव :- महात्मा गाँधी के जीवन पर हिन्दू धर्म, विशेष रूप से वैष्णव धर्म का प्रभाव पडा। उन्होंने सारी उम्र स्वयं को एक हिन्दू मानने पर बल दिया। उनका कहना था कि एक अच्छा हिन्दू ही एक अच्छा मुस्लिम व अच्छा ईसाई हो सकता है अच्छा धार्मिक व्यक्ति बन सकता है।

हिन्दू धर्म में भक्त परम्परा को गाँधीजी ने सबसे अधिक महत्व दिया और उसका प्रभाव उन पर यह पडा कि उन्होंने अपना व्यवहार सयंत बनाए रखा और स्वयं के अहंकार पर भी नियन्त्रण रखा। हिन्दू धर्म के अलावा जैन धर्म उनके जीवन में बहुत महत्वपूर्ण था। अहिंसा का सबसे अधिक महत्व जैन धर्म में ही है। महात्मा गाँधी ने धर्म के अलावा जीवन के सभी पहलुओं में अहिंसा को महत्व दिया है। महात्मा गाँधी के योगदान का विशेष महत्व अहिंसा को राजनीति के क्षेत्र में प्रयोग करना था। गाँधी का धर्म नैतिकता से पूर्ण था। उनका अहिंसा के प्रति लगाव जीवन के सभी क्षेत्रों में परिलक्षित होता था। गाँधी जी इस्लाम के समानता के सिद्धान्त से भी प्रभावित थे। वे एक मुस्लिम व्यापारी का मुकदमा लड़ने के लिए दक्षिण अफ्रीका गये थे।

2. पूर्वी गैर धार्मिक प्रभाव :- महात्मा गाँधी अपने समय के कई व्यक्तियों के कार्यो एवं चिन्तन से प्रभावित थे। जिसमें प्रमुखत: गोपालकृष्ण गोखले का नाम आता है, जिन्हें उन्होंने अपना राजनीतिक गुरू माना। महात्मा गाँधी ने गोपालकृष्ण गोखले की तरह अंग्रेजी कानून का अध्ययन किया और उसमें विशिष्टता प्राप्त की। गोपालकृष्ण गोखले की तरह उन्होने माना कि समस्याओं का समाधान जहाँ तक हो सके संवैधानिक तरीकों से किया जाना चाहिए और यदि शासन का विरोध करना हो तो संवैधानिक तरीकों से ही विरोध करना चाहिए जैसे ज्ञापन आदि प्रस्तुत करना, सार्वजनिक सुझाव तथा अखबारों के माध्यम से विचारों को व्यक्त करना इत्यादि शामिल हैं। इन सभी तरीकों के माध्यम से सरकार से, अपनी बात मनवाने का प्रयास किया जाना चाहिए तथा आन्दोलन करने से पूर्व सभी प्रकार के संवैधानिक प्रयास करने चाहिये। महात्मा गाँधी अवज्ञा और आन्दोलन करने के बावजूद मानते थे कि विरोधी पक्ष से बातचीत करने के दरवाजे हमेशा खुले रखने चाहिए। महात्मा गाँधी गोपालकृष्ण गोखले के विचारों से प्रभावित थे किन्तु वे गोपालकृष्ण गोखले से कुछ कदम आगे थे। उन पर उग्रवादी प्रभाव भी पड़ा। वे अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए कानून भंग करने को भी तैयार थे। तिलक द्वारा लोकप्रिय बनाये गये स्वदेशी तथा स्वराज के नारों को आत्मसात कर उन्होंने अपने आन्दोलन को सार्थक बनाया। उन्होंने माना कि तिलक ने राजनीति को एक जन आन्दोलन के रूप में सर्व व्यापकता प्रदान की, इसी कारण तिलक की मृत्यु के पश्चात् गाँधीजी भारत में जन आन्दोलन के प्रतीक बन गए।

12.3.2 पश्चिमी प्रभाव

1. पश्चिमी धार्मिक प्रभाव - 1888 में इंग्लैंड जाने पर महात्मा गाँधी अंग्रेजी सभ्यता के नजदीक आये और प्रारंभ में उन्होंने अंग्रेजी सभ्यता के अनुरूप अपने आपको ढालने का प्रयास किया। लेकिन शीघ्र ही उनका अंग्रेजी सभ्यता से मोह भंग हो गया। ईसा के इस सन्देश से कि अगर तुम्हारे दीये गाल पर कोई थप्पड़ मारे तो बाँया गाल भी उसके आगे कर दो, से गाँधीजी काफी प्रभावित थे। ईसाई धर्म के सामाजिक सुधार के सन्देश से वे काफी प्रभावित थे। कुछ लेखकों ने उन्हें एक सुधारवादी ईसाई बताया है।

2. पश्चिमी गैर धार्मिक प्रभाव:- महात्मा गाँधी ने अपनी आत्मकथा में जिन प्रमुख पुस्तकों का उल्लेख किया है, वे तीन पश्चिमी विचारकों द्वारा लिखित हैं:-

पहली पुस्तक रूसी विचारक :टाल्सॅटाय की "दि किगंडम ऑफ गॉड हज विदड़न यूं" है, इस पुस्तक में उन्होंने प्रेम का सन्देश दिया है।

दूसरी पुस्तक रस्किन की "अन टू दिस लास्ट" है, जिसका उन्होंने गुजराती में सर्वोदय नाम से अनुवाद किया। इस पुस्तक से गाँधीजी ने 3 शिक्षाऐ प्राप्त की:-

प्रथम, सभी के हित में खुद का हित।

द्वितीय, एक वकील का कार्य और एक नाई का कार्य समान है क्योंकि प्रत्येक को अपना जीवन यापन करने का समान अधिकार है।

तृतीय, एक श्रमिक का जीवन ही सबसे अच्छा जीवन है।

तीसरी पुस्तक थी हेनरी डेविड थोरो की - "ऐसेज ऑन सिविल डिस ओबिडियेन्स" इस पुस्तक में उन्होंने राज्य का विरोध करने के आन्दोलन का स्वरूप पहचाना तथा कुछ वर्षा तक वे सविनय अवज्ञा के नाम से अपना आन्दोलन चलाते रहे।

इन महत्वपूर्ण पुस्तकों के अलावा महात्मा गाँधी ने 20वी शताब्दी के प्रारम्भ में प्रचलित लगभग सभी पश्चिमी विचार धाराओं का अध्ययन किया और उन पर अपनी स्वतंत्र टीका-टिप्पणी की। उन्होंने समाजवाद, साम्यवाद, लोकतंत्र, उदारवाद इत्यादि सभी पर अपनी टिप्पणियाँ लिखी हैं। बेन्थम के उपयोगितावाद के वे कटु आलोचक थे। गाँधीजी के अध्ययन का दायरा भी बहुत विस्तृत था। इसलिये उन्होंने अपने जीवन काल में बहुत लिखा है। निरन्तर अध्ययनरत रहने के कारण ही उन्होंने लगभग सभी विषयों पर अपने विचारों की अभिव्यक्ति की।

बोध प्रश्न-1

प्रश्न: गाँधी चिन्तन पर पड़ने वाले प्रभाव बतलाइये।

उत्तर .....

.....

12.4 दार्शनिक विचार

सबसे पहले गोपीनाथ धवन ने महात्मा गाँधी के जीवनकाल के अन्तगर्त सन् 1944 में उनके राजनीतिक दर्शन पर पहला शोध प्रस्तुत किया, जो बाद में "पोलिटिकल फिलोसोफी ऑफ

महात्मा गाँधी" के नाम से प्रकाशित हुआ। 50 के दशक में जोन वी. बोदूरां ने महात्मा गाँधी के सत्याग्रह की तकनीक को द्वन्द्वात्मिकता के सिद्धान्त से समझने का प्रयास किया और उसकी तुलना मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मिकता से की है। 60 के दशक में जब महात्मा गाँधी द्वारा रचित लेखन का भारत सरकार द्वारा संकलन किया गया, तब 1969 में उनके द्वारा लिखित साहित्य को सम्पूर्ण गाँधी वांड्मय के रूप में प्रकाशित किया गया जिसमें 100 ग्रन्थ थे। तब पहली बार शोधकर्ताओं को गाँधी के विचारों का संकलन मिला। 1960 के दशक में ही विश्व में आये नवीन परिवर्तनों, विशेष रूप से पूँजीवादी प्रभुत्व और आधुनिकता की तानाशाही प्रवृति के विरूद्ध आन्दोलन आरम्भ हुआ तथा नये आजाद हुए देशों ने भी अपनी आवाज को बुलन्द करना आरंभ किया। ऐसे समय में गाँधीजी, के विचारों पर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ और उनके विचारों को व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करने की कोशिश की गयी इनमें राघवन अय्यर, बुद्धदेव भट्टाचार्य, बी.एन गांगुली, रामाश्रेय राय इत्यादि प्रमुख हैं, जिन्होंने 70 के दशक में गाँधी को एक विचारक के रूप में प्रस्तुत किया और उन्हें किसी भी अन्य विचारक के समकक्ष प्रबुद्ध, व्यवस्थित-वैकल्पिक विचार देने वाला दार्शनिक बताया। 80-90 के दशक में गाँधी के विचारों की तुलना समकालीन पश्चिमी विचारधाराओं से की गई। रिचर्डऐटेनबेरो ने गाँधी फिल्म से 80 के दशक में गाँधी का महत्व बताया है। जिन लेखकों ने गाँधी को इस आधुनिक समाज में प्रासंगिक तथा इनके विचारों को समसामयिक महत्व का बताया, उनमें प्रमुख है- भीखू पारेख, रोनाल्ड स्चर्क थॉमस पेन्थम, वी.आर मेहता, नरेश दाधीच, मार्गरेट चटर्जी, डगलस एलन इत्यादि।

आज गाँधीजी को एक दार्शनिक के रूप में माना जाता है तथा उनके विचारों के आधार पर उत्तर आधुनिक / आधुनिक वैकल्पिक विवाद निवारण, वैकल्पिक, सोच, पर्यावरण, नारीवाद इत्यादि के सन्दर्भ में परीक्षण कर रहे हैं।

गाँधीजी को धीरेन्द्र मोहन दत्त वैष्णव दार्शनिक मानते हैं। हालांकि गाँधीजी ईश्वर को वैयक्तिक न मानकर उसको विचार और विधि का स्वरूप मानते हैं। गाँधीजी मानते हैं कि ईश्वर को परिभाषित करना असंभव है, लेकिन हम उसके अस्तित्व को महसूस कर सकते हैं। गाँधी ईश्वर को सत्य के रूप में भी परिभाषित करते हैं। 1925 में उन्होंने कहा कि ईश्वर और सत्य दोनों एक दूसरे की परिवर्तनीय इकाईयाँ हैं। 1931 में स्विटजरलैण्ड में गाँधीजी ने कहा कि 'ईश्वर सत्य है की अपेक्षा सत्य ईश्वर है' कहना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि अनीश्वरवादी के लिए इसे अपनाना अधिक सुविधाजनक होगा। गाँधीजी ईश्वर की सत्ता का विवेक से संचालन नहीं करना चाहते थे। यह ब्रह्मांड नियमों से चल रहा है और उन नियमों को बनाने और लागू करने कार्य ईश्वरीय सत्ता के अलावा कोई नहीं कर सकता। रोम्याँ रोलाँ उन्हें एक रहस्यवादी मानते हैं क्योंकि गाँधीजी किसी भी निर्णय को लेने से पूर्व अपने अन्दर की आवाज का हवाला देते थे और की आवाज उन्हें सही रास्ते पर ले जाती थी। महात्मा गाँधी ने अपने जीवन में तप के द्वारा व्यक्तित्व को इतना शुद्ध बना लिया था कि उनकी आवाज में ईश्वर की आवाज का आभास होता था। दार्शनिक सिद्धान्त में महात्मा गाँधी सत्य और अहिंसा को सर्वाधिक महत्व देते थे।

सत्य

महात्मा गाँधी का चिंतन सत्य और अहिंसा पर आधारित है। उनके अनुसार वास्तविकता में केवल सत्य का अस्तित्व है। उनके सत्य की अवधारणा सैद्धान्तिक स्तर पर प्लेटो के नजदीक मानी जा सकती है, लेकिन यथार्थ में अस्तित्ववाद के नजदीक है। यूनानी विचारकों ने सत्य को सबसे महत्वपूर्ण अवधारणा माना है जिसकी परछाई इस दुनिया में यथार्थ के रूप इन्हीं निर्मित सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में है। व्यक्ति को उसके जीवन में सत्य तक पहुँचने का प्रयास करना चाहिए। महात्मा गाँधी इस निरपेक्ष सत्य को स्वीकार करते हैं, क्योंकि अस्तित्व निरपेक्ष है। लेकिन उस निरपेक्ष सत्य को व्यक्ति के सत्य में मिलने का आधार व्यक्ति की चेतना का सर्वोच्च स्तर को प्राप्त करना है। जब तक ऐसा न हो व्यक्ति के सत्य को सापेक्षवादी सत्य माना जायेगा और हर व्यक्ति का सत्य ही उसका अन्तिम सत्य होगा। यह धारणा अस्तित्ववादी धारणा से मिलती जुलती है। निरपेक्ष सत्य को आत्मसात् करने के लिए महात्मा गाँधी ने अपने स्व को निरन्तर प्रयोगों के द्वारा तथा तप के माध्यम से उच्च चेतना युक्त बनाया। इसीलिए गाँधी ने व्रत, उपवास, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह आदि को अपनाने पर बल दिया है जिससे व्यक्ति की आवाज बन सके। इस प्रकार वे निरपेक्ष सत्य के पराभौतिक विचार और सापेक्ष सत्य के यथार्थवादी विचार का सम्मिश्रण प्रस्तुत करते हैं वे सत्य को केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में ही महत्व नहीं देते है बल्कि राजनीतिक क्षेत्र में भी इसे बनाये रखना चाहते है। उनके अनुसार राजनीति और समाज में किये जाने वाले कार्यो में सत्य परिभाषित होना चाहिये। सत्य के अभाव में मनुष्य उद्देश्यहीन हो जाता है और अपने कार्यो से समाज का हित नहीं कर पाता है।

अहिंसा

महात्मा गाँधी की पहचान उनकी अहिंसा के प्रति प्रतिबद्धता के कारण है। उन्होंने मानव इतिहास में पहली बार राजनीतिक क्षेत्र में अंहिसा का उपयोग सफलतापूर्वक किया है। उन्होंने संघर्ष निवारण के लिए अहिंसा का प्रयोग किया, जिसे विश्व में संघर्ष निवारण के लिए स्वीकार्य और सफल तकनीक माना जाता है। साधारणतया अहिंसा का अर्थ चोट न पहुँचाना और हत्या न करना माना जाता है। विस्तृत स्वरूप देने पर इसका अर्थ, किसी जीव को मन, वचन और कर्म से दुःख नहीं पहुँचाना है। अहिंसा हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म और जैन धर्म में किसी न किसी रूप में आवश्यक तत्व है। मोक्ष प्राप्त करने के लिए पातंजलि जैसे योग शास्त्रियों ने इसे आवश्यक माना है। जैन धर्म में इसको अत्यधिक महत्व दिया गया है और हिंसा को कई श्रेणियों में जैसे आरम्भ भज और अनारंभ भज यानि जान बूझकर या अनजाने में की जाने वाली हिंसा के रूप में देखा जाता है। जैन धर्म में व्यवहार में भी इसे लागू करने पर बल दिया जाता है। बौद्ध धर्म में प्रत्येक साधू के लिए अहिंसा का पालन करना आवश्यक है। महात्मा गाँधी ने टॉल्सटॉय की पुस्तक से अहिंसा के सार्वजनिक महत्व को जाना और बाद में भारतीय परम्परा में अहिंसा के कई उदाहरणों से इसका महत्व समझा, जैसे पौराणिक कथा में भक्त प्रहलाद के उदाहरण में उन्होंने गीता को व्याख्या करते हुए इसे अहिंसक नथ के रूप में प्रस्तुत किया। महात्मा गाँधी ने 1916 में अहिंसा में नकारात्मक और सकारात्मक भेद प्रस्तुत किया, उनके अनुसार अहिंसा का अर्थ है किसी भी जीव को शारीरिक या मानसिक रूप में पीड़ा न पहुँचानाा इसके सकारात्मक रूप में है प्रेम और दान। सकारात्मक रूप में अहिंसा की पालना करने पर व्यक्ति को अपने शत्रु

से प्रेम करना आवश्यक है तथा ऐसी अहिंसा सत्य और अभय को सम्मिलित करती है। इस प्रकार महात्मा गाँधी की अहिंसा का अर्थ नकारात्मक पक्ष तक सीमित नहीं था। वे अहिंसा के सकारात्मक पक्ष को अधिक महत्व देते हैं जिसमें अपने विरोधी को प्रेम करना सम्मिलित है और इसी कारण वे यह मानते थे कि पाप से घृणा करो पापी से नहीं। उनका दृढ़ विश्वास था कि अहिंसा न केवल सार्वभौमिक रूप से लागू की जा सकती है अपितु यह अंतिम रूप से सही सिद्ध होती है। इसका उपयोग करने वाला ही अंतिम विजय प्राप्त करता है। उनकी यह मान्यता थी कि मनुष्य मूलत: देवीय स्वरूप होता है, पर उसमें पशुता के अंश मौजूद है और इसलिए हिंसा करना बहुधा मनुष्य का स्वभाव बन जाता है। लेकिन वे यह भी मानत थे कि निरन्तर प्रयास से मनुष्य अपने जीवन में बहुत कुछ हद तक अहिंसक बना रह सकता है। सत्य और असत्य, हिंसा और अहिंसा की लड़ाई मनुष्य तथा समाज में निरन्तर चलती रहती है। महात्मा गाँधी के अनुसार अहिंसा तीन तरह की हो सकती है :-

1. कायरों की अहिंसा, जो दुर्बलता के कारण हिंसा का सहारा नहीं ले सकता।
2. राजनीतिक तरीके के रूप में अहिंसा का प्रयोग।
3. अहिंसा के प्रति आत्म प्रतिबद्धता, जो आत्मानुशासन व आत्मानुभूति से आती है।

गाँधी कायर की अहिंसा को अहिंसा नहीं मानते हैं। राजनीतिक़ या सामाजिक क्षेत्र में सफलता के लिए की जाने वाली अहिंसा सर्वश्रेष्ठ नहीं है, जब तक मनुष्य आंतरिक रूप से अहिंसा के प्रति प्रतिबद्ध न हो, तब तक सर्वश्रेष्ठ अहिंसा दृष्टिगत नहीं हो सकती है। गाँधीजी ने व्यावहारिक अहिंसा को चार क्षेत्रों में इंगित किया है :-

1. सत्ता के विरूद्ध अहिंसा का प्रयोग।
2. आंतरिक उपद्रवों के मध्य अहिंसा का प्रयोग।
3. बाह्य आक्रमण में अहिंसा का प्रयोग
4. घरेलू क्षेत्र में अहिंसा का प्रयोग।

12.5 सत्याग्रह

राजनीतिक दर्शन में महात्मा गाँधी की प्रमुख देन थी-सत्याग्रह। सत्याग्रह का शाब्दिक अर्थ है सत्य के प्रति आग्रह। सत्य के प्रति यह आग्रह व्यक्ति को शक्तिशाली बनाता है। इस आग्रह को बनाये रखने के लिए एक मात्र साधन है-अहिंसा। दक्षिण अफ्रीका में सरकार का प्रतिरोध करते समय महात्मा गाँधी ने अपने आन्दोलन को निष्क्रिय प्रतिरोध का नाम दिया था। धीरे-धीरे महात्मा गाँधी को यह अहसास हुआ कि उनके द्वारा चलाया गया आन्दोलन निष्क्रिय शब्द से पूर्णतया नहीं समझा जा सकता क्योंकि उनके आन्दोलन में कुछ विशेषताएँ ऐसी थीं जो उसे निष्क्रिय प्रतिरोध से अलग करती थीं। महात्मा गाँधी का सविनय अवज्ञा आन्दोलन उनके सच्चे भाव और उनके ठोस सिद्धान्त पर आधारित था जिसमें तिरस्कार नहीं था। निष्किय प्रतिरोध कमजोरों का हथियार माना जाता था। महात्मा गाँधी के जीवन में हिंसा की कोई गुंजाइश नहीं थी। अपने आन्दोलन को अवधारणात्मक पहचान देने के लिए गाँधीजी ने अपने पत्र "इंडियन ओपिनियन" में पाठकों से इस बारे में सुझाव मांगे। मगनलाल गाँधी ने ''सत्याग्रह'' शब्द सुझाया। गाँधीजी ने इसको व्यापक बनाते हुए अपने आन्दोलन का नाम "सत्याग्रह" दिया।

यह दो शब्दों से मिलकर बना। है- सत्य+आग्रह यानि सत्य के प्रति आग्रह और यह आग्रह अहिंसा के बिना संभव नहीं है। आज सारी दुनिया में अहिंसक प्रतिरोध को सत्याग्रह के नाम से जाना जाता है। गाँधी जी ने दक्षिण अफ्रीका, में किये गये आन्दोलनों के इतिहास को "सत्याग्रह का इतिहास" नामक पुस्तक में वर्णित किया है। गाँधीजी सत्याग्रह को एक क्रमिक विकास के रूप में देखते थे। उनके अनुसार व्यक्ति स्वयं को तप के द्वारा उत्कृष्ट बनाने के लिए निरन्तर कोशिश करता है तथा चेतना के उच्च स्तर को प्राप्त करता है। वह निष्किय प्रतिरोध को निर्बलों का हथियार मानते थे और सत्याग्रह को बलवानों का अस्त्र मानते थे, इसमें अहिंसा आवश्यक तत्व थी। सत्याग्रह का उद्देश्य सत्य को प्राप्त करना है और उसे किसी भी कीमत पर त्यागा नहीं जा सकता। सत्याग्रह का प्रयोग करने वाला और कानून का विरोध करने वाला हर व्यक्ति परेशानी झेलने को तैयार रहता है। वास्तव में सत्याग्रही कानून की पालना करने वाला होता है और वे उसी कानून के विरोध की बात करते हैं जो नैतिकता का विरोधी होता है। गाँधी जी के लिए नैतिकता सर्वोच्च थी। सत्याग्रह के व्यावहारिक पक्ष को स्पष्ट करते हुए गाँधी जी मानते थे कि सत्याग्रह करने वाले को अपनी मूल माँगों से आगे नहीं बढ़ना चाहिए। उनका विचार था कि सत्याग्रह से प्राप्त सफलता को बनाये रखने के लिए निरन्तर सत्याग्रही बने रहना आवश्यक हे।

हेनरी डेविड थोरो के विचारों से प्रभावित होते हुए गाँधीजी मानते थे कि व्यक्ति सबसे पहले है और उसको नैतिक मूल्यों को बनाये रखने के लिए हमेशा संघर्षरत रहना चाहिए। अपने अधिकारों की रक्षा के लिए सविनय अवज्ञा आन्दोलन का प्रयोग करना चाहिए और इसके परिणाम को भुगतने के लिए तैयार रहना चाहिए। गाँधीजी के अनुसार व्यक्तिगत हितों के लिए सत्याग्रह नहीं करना चाहिए, सत्याग्रह का प्रयोग हमेशा जन- हिताय, जन-सुखाय होना चाहिए। सत्याग्रह का प्रयोग करते समय भी महात्मा गाँधी विरोधी पक्ष से निरन्तर बात- चीत करने पर बल देते थे और सभी प्रयासों में विफल होने पर ही सत्याग्रह प्रयुक्त करने की सलाह देते थे। सत्याग्रह आरम्भ करने से पूर्व सत्याग्रही को लोकमत अपने पक्ष में करना चाहिए। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जिन बुराईयों के विरूद्ध वह संघर्ष करता है वे बुराईयाँ स्वयं में विद्यमान न हों। वह आत्मशुद्धि और सत्याग्रह से अपनी लड़ाई जीत सकता है। उसे हमेशा अपने विरोधी से बात- चीत करने के लिए रास्ता खुला रखना चाहिए। गाँधीजी सत्याग्रही बनने की बहुत सी शर्ते बताते हैं। सत्याग्रह के साथ-साथ रचनात्मक कार्य भी करते रहना चाहिए। सेवा तथा प्रेम की भावना के फलस्वरूप ही सत्याग्रह सफल हो सकता है। सत्याग्रह विनम्रता का प्रतीक है और हिंसा का विकल्प है। आमरण अनशन सत्याग्रही का अंतिम हथियार है। जिसका प्रयोग विशेष परिस्थिति में ही किया जाना चाहिए। गाँधी जी ने सत्याग्रह में विभिन्न अस्त्रों का प्रयोग किया था जिस में असहयोग आन्दोलन सबसे महत्वपूर्ण था। इसमें हड़ताल, सामाजिक बहिष्कार, आर्थिक बहिष्कार, धरना, सविनय अवज्ञा, हिज्रत, उपवास इत्यादि सम्मिलित हैं। वे सत्याग्रह के सकारात्मक पक्ष को महत्व देते थे जिसमें केवल विरोध करना ही नहीं अपितु सकारात्मक कार्यकम को बनाये रखना भी आवश्यक है। उन्होंने 15 सूत्री सकारात्मक कार्यक्रम बनाया था, जिसमें खादी का प्रचार- प्रसार, ग्रामोद्योगों का विकास, ग्राम स्वराज्य की स्थापना, बुनियादी शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, नारी उद्धार तथा आर्थिक समानता इत्यादि शामिल है।

भारत में आने के पश्चात् गाँधीजी ने कई सत्याग्रह किये। जिसमें अखिल भारतीय स्तर पर किये गये सत्याग्रहों में -रोलेटएक्ट के खिलाफ 1919 में किया गया आन्दोलन, खिलाफत आन्दोलन, असहयोग आन्दोलन 1920, 1930 में 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन,' 1940 में व्यक्तिगत सत्याग्रह, 1942 में भारत छोड़ो आन्दोलन प्रमुख हैं। स्थानीय लोगों के लिए 1917 में चम्पारन, 1918 में अहमदाबाद में श्रमिकों के समर्थन में किया गया आन्दोलन तथा 1924 में त्रवणकोर का सत्याग्रह आदि उल्लेखनीय है।

बोध प्रश्न-2

प्रश्न: महात्मा गाँधी के सत्याग्रह सम्बन्धी विचारों को स्पष्ट कीजिए ।

उत्तर .....

.....

12.6 आर्थिक क्षेत्र

गाँधीजी के आर्थिक विचार भी सत्य और अहिंसा से ओत-प्रोत थे। वे यह मानते थे कि आधुनिकता बड़े-बड़े उद्योगों तथा मशीनीकरण पर आधारित है और हिंसा को बढ़ावा देती है। एक आदर्श समाज की रचना के लिए स्वावलम्बी गाँवों की आवश्यकता है। व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को सीमित रखें और नैतिक जीवन व्यतीत करें। उन्होंने, ग्राम स्वराज्य की कल्पना में कुटीर उद्योगों को अधिक महत्व दिया है तथा कायिक श्रम पर बल हिया है। गाँधीजी मानते थे कि प्रत्येक स्वस्थ्य व्यक्ति को दिन में कम से कम दो घंटे शारीरिक श्रम करना चाहिए, तभी वह भोजन पाने का अधिकारी है। वे मानसिक और शारीरिक श्रम की समानता के दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं। वे उस पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था के विरूद्ध थे जो भौतिकवादी इच्छाओं की पूर्ति के लिए उद्योगों की स्थापना करती है। गाँधीजी साम्यवादी विचारधारा के भी विरोधी थे क्योंकि उनके अनुसार वह हिंसा पर आधारित विचारधारा है और व्यवहार में तत्कालीन सोवियत संघ की व्यवस्था के आधार पर यह मानते थे कि यह व्यवस्था केन्द्रीयकृत व्यवस्था को बढ़ावा देती है, जिसमें शक्ति का केन्द्रीयकरण होता है। गाँधीजी शक्ति के केन्द्रीयकरण को शोषण का आधार मानते हैं। उनके अनुसार शक्ति का विकेन्द्रीकरण होना चाहिए और वे इसी भाव को ध्यान में रखकर आर्थिक विकेन्द्रीकरण की वकालत करते थे। उन्होंने पूँजीवाद व साम्यवाद से 'न्यास के सिद्धान्त' को अधिक महत्व दिया है जिसके अनुसार आर्थिक साधनों पर नियन्त्रण हाथों में होगा। लेकिन वे उसे न्यास मानकार न्यासी के रूप में कार्य करेंगे तथा पूँजी का उपयोग। 'सर्वजन हिताय' करेंगे।

राजनीतिक क्षेत्र में उन्होंने उपयोगितावाद के स्थान पर सर्वोदय की वकालत की। जहाँ उपयोगितावाद व्यक्ति के अधिकतम सुख की कल्पना करता है वहीं सर्वोदय सभी के उदय की कल्पना करता है। उपयोगितावाद में सुख की परिभाषा शारीरिक सुख या इन्द्रियजन्य सुख है। जबकि महात्मा गाँधी के सर्वोदय के अन्तर्गत सबके उदय में इन्द्रियजन्य सुख के बजाय आत्मिक सुख को सम्मिलित किया है। गाँधीजी अपने आदर्श राज्य को राम राज्य की संज्ञा देते थे जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अहिंसा पर आधारित जीवन का उपयोग करता है और अपने कर्तव्यों को पूरा करता है। गाँधीजी का मानना था कि आदर्श समाज एक राज्यविहीन समाज है। जिसमें

शक्ति पूर्ण रूप से विकेन्द्रित है और वह स्वावलम्बी गाँवों को शामिल कर बना है जिसमें व्यक्ति का महत्व है। लेकिन व्यक्ति का अस्तित्व समाज के बिना संभव नहीं है। उन्होंने व्यक्ति और समाज के मध्य के सम्बन्धों को सामुद्रिक वृत (ओशियेनिक सर्किल) के आधार पर समझाया है। जिस प्रकार समुद्र में पत्थर फेंकने पर हजारों की संख्या में लहरों (वृत्तों) का निर्माण होता है, जिनके आकार अलग-अलग प्रकार के है किन्तु इनका केन्द्र एक ही होता है। उसी प्रकार समाज में कई प्रकार के समूह है, जो वर्तुल के रूप में एक दूसरे से जुड़े है लेकिन उनका केन्द्र व्यक्ति होता है। समूह व्यक्ति के बिना पारिभाषित नहीं होता है। वे प्रजातंत्र की व्यवस्था में विश्वास रखते थे और उदारवादी सिद्धान्त को महत्वपूर्ण मानते थे लेकिन उनकी सोच भारतीय परम्परा के मूलभूत सिद्धान्तों पर आधारित थी। वह अपनी संस्कृति और परम्परा की उदारवादी व्याख्या के पक्षधर थे। महात्मा गाँधी आधुनिक समय में भारतीयता के प्रतीक थे। उनकी गणना आज विश्व के सर्वाधिक महानतम विचारकों में की जाती है। वे केवल भारत के प्रतिनिधि ही न होकर विश्व की मानवता के प्रतीक थे और लोकमंगल के साधक - उपासक थे।

12.7 राजनीतिक विचार

गाँधीजी स्वयं को एक राजनीतिक विचारक नहीं मानते थे। हालांकि दार्शनिक विचारों की पहली व्यवस्थित प्रस्तुति 'हिन्द स्वराज्य' में है। वे निरन्तर सत्य के रास्ते चलते रहे और उस रास्ते पर उन्हें जो सफलताएँ मिलीं उसी आधार पर अपने विचारों को संगठित करते रहे। वे सभी राजनीतिक गतिविधियों को नैतिक दृष्टि से देखते थे। उनके अनुसार कोई भी गतिविधि जो नैतिक दृष्टि से नहीं हो, उचित नहीं है। चूँकि वे किसी विशेष राजनीतिक दर्शन से सम्बन्धित नहीं थे इसलिए उनके विचारों में कई बार पारस्परिक विरोध नजर आता है। सामान्यत: यह कहा जा सकता है कि वे एक राजनीतिक अराजकतावादी थे जो शक्ति के केन्द्रीयकरण के विरोधी थे और राज्य को सक्रिय केन्द्रीयकरण का सबसे बड़ा उदाहरण मानते थे। वे राज्य के बढ़ते स्वरूप और कार्य को भय से देखते थे। उनके अनुसार एक आदर्श समाज की कल्पना में राज्य का कोई स्थान नहीं था। वे आदर्श समाज को रामराज्य की संज्ञा देते थे। वे यह मानते थे कि राज्य हिंसा का प्रतिनिधित्व करता है और राज्य की बढ़ती शक्ति से सर्वाधिक नुकसान व्यक्ति की अस्मिता को होता है। व्यक्ति के पास आत्मा है राज्य आत्मा विहीन है। गाँधीजी ने कहा था कि ऐसे कानूनों की पालना नहीं करनी चाहिए जो हमारी नैतिक मान्यताओं के विरूद्ध हों। उनके अनुसार राजनीतिक शक्ति अपने आप में एक साध्य नहीं है। राजनीतिक शक्ति का कार्य समाज के सदस्यों को जीवन की सुविधाएँ प्रदान करना है उनकी मान्यता थी कि व्यक्ति सम्प्रभु होता है और उसके सम्प्रभुत्व का आधार उसकी नैतिक सत्ता है। गाँधी राज्य और समाज में अन्तर करते थे। उनके अनुसार अगर व्यक्ति समाप्त होता है तो कुछ बाकी नहीं रहेगा, इसलिए व्यक्ति के आधिपत्य को राजनीतिक दर्शन में स्वीकार किया जाना चाहिए। 1916 में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में भाषण देते हुए उन्होंने कहा था कि वे अराजकतावादी है ।

गाँधी केवल आदर्शवादी विचारक ही नहीं थे उनका उद्देश्य आदर्श प्राप्त करना था। उन्होंने द्वितीय स्तर के राज्य की बात भी की है। जिससे राज्य एक उदारवादी लोकतांत्रिक

राज्य होगा तथा लोकशक्ति का विकेन्द्रीकरण होगा। ऐसे राज्य में अधिकतम शक्तियाँ गाँव के स्तर पर पंचायत के पास रहेगी। वह गाँव आदर्श गाँव होगा जो आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से स्वायत्त निकाय के रूप में कार्य करेगा। गाँधी के स्वराज्य की कल्पना एक ऐसे देश की कल्पना थी जिसमें सत्ता उस देश के नागरिकों के पास हो, देश राजनीतिक रूप से स्वतंत्र हो तथा जिसमें अपने समाज को बदलने की शक्ति और अधिकार समाज के व्यक्तियों के पास हों। ऐसे राज्य में सरकार व्यक्तियों के प्रति उत्तरदायी हो। गाँधी के स्वराज की अवधारणा आर्थिक और राजनीतिक दोनों स्तरों पर स्वतंत्रता को बनाये रखने का समर्थन करती है। गाँधी व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा का भी समर्थन करते हैं। गाँधीवादी अधिकार मूलत: वे अधिकार है, उनके उपयोग से व्यक्ति अपने मूल्यों को बनाये रख सकें और एक नैतिक समाज की स्थापना कर सके। गाँधी स्वतंत्रता के साथ-साथ समानता और न्याय के सिद्धान्त में विश्वास करते थे। इसमें वे न केवल स्त्री-पुरूष की समानता अपितु जातिगत समानता, मानसिक और शारीरिक समानता के भी पक्षधर थे। गाँधी हालांकि प्रजातंत्र में विश्वास करते थे लेकिन उन्होंने 'हिन्द स्वराज्य' में अंग्रेजी संसदीय प्रणाली की आलोचना की और माना है कि अगर भारत इंग्लैण्ड की प्रणाली को अपनाता है तो यह उसके लिए अच्छा नहीं होगा। गाँधीजी के अनुसार ब्रिटिश संसद के द्वारा कोई भी अच्छा कार्य नहीं किया गया है और वह मंत्रियों के प्रभाव से संचालित होती है। अत: वह जनता का प्रतिनिधित्व नहीं कर पाती है। पश्चिमी प्रजात्रंत का आधार हिंसा है। पश्चिमी प्रजातंत्र जो व्यवहार में बिना हिंसा के जीवित नहीं है वह वास्तव में प्रजातंत्र नहीं है। उसमें और फासीवाद में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। बुद्धदेव भट्टाचार्य के अनुसार गाँधी की पश्चिमी प्रजातंत्र की आलोचना तीन प्रमुख कारकों पर आधारित है :-

1. पूँजीपतियों द्वारा निर्धन व्यक्तियों का शोषण।
2. पूँजीवाद का विस्तार जो जन सामान्य के शोषण की राह बताता है।
3. गोरी चमड़ी वालों की रंगभेद नीति।

यद्यपि गाँधीजी ने 'बोअर युद्ध' (1899) में अंग्रेजों की तरफ से हिस्सा लिया था, लेकिन वे युद्ध के खिलाफ थे। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् गाँधी पूर्णतया युद्ध विरोधी बन गये। गाँधीजी ने प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध की निन्दा की और कहा कि हिंसा से किसी समस्या का समाधान नहीं होता है। कोई भी राजनीतिक विचारधारा हो और उसके अनुसार आदर्श का निर्माण मूलत: हिंसा के द्वारा होगा तो वह सही. विचारधारा नहीं हो सकती है। गाँधीजी शान्ति के पक्षधर थे, पर उनकी शान्ति की अवधारणा में कोई स्थिर शान्ति नहीं थी। वे शान्ति को सकारात्मक और परिवर्तनशील प्रक्रिया के रूप में देखते थे। जिसमें समस्या का समाधान अहिंसा के माध्यम से किया जाता है। गाँधीजी का दृढ़ विश्वास था कि विश्व की समस्याओं का समाधान केवल अहिंसा के माध्यम से संभव है। गाँधी को मूलत: सत्ता के विरोध का दार्शनिक माना जाता है। सत्ता का विरोध करने पर गाँधी का नाम सम्मान से लिया जाता है। दुर्भाग्यवश: गाँधी! के राजनीतिक विचारों पर आधारित आदर्श समाज के निर्माण की पुरजोर कोशिश नहीं की गई, इसलिए गाँधीवादी आदर्श समाज के अस्तित्व में न आने के कारण उनके राजनीतिक दर्शन में व्यावहारिक़ पक्ष का परीक्षण नहीं किया जा सका।

12.8 महात्मा गाँधी का राजनीतिक चिन्तन में योगदान

महात्मा गाँधी 20 वीं शताब्दी के सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक विचारकों में से एक थे, जिन्होंने राजनीतिक चिन्तन में सर्वकालिक योगदान दिया है, जिसे निम्न प्रकार देख सकते हैं:

1. गाँधी ने राजनीति का विरोध करने के एक नये साधन "सत्याग्रह" की खोज की और उसका सफलतापूर्वक प्रयोग करके भारत को आजादी दिलायी। राज्य सत्ता के विरोध में तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की नीतियों के विरूद्ध होने वाले आन्दोलनों में सत्याग्रह का व्यापक स्तर पर प्रयोग किया जाता है।
2. गाँधी के अहिंसा और संघर्ष निवारण की तकनीक का समाज के विभिन्न समूहों और स्थितियों में निरन्तर प्रयोग किया जा रहा है। उसे "वैकल्पिक विवाद निपटारा" में सफलतापूर्वक महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। हाल ही में आई फिल्म "लगे रहो मुन्ना भाई" में "गांधीगिरी' का इस्तेमाल हुआ है, इसमें गाँधी के सिद्धान्त को व्यक्ति के जीवन में छोटी-छोटी समस्याओं के समाधान हेतु गाँधी के सिद्धांत को उपयोग में लाने का विवरण प्रस्तुत किया गया है। "गाँधीगिरी" आज लोकप्रिय शब्द बनता जा रहा है जो विरोध प्रकट करने के एक सभ्य तरीके को प्रकट करता है।
3. गाँधी ने आधुनिक समाज के नकारात्मक पक्ष को जाग्रत किया और उसे बचाने के उपाय सुझाये जिनके कारण उन्हें वैकल्पिक सफलता के विचार देने वाले विचारकों में शामिल किया जाता है।
4. उनके 'न्यासिता सिद्धान्त' में, अहिंसा के माध्यम से वर्ग संघर्ष को समाप्त किये जाने का तरीका सुझाया गया है। जिसमें हिंसा का उपयोग नहीं करते हुए भी समाज में सामाजिक न्याय की स्थापना की जा सकती है।
5. उनके पर्यावरण सम्बन्धी विचारों ने विकास की पश्चिमी अवधारणा को सशक्त चुनौती दी है और विकास का आधार मनुष्य की आवश्यकताओं को पूरा करना बताया है, न कि उसके लालच को पूरा करना।
6. गाँधी ने नैतिकता को मनुष्य की सभी गतिविधियों का आधार माना है और वे बीसवीं शताब्दी उन नैतिक विचारकों में से एक है जो राजनीति को भी नैतिक दृष्टि से विश्लेषित करना चाहते हैं।
7. उन्होंने अहिंसा को राजनीतिक दृष्टि में स्थापित किया और सत्य को प्लेटो के पश्चात् राजनीतिक दर्शन में पुनर्स्थापित किया।

12.9 सारांश

प्रस्तुत इकाई में महात्मा गाँधी के जीवन और विचारों का अध्ययन किया गया है। इससे हमें यह पता लगता है कि महात्मा गाँधी ने अपना जीवन एक साधारण व्यक्ति के रूप में आरम्भ किया और धीरे-धीरे अपने परिश्रम से एक महान व्यक्ति बनें। उन्होंने बडी से बडी मुसीबतों में सत्य और ईश्वर का साथ नहीं छोड़ा। वे सत्य तथा अहिंसा के मार्ग पर चलते रहे, उनके सत्य और विश्वास ने उन्हें महान व्यक्ति बनाया। गाँधी अपने चिन्तन में किसी विशेष

विचारधारा के प्रतिपादक नहीं थे। उन्होंने अपने जीवन में अनुभवों से बहुत कुछ सीखा। वे निरन्तर राजनीति में सक्रिय रहने के उपरान्त भी एक अच्छे पाठक थे। खुले मस्तिष्क के होने के कारण उन्होंने अध्ययन और जीवन मूल्यों से बहुत कुछ सीखा कर उसे अपनी तरह से विचारों के रूप में प्रस्तुत किया, जिसे हम आज गाँधी चिन्तन के नाम से जानते हैं। गाँधीजी अपने जीवन के प्रत्येक पहलू को नैतिक दृष्टि से देखते थे। वे जीवन के हर क्षेत्र में नैतिकता के पक्षधर थे, इसीलिए उन्होंने अपने आर्थिक जीवन और राजनैतिक चिन्तन में भी अहिंसा को प्रमुखता दी है। इस इकाई को पढने से हमें ज्ञात होता है कि गाँधी न केवल महान व्यक्तित्व के धनी थे वरन् वे एक महान विचारक भी थे।

12.10 अभ्यास प्रश्न

1. महात्मा गाँधी के चिन्तन पर पड़ने वाले प्रभावों को इंगित कीजिए।
2. गाँधी चिन्तन में सत्य और अहिंसा का महत्व बतलाइये।
3. महात्मा गाँधी के सत्याग्रह की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।

12.11 संदर्भ गन्थ सूची

1. महात्मा गाँधी की आत्म कथा : सत्य के साथ मेरे प्रयोग, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, 1927
2. महात्मा गाँधी : हिन्द स्वराज्य, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, 1927
3. नरेश दाधीच : गाँधी एण्ड एक्जेस्टेन्शलिज्म, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, 1993
4. गोपीनाथ धवन : दी पोलिटिकल फिलोसोफी ऑफ महात्मा गाँधी, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, 1927
5. बी. अरूण कुमार : गाँधीयन प्रोटेस्ट, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, 2008
6. राघवन एन. अय्यर : दी मॉरल एण्ड पोलिटिकल थॉट ऑफ महात्मा गाँधी, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क. 1973
7. रोनाल्ड टर्चक : गाँधी: स्ट्रगलिंग फॉर ऑटोनामी, रॉमेन एण्ड लिटिलफील्ड पब्लिशर्स, न्यूयार्क, 1998
8. भीखू पारेख : गाँधी, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, 1997
9. रामाश्रय राय : सेल्फ एण्ड सोसाईटी, सेज पब्लिकेशन्स, नईदिल्ली, 1974

इकाई-13

जवाहरलाल नेहरू

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 नेहरू का जीवन परिचय

13.3 नेहरू के विचारों के दार्शनिक आधार।

13.4 नेहरू चिन्तन: मानवतावाद

13.5 नेहरू चिन्तन: व्यक्ति एवं राज्य

13.6 नेहरू चिन्तन: लोकतंत्र का समग्र स्वरूप

13.7 नेहरू चिन्तन: धर्म निरपेक्षता, साम्प्रदायिकता एवं राष्ट्रीय एकता

13.8 नेहरू चिन्तन: समाजवाद, मार्क्सवाद-साम्यवाद एवं लोकतांत्रिक-समाजवाद

13.9 नेहरू चिन्तन: अन्तर्राष्ट्रीयतावाद एवं विश्वशांति

13.10 सारांश

13.11 अभ्यास प्रश्न

13.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

13.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान पायेंगे-

- नेहरू के राजनीतिक चिन्तन का सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य
- नेहरू के राजनीतिक चिन्तन का दर्शानिक आधार
- नेहरू के चिन्तन के विभिन्न आयाम एवं महत्वपूर्ण धारणायें, एवं!
- नेहरू के राजनीतिक चिन्तन की समसामयिक प्रासंगिकता।

13.1 प्रस्तावना

जवाहरलाल नेहरू हमारी पीढ़ी के एक महानतम व्यक्ति थे। वे एक ऐसे अद्‌वितीय राजनीतिज्ञ थे जिनकी मानव-मुक्ति के प्रति सेवाएँ चिरस्मरणीय रहेंगी। स्वाधीनता के योद्धा के रूप में वे यशस्वी थे और आधुनिक भारत के निर्माण के लिए उनका योगदान अभूतपूर्व था। इसमें संदेह नहीं कि नेहरू की मृत्यु के साथ ही हमारे देश के इतिहास का एक युग समाप्त हो गया। नेहरू की यह विशेषता थी कि एक राजनीतिज्ञ होते हुए भी वे "मैकियावलिय" से दूर थे। रविन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में, 'जवाहरलाल ने राजनीतिक संघर्ष के क्षेत्र में, जहां बहुधा छल और आत्मप्रंवचना चरित्र को विकृत कर देते हैं, शुद्ध आचरण के आदर्श का निर्माण किया।

जवाहरलाल नेहरू की प्रतिभा के अनेक पक्ष अब इतिहास का अंग बन चुके हैं। किन्तु, हम इस महान मुक्तिदाता के आदर्शो और नीतियों को तब तक नहीं समझ पायंगे जब तक हम

उस दर्शन को न समझ लें, जो इन आदर्शों और नीतियों में अन्तर्निहित था और यह न जान लें कि किस प्रकार इसने उनके विचारों के निर्माण में सहायता की।

13.2 नेहरू का जीवन परिचय

जवाहरलाल नेहरू (1889- 1964) मोतीलाल नेहरू और स्वरूपरानी के एकमात्र पुत्र थे। 15 वर्ष की आयु में वे अध्ययन के लिए इंग्लैण्ड गए। 1905 में उन्हें इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध हैरो स्कूल में प्रविष्ट कराया गया तथा 1907 में उन्होंने ट्रिनीटी कॉलेज, कैम्ब्रिज में प्रवेश लिया जहां उन्होंने विज्ञान में 'आनर्स' की परीक्षा पास की। कैम्ब्रिज की पढ़ाई के बाद उन्होंने कानून का अध्ययन किया और 1912 में वे 'इनर टेम्पल' से वकील बने। अपने छात्र जीवन में ही नेहरू भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन की सरगर्मियों में दिलचस्पी लेते रहे। 1904 में जापान के हाथों रूस जैसे शक्तिशाली राष्ट्र की पराजय ने नेहरू के हृदय में भारत राष्ट्र की स्वतंत्रता के सपने भर दिए। राष्ट्रीय विचार उनके मानस में हिलोरें लेने लगे और यूरोप के कब्जे से भारत तथा एशिया की मुक्ति के लिए वे व्यग्र रहने लगे।

अपने शिक्षा काल में वे सिडनी वैब तथा बैट्रिस वैब की फेबियन समाजवादी विचारधारा से प्रभावित हुए। यद्यपि वे स्वयं वैभव में पैदा हुए थे और उनके समक्ष जीवन यापन की समस्या कभी उत्पन्न नहीं हुई, पर उनका दृष्टिकोण ऐश-आराम के जीवन की उपज नहीं था, जो चारों ओर व्याप्त आंदोलन और ऊथल-पुथल से अलग हो। इस दृष्टिकोण का जन्म टकरावों और संघर्षो के बीच हुआ था। भारत में आकर उन्होंने वकालत करना प्रारम्भ किया जिसमें उनको कोई विशेष सफलता नहीं मिली और वे सार्वजनिक जीवन की दिशा में मुड़े। 1912 में वे बांकीपुर(बिहार) के कांग्रेस अधिवेशन में शामिल हुए। वे गांधीजी द्वारा दक्षिण अफ्रीका में संचालित "रंगभेदी विरोधी आन्दोलन" के विवरण से प्रभावित हुए। 1916 के लखनऊ अधिवेशन में वे गांधीजी से मिले। 1918 में वे कांग्रेस महासमिति के सदस्य चुने गए। रोलेट एक्ट तथा जलियांवाला हत्याकाण्ड पर व्याप्त भारी असंतोष से नेहरू प्रभावित हुए। 1919 में नेहरू ने पहली बार गांवों में घूम-घूम कर भारत वर्ष के नंगे भूखे किसानों को देखा तथा उनके लिए सेवा कार्य करने का निश्चय किया।

इस प्रकार देश की राजनीतिक परिस्थिति में तीव्र उद्वेग आने के साथ हर चीज बदल गयी। प्रथम महायुद्ध और उसके दुष्परिणामों, तिलक और एनीबिसेन्ट के होमरूल आन्दोलन, जलियांवालाबाग हत्याकाण्ड तथा गांधीजी के नेतृत्व में व्यापक विरोध आन्दोलन- इन सबका जवाहरलाल के संवेदनशील मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पडा। अब उन्हें विश्वास हो गया कि यदि भूख, अज्ञान और गंदगी को मिटाया नहीं जाता तो राजनीतिक स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं है।

नेहरू का राजनीतिक क्षितिज क्रमश: विस्तृत होने लगा। यूरोपीय देशों में उनके प्रवास, 1927 में सोवियत संघ की उनकी यात्रा, नये साम्राज्यवाद विरोधी उभार, पूंजीवाद के विश्व संकट और सोवियत संघ की प्रथम पंचवर्षीय योजना की सफलता- इन सबके शक्तिशाली प्रभाव के कारण वह समाजवादी विचारों के निकट आए। वह अब प्रबल रूप से अनुभव करते थे कि

पूंजीवाद की प्रगतिशील क्षमताएं समाप्त हो चुकी हैं और भविष्य की चुनौति का एकमात्र उत्तर समाजवाद है।

यूरोप में रहते समय, 1927 में उन्होंने औपनिवेशिक जनता की ब्रूसेल्स कांग्रेस में भाग लिया तथा रोमां रोला, एल्बर्ट आंइस्टीन और सुंग चिंग लिंग जैसी विश्वविख्यात बुद्धिजीवी प्रतिभाओं के साथ मिल कर "साम्राज्यवाद के विरूद्ध और राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए अन्तर्राष्ट्रीय लीग" की स्थापना की। भारत लौटने पर वह नयी शक्ति और स्पष्ट दृष्टिकोण के साथ साम्राज्यवाद-विरोधी कार्यवाहियों में जुट गए। उन्होंने स्वतंत्रता संग्राम को नया रूप और नई अन्तर्वस्तु प्रदान की। वे कांग्रेस के युवा नेता थे। उन्होंने कांग्रेस का लक्ष्य देश के लिए "औपनिवेशिक स्वराज्य" के बजाय "पूर्ण स्वाधीनता प्राप्ति" बना दिया तथा 1928 में 'इण्डिपेण्डेंस लीग' स्थापित की। वे 'नेहरू-रिपोर्ट' में प्रस्तावित 'औपनिवेशिक-स्वराज्य' के लक्ष्य से असहमत थे। 1928 में उन्होंने लखनऊ में साइमन-कमीशन के विरोध में प्रदर्शन किया और लाठी-प्रहार सहे। 1929 में इतिहास-प्रसिध्द लाहौर के कांग्रेस अधिवेशन के वे अध्यक्ष बने जिसमें देश के लिए "पूर्ण स्वाधीनता" के लक्ष्य की उद्घोषणा की गई।

वास्तव में 1930 तक जवाहरलाल नेहरू ने भारतीय राजनीति बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया था और बाद के वर्षा में तो राष्ट्रीय नेतृत्व के क्षेत्र में उन्हें गांधीजी के ठीक बाद स्थान प्राप्त हो गया। उन्होंने गांधीजी के नेतृत्व में संचालित "सविनय-अवज्ञा आन्दोलन" (1930-34) में सक्रिय भाग लिया। नेहरू ने 1936 में बिहार की भूकम्प-पीड़ित जनता की भारी सेवा की। वे चार बार (1929, 1936,1937 व 1946) कांग्रेस के अध्यक्ष बने तथा 9 वर्ष से भी अधिक काल तक वे जेल में रहे। अपने समाजवादी विचारों के आधार पर उनको 1938 में कांग्रेस की ''राष्ट्रीय योजना समिति'' का अध्यक्ष बनाया गया। 1939 में वे चीन गए। 1942 में उन्होंने "भारत छोडो" अथवा "अगस्त क्रांति" में सक्रिय भाग लिया। 1945 में उन्होंने वायसराय द्वारा आयोजित शिमला -सम्मेलन में भाग लिया तथा आजाद हिन्द फौज के सैनिकों को छुड़वाने के लिए अदालती कार्य किया। 1946 में उनको मत्रिमण्डलीय-आयोग (केबीनेट मिशन) के सुझावों के अनुसार बनायी, गयी अन्तरिम सरकार में गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी का उपाध्यक्ष बनाया गया। भारत की सभा में जवाहरलाल नेहरू ने ही नये भारत के लिए संविधान बनाने से संबंधित 'उद्देश्य प्रस्ताव' (Objective Resolution) 13 दिसम्बर 1946 को रखा। वर्तमान भारतीय संविधान बनाने के पीछे नेहरू का बहुत बडा हाथ था। 15 अगस्त 1947 को जब विभाजन की कीमत पर देश को स्वतंत्रता मिली तो जवाहरलाल स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री बने तथा अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक (27 मई 1964) इसी पद पर बने रहे। महात्मा गांधी तथा सरदार पटेल की मृत्यु के बाद वे ही कांग्रेस के एकछत्र सर्वोपरि नेता थे। उन्हीं के नेतृत्व में नये भारत का निर्माण हुआ। लगभग 17 वर्षो के प्रधानमंत्रित्व कार्यकाल में उन्होंने स्वतंत्र भारत को एक सबल आर्थिक और राजनीतिक स्वरूप किया। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत की प्रतिष्ठा को जमाने का श्रेय उन्हीं को जाता है। नेहरू न केवल एक महान देशभक्त, कर्मठ राजनेता और शांतिदूत थे बल्कि बुद्धिमान और युगदृष्टा पुरूष थे,

जिन्हें साहित्य, दर्शन व प्रकृति से भारी प्रेम था। उन्होंने अनेक ग्रन्धों की रचना की, जिनमें निम्न रचनाएँ महत्वपूर्ण हैं-

विश्व इतिहास की झलक (Glimpses of World History), 1934, आत्मकथा (An Auto Biography), 1936, भारत की एकता (The Unity of India), 1947, भारत की खोज (The Discovery of India) उनकी अन्य कुछ रचनाएं है-

लैटर्स फ्राम ए फादर दु हिज डॉटर, 1929; टुवर्डस फ्रीडम, 1941; उनके भाषणों को सम्पूर्ण रूप से बिफोर एण्ड आटर इण्डिपेन्डेन्स: जवाहरलाल नेहरूज स्पीचेज' (चार खण्ड) तथा सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ जवाहरलाल नेहरू (आठ खण्ड) में प्रकाशित किया गया है।

13.3 नेहरू के विचारों के दार्शनिक आधार

जवाहरलाल नेहरू का चिन्तन उनके पिता मोतीलाल नेहरू, महात्मा गांधी, एनीबिसेन्ट बर्टेण्ड रसेल, कार्ल मार्क्स, काण्ट, स्पेन्सर, आइन्सटीन, मिल, बर्नार्ड शॉ आदि महानुभावों से प्रभावित था। नेहरू के चिन्तन और व्यवहार को प्रभावित करने में महात्मा गांधी की सबसे अधिक निर्णायक भूमिका रही। गांधीजी के सत्याग्रह, अहिंसा, शांति से परिपूर्ण राजनीति, अध्यात्म एवं, नैतिकता संबंधी विचारों का उन पर स्पष्ट प्रभाव देखने को मिलता है, किन्तु नेहरू ऐसे ईश्वर की खोज करना या गढ़ना चाहते थे जो नैतिकता का स्रोत हो तथा बाह्राचारों के पाखण्डों से दूर रहे। 'द डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' में इस मत का खुलासा करते हुए नेहरू लिखते हैं:

''प्राय: मैं इस विश्व की ओर देखता हूँ तो मुझे अज्ञात गहराइयों और रहस्यों का आभास होता है। पर वह रहस्यमय चीज क्या है, यह मैं नहीं जानता। मैं उसे ईश्वर नहीं कहता क्योंकि ईश्वर का बहुत कुछ अर्थ ऐसा है जिसमें मेरा विश्वास नहीं है। मैं किसी देवता अथवा अज्ञात सर्वोच्च सत्ता जिसका स्वरूप मानक जैसा हो, की कल्पना करने की क्षमता अपने में नहीं पाता। एक व्यक्तिगत और सगुण ईश्वर का विचार मुझे बड़ा अजीब लगता है। बौद्धिक दृष्टि से मैं कुछ सीमा तक अद्वैतवादी विचारधारा का समर्थन करता हूँ और वेदान्त के अद्वैतवाद की ओर मेरा आकर्षण है, किन्तु वेदान्त तथा इस प्रकार के अदृश्य जगत के विषय में विचार मेरे मन में भय उत्पन्न करते हैं।''

"नेहरू किसी धर्म विशेष में विश्वास नहीं करते थे, लेकिन व्यवहार में बड़ी आध्यात्मिकवृत्ति के पुरूष थे। वे धर्म के विधि-विधानों तथा रूढ़िवादी एवं सम्प्रदायवादी पक्षों का विरोध करते थे। उनकी दृष्टि वैज्ञानिक थी तथा वे सत्य को अनुभव के माध्यम से प्राप्त करना चाहते थे।''

इस प्रकार कहा जा सकता है कि यद्यपि गांधीजी की शिक्षाओं के प्रति उनमें जीवन भर गहरा आकर्षण बना रहा, फिर भी वे गांधीजी की शिक्षाओं और आदर्शो को अटल सिद्धान्तों के रूप में ग्रहण नहीं कर सके। गांधी जैसी आस्तिकता उनमें पैदा नहीं हो सकी। नेहरू विलक्षण बने रहे। न वे पूर्ण नास्तिक रहे, न पूर्ण आध्यात्मिकतावादी और न ही पूर्ण भौतिकवादी। कार्ल मार्क्स के भौतिकवादी विचारों का प्रभाव उन पर अवश्य पड़ा, लेकिन वे पूर्ण भौतिकवादी कभी

नहीं बन सके। उन्होंने भौतिक पदार्थ को ही अन्तिम सत्य नहीं माना। आइंस्टीन, प्लैंक तथा हैंसेनवर्ग के भौतिकवादी शोधों का प्रभाव उनके चिन्तन पर पड़ा, लेकिन एक दृष्टि से उन्हें हम काण्ट की अपेक्षा स्पेन्सर के अधिक निकट पाते हैं। नेहरू ने यह नहीं माना कि कोई ऐसा जगत भी है जो हमारी दृष्टि अथवा हमारे मस्तिष्क के चिन्तन से परे है।

13.4 नेहरू चिन्तन: मानवतावाद

नेहरू एक राजनीतिज्ञ थे, लेकिन नैतिक आदर्शवाद में उनकी गहन आस्था जीवनभर बनी रही। पीड़ित और शोषित लोगों के प्रति उनके हृदय में अगाध प्रीति और सहानुभूति थी। "एक मानव के रूप में उनके चिन्तन में सुकुमारता, भावना की अद्‌वितीय कोमलता और महान एवं उदार प्रवृत्तियों का अद्भुत सम्मिश्रण था।'' वे मूलत: मानवतावादी हैं। उनकी विचारधारा का मूल केन्द्र "मानवं'' है। वे व्यक्ति को साध्य तथा शेष सभी को साधन मानते थे, चाहे वह राज्य हो, या राष्ट्र अथवा अन्तर्राष्ट्रीयता। उनकी दृष्टि में मानवतावाद आधुनिक युग का सर्वोत्तम आदर्श होना चाहिए था। "मैकियावलिय राजनीति'', शोषण, अनाचार और अभाव को देखकर उनके हृदय में गहरी वेदना पहुँचती थी।

नेहरू मनुष्य के गौरव में विश्वास करते थे, इसलिए परिस्थितियों के अनुकूल होते हुए भी, वे एक तानाशाह बन जाने के प्रलोभन से बचे रहे। वे लोकतांत्रिक-समाजवादी बने रहे, मानवीय मूल्यों में उनकी आस्था कभी नहीं डगमगाई और साम्यवाद के हिंसक तथा अनैतिक साधनों के प्रति उन्हें कभी कोई आकर्षण नहीं रहा। जीवनभर उन्होंने अन्याय और शोषण से यथाशक्ति संघर्ष किया।

13.5 नेहरू चिन्तन: व्यक्ति एवं राज्य

नेहरू पर गांधी का प्रभाव था, लेकिन उनमें गांधी के समान अराजकतावाद से कोई सहानुभूति न थी। राज्य की अनिवार्यता पर उनका अटूट विश्वास था। नेहरू की मान्यता थी कि व्यक्ति और समाज के लिए राज्य का अस्तित्व अपरिहार्य है। मानव स्वभाव अच्छाइयों का घर है, किन्तु उसमें बुराइयाँ भी कम नहीं है और इन बुराइयों पर नियंत्रण रखने के लिए राज्य अनिवार्य है। राज्य ही वह संस्था है जो अपनी बाध्यकारी सत्ता द्‌वारा मनुष्य में व्याप्त घृणा, स्वार्थपरता, अराजक प्रवृत्ति और हिंसा पर नियंत्रण लगा सकती है। नेहरू का विश्वास था कि अहिंसा आधुनिक राज्य और सामाजिक व्यवस्था का प्राण है। आमूलचूल अहिंसा की बात करना है हिंसा के पूर्णत: परित्याग का विचार एक नकारात्मक विचार को जन्म देता है जो स्वयं जीवन से सर्वथा दूर है।

नेहरू इस व्यक्तिवादी धारणा को स्वीकार नहीं करते थे कि वही सरकार सबसे अच्छी होती है जो सबसे कम शासन करती है। यह दृष्टिकोण उन्हें स्वीकार न कि राज्य का एकमात्र कार्य बाह्य आक्रमण से और आन्तरिक अव्यवस्था से व्यक्ति तथा समाज की सुरक्षा मात्र है। उनका कहना था कि राज्य का कार्य केवल रक्षात्मक ही नहीं है वरन् व्यक्ति तथा। समाज के पोषण का भार भी बहुत कुछ राज्य पर है।

नेहरू कल्याणकारी राज्य के सिद्धान्त के प्रति निष्ठावान थे। तदनुसार राज्य को केवल पुलिस कार्यो तक सीमित न रख कर वे जीवन के हर क्षेत्र में राज्यों के कार्यो के स्वस्थ विस्तार के पोषक थे। वे राज्य की उपादेयता को स्वीकार करते हुए उसके माध्यम से सामाजिक हित को उपलब्ध करना चाहते थे। वे व्यक्ति को सामाजिक प्रक्रिया से इस तरह एकाकार करना चाहते थे कि वह व्यक्ति सीमित न रहकर समष्टिगत बन जाये। इसी कारण नेहरू से आधारभूत और भारी उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का समर्थन किया क्योंकि उनका विश्वास था कि राष्ट्रीयकरण के बिना राज्य अपना यथार्थ मंगलकारी स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकता। पर वे राष्ट्रीयकरण के दोषों से अपरिचित नहीं थे वे जानते थे कि अत्यधिक राष्ट्रीयकरण शासन में अत्यधिक केन्द्रीयकरण को जन्म देता है। नेहरू शासन के केन्द्रीयकरण को इस हद तक नहीं बढ़ाना चाहते थे कि वह व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए खतरा बन जाए। इस समस्या के समाधान के लिए ही उन्होंने सामुदायिक विकास योजना और पंचायतीराज का समर्थन किया ताकि लोकतांत्रिक- विकेन्द्रीकरण के क्षेत्र का प्रसार हो और व्यक्ति की स्वतंत्रता को संरक्षण मिलें।

नेहरू ने नागरिकों के अधिकारों को महत्वपूर्ण माना, पर राज्य के प्रति नागरिक कर्त्तव्यों पर भी समान रूप से बल दिया। राज्य और व्यक्ति के मध्य घनिष्ठ संबंध हैं। दोनों ही एक दूसरे के साध्य एवं साधन हैं। उनमें अन्योन्याश्रय संबंध है। सन्तुलित एवं स्वरूप से संगठित राज्य तथा नागरिकों के हितों के मध्य कोई संघर्ष नहीं है। नेहरू ने किसी भी सरकार की अच्छाई एवं कुशलता का मापदण्ड यही माना कि वह जनता के जीवन स्तर को कितना ऊँचा उठाती है। इस जीवन स्तर में केवल भौतिक वस्तुएँ ही नहीं वरन् जीवन के बौद्धिक और नैतिक मूल्य भी समाविष्ट है। जीवन का सर्वांगीण विकास करना एक अच्छे राज्य की कसौटी है। व्यक्तियों के चरित्र का विकास करने पर ही राज्य सफल माना जा सकता है। उनका राज्य मुख्य रूप से लोक- कल्याणकारी विधेयकात्मक राज्य है।

बोध प्रश्न - 1

प्रश्न:1 नेहरू का चिन्तन किन महानुभावों से प्रभावित था?

उत्तर: .....

प्रश्न:2 नेहरू शासन के केन्द्रीयकरण को किस हद तक रखना चाहते थे?

उत्तर: .....

13.6 नेहरू चिन्तन: लोकतंत्र का समग्र स्वरूप

भारतीय लोकतंत्र और नेहरू को पर्यायवाची माना जाता है। जवाहरलाल नेहरू का चिन्तन और उनके कार्यकलाप इस बात के प्रतीक हैं कि वे 'महान लोकतांत्रिक' थे। उन्होंने लोकतंत्र को केवल राजनीतिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रखा, अपितु आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र को भी लोकतंत्र की परिधि में लिया। उनका कहना था कि नागरिकों को केवल राजनीतिक स्वतंत्रता देना ही पर्याप्त नहीं है, उन्हें अवसरों की समानता भी दी जानी चाहिए, आर्थिक विषमताओं का अन्त किया जाना चाहिए। सामाजिक अस्पृश्यताओ और घोर आर्थिक असमानताओं से पूर्ण समाज कभी लोकतांत्रिक नहीं हो सकता। भूखे व्यक्ति के लिए कोरा

मताधिकार कोई महत्व नहीं रखता। यदि समाज में ऊँच-नीच, छूत-अछूत के भेदभाव हों, दरिद्रों की कतार हो, धन का न्यायपूर्ण वितरण न हो, वर्गभेद का प्रसार हो और मुट्ठी भर शिक्षित लोग निरक्षर जनसाधारण को अपने पैरों तले दबाए हों तो ऐसे देश या समाज में लोकतंत्र की बात करना कोई मायने नहीं रखता।

लोकतंत्र के विषय में नेहरू की धारणा बड़ी गतिशील तथा व्यापक थी। उनके अनुसार राजनीतिक लोकतंत्र सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में लोकतंत्र लाने का माध्यम होता है: "राजनीतिक लोकतंत्र उन लक्ष्यों तक पहुंचने का एक मार्ग है स्वयं कोई लक्ष्य नहीं है। नेहरू के लिए लोकतंत्र एक जीवन-पद्धति है, सोचने का ढंग है, परिस्थितियों से निबटने का एक तरीका है, तथा उन बातों को सहन करने का रास्ता है, जिसे कई बार हम पसन्द नहीं करते। लोकतंत्र में आत्मानुशासन होता है तथा शांतिमय उपायों से काम किया जाता है।

नेहरू लोकतंत्र को नैतिक मापदण्डों और मान्यताओं की योजना मानते थे। उन्होंने कहा था कि, "मेरे विचार में लोकतंत्र का अर्थ अमुक प्रकार की सरकार तथा किसी सम-कानून संस्था से कुछ अधिक है। यह आवश्यक रूप से जीवन के नैतिक मानदण्डों तथा मान्यताओं की एक योजना है। आप लोकतांत्रिक हैं अथवा नहीं, इस बात पर निर्भर करता है कि आप एक व्यक्ति अथवा एक वर्ग के रूप में किस प्रकार से आचरण तथा चिन्तन करते हैं। लोकतंत्र के लिए अनुशासन, सहिष्णुता तथा पारस्परिक सद्भावना अत्यन्त आवश्यक है। अपनी स्वतंत्रता के लिए दूसरों की स्वतंत्रता के प्रति आदर भाव होना आवश्यक है। लोकतंत्र में परिवर्तन पारस्परिक विचार-विमर्श तथा समझाने-बुझाने से किए जाते हैं, हिंसक उपायों से नहीं। लोकतंत्र का अर्थ यदि कुछ है तो समानता है, समानता केवल मत देने के अधिकार की ही नहीं, बल्कि आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्र की भी समानता है।

नेहरू लोकतंत्र में भी संसदीय सरकार को अधिक अच्छा समझते थे क्योंकि यह समस्याओं को हल करने का एक शांतिपूर्ण उपाय है। उन्हीं के शब्दों में "इस प्रकार की सरकार (संसदीय सरकार) में वाद-विवाद, विचार-विमर्श और निर्णय करने की और उस निर्णय को तब भी स्वीकार करने की पद्धति अपनायी जाती है, जबकि कुछ लोग असहमत होते हैं। फिर भी, संसदीय सरकार में अल्पसंख्यकों का बहुत महत्वपूर्ण भाग रहता है। यह स्वाभाविक है कि बहुसंख्यकों को केवल इस कारण कि वे बहुसंख्यक हैं, अपने मार्ग पर चलने की स्वतंत्रता होनी चाहिए, किन्तु अल्पसंख्यकों की उपेक्षा करने वाला बहुसंख्यक दल अपना काम संसदीय गणतंत्र की सही भावना के साथ नहीं कर रहा होता।"

13.7 नेहरू चिन्तन: धर्मनिरपेक्षता, साम्प्रदायिकता एवं राष्ट्रीय एकता

जवाहरलाल नेहरू ने भारत के इतिहास का विवेकपूर्ण विश्लेषण किया था। वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि अपनी फूट और साम्प्रदायिकता की विष-बेल के कारण ही भारत अपने महान गौरव को खो बैठा है। नेहरू ने बताया कि संस्कृति और राष्ट्र की जा रही धार्मिक व्याख्याएं न केवल अवैज्ञानिक, वरन् हानिकारक भी हैं। नेहरू ने स्वीकार किया कि भारत में नस्ली और सांस्कृतिक भिन्नताएं हैं, किन्तु इन भिन्नताओं का धार्मिक विभाजनों से कोई संबंध

नहीं है। उन्हीं के शब्दों में: किसी व्यक्ति को अगर एक दूसरे के मजहब में मिला दिया जाता है तो इससे न तो ऐतिहासिक गठन और न उसकी नस्ली विशेषताएँ बदलती है; न ही किसी बड़ी हद तक उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि बदलती है। सांस्कृतिक श्रेणियाँ राष्ट्रीय होती है, धार्मिक नहीं और आधुनिक परिस्थितियाँ तो एक अन्तर्राष्ट्रीय श्रेणी के निर्माण में सहायता कर रही हैं।''

उन्होंने घोषणा की : "मैं न केवल इस बात को मानता हूँ कि एक एकात्मक भारतीय राष्ट्र का होना सम्भव है, बल्कि बुनियादी तौर से और सांस्कृतिक रूप से, कितने ही ऊपरी भेदभावों के बावजूद, यह राष्ट्र मौजूद भी है।"

उनके अनुसार एक साम्प्रदायिकता ने दूसरी को खत्म नहीं किया; दोनों ने एक दूसरे को बलिष्ट ही बनाया। उनका विश्वास था कि इन लोगों को पराजित करने के लिए हिन्दू-मुस्लिम एकता अनिवार्य है।

नेहरू का मत था कि हिन्दुओं, मुसलमानों, ईसाइयों, सिक्खों तथा भारत के अन्य ऐसे ही समूहों के सैद्धान्तिक एकरूपीकरण से ही सच्ची राष्ट्रीयता की वृद्धि हो सकती है। इसका अर्थ यह नहीं था कि भारत के सांस्कृतिक ढांचे में जो विविधता है वह खत्म कर दी जायेगी। इसका अर्थ तो यह था कि एक समान एवं राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास होगा। उन्होने कहा :

मैं नहीं सोचता कि हिन्दू-मुस्लिम एकता या दूसरी कोई एकता मंत्र की तरह 'एकता' शब्द को जपने से आ जायेगी। एकता आयेगी, इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं है। लेकिन यह नीचे से आयेगी, ऊपर से नहीं, क्योंकि ऊपर जो लोग हैं उनमें से बहुतों की दिलचस्पी ब्रिटिश आधिपत्य को कायम रखने में है और उसके जरिए वे अपने विशेषाधिकारों को बनाए रखने की आशा लगाए हैं। सामाजिक और आर्थिक शक्तियाँ, अनिवार्यत: दूसरी समस्याओं को सामने लायेगी। वे दूसरी तरह की दरारें पैदा करेंगी, लेकिन साम्प्रदायिक दरार मिट जायेगी।''

किन्तु अपने प्रयत्नों के बावजूद, नेहरू ने देखा कि हिन्दू-मुस्लिम समस्या अधिकाधिक कठिन और जटिल होती जा रही थी। भारत में सम्प्रदायवाद की वृद्धि वास्तव में एक विशिष्ट और ठोस समस्या थी और उसके लिए एक ठोस समाधान की जरूरत थी। दूसरे विश्वयुद्ध के काल में हिन्दू-मुस्लिम संबंध और भी बदतर हो गए और इसका नतीजा 1947 में देश का विभाजन था। किन्तु विभाजन के साथ साम्प्रदायिकता का अन्त नहीं हुआ। साम्प्रदायिकता जारी रही।

पं. नेहरू ने भारतीय धर्मनिरपेक्षतावाद के प्रति अपनी गहन निष्ठा रखी; वे निश्चय ही इसके प्रणेता थे। उनका अभिमत था कि धर्मनिरपेक्षता का मार्ग एकता को सुदृढ़ करने वाला है। उन्होंने धर्मनिरपेक्ष भारतीय संविधान का निर्माण कराया तथा धर्मनिरपेक्ष राज्य की संरचना कराई। धर्मनिरपेक्षता पर विचार करते हुए अपने एक भाषण में उन्होंने कहा :

"भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है, इसका अर्थ सभी धर्मो के प्रति आदर भाव तथा सभी व्यक्तियों के लिए समान अवसर है। चाहे कोई भी व्यक्ति किसी भी धर्म का अनुयायी क्यों न हो। इसलिए हमें अपने दिमाग, अपनी संस्कृति के इस आदर्शमय पहलू ही को अदा ध्यान में रखना चाहिए जिसका आज के भारत में सबसे अधिक महत्व है।''

पुनश्च: उन्होंने कहा, "हम देश में किसी भी प्रकार साम्प्रदायिकता सहन नहीं करेंगे। हम एक ऐसे स्वतंत्र धर्मनिरपेक्ष राज्य का निर्माण कर रहे हैं जिसमें प्रत्येक धर्म तथा मत को पूरी स्वतंत्रता तथा समान आदर भाव प्राप्त होगा और प्रत्येक नागरिक को समान स्वतंत्रता तथा समान अवसर की सुविधा प्राप्त होगी।'' नेहरू की धर्मनिरपेक्षता की धारणा बहुत उदार, व्यापक एवं विकासमान है। वे व्यवस्था को धर्मनिरपेक्ष समाज की ओर आगे बढ़ाना चाहते थे। वे सामाजिक नियमों, विवाह, उत्तराधिकार, कानून आदि का धर्मनिरपेक्षीकरण करना चाहते थे। इस दिशा में उन्हें काफी सफलता भी मिली। उसके बाद सभी राजनीतिक दलों, सरकारों एवं न्यायालयों ने धर्मनिरपेक्षता को भारतीय राज्य व्यवस्था का एक आधारभूत स्तम्भ मान लिया है। धर्मनिरपेक्षता राष्ट्रीय-एकता का ही दूसरा नाम समझा जाने लगा है।

नेहरू की धर्मनिरपेक्षता से यह अर्थ निकलना भ्रामक होगा कि वे अधार्मिक थे अथवा धर्म और ईश्वर इन दोनों शब्दों से उन्हें घृणा थी। उनकी प्रवृत्ति सत्य व करूणा के आध्यात्मिक मूल्यों को ग्रहण करने की तथा संकीर्णता और अन्धविश्वास से मुक्त रहने की थी। धर्म और ईश्वर के सही अर्थो में उन्हें विश्वास था। उनके जीवन दर्शन में अन्धविश्वास, कट्टरता कर्मकाण्ड और संस्कारवाद को स्थान नहीं था। उनका उपागम मूलत: वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रभावित था। वे भावनात्मक तथा धर्मिक अनुभवों के संबंध में भी वैज्ञानिक विधियों की संभावना में विश्वास करते थे। नेहरू का धर्म से आशय था : "सत्य के लिए सब कुछ बलिदान करने में उद्यत रहना।'' उन्हें विश्वास था कि अपने स्वस्थ स्वरूप में धर्म असंख्य व्याकुल आत्माओं को शांति देने वाली महाऔषधि है। ऐसा प्रतीत होता है कि नेहरू का धर्म, धर्मनिरपेक्षता एवं सम्प्रदायवाद के प्रति दृष्टिकोण जीवन के उच्च तथा उदात्त लक्ष्य में अकूत आस्था से प्रभावित था। वे मानते थे कि मनुष्य की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक उन्नति को उसकी आध्यात्मिक उन्नति से भी अनवार्यत: सम्बद्ध किया जाना चाहिए। एक बार उन्होंने कहा था "मैं किसी धर्म अथवा मताग्रह से बंधा नहीं हूँ परन्तु कोई इसे धर्म कहे या नहीं,- मैं मनुष्यों की अन्तर्निहित आध्यात्मिकता में विश्वास करता हूँ। मैं व्यक्ति की अन्तर्निहित गरिमा में विश्वास करता हूँ। मैं समझता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर दिये जाने चाहिए। मैं ऐसे समानतापूर्ण समाज के आदर्श में विश्वास करता हूँ जिसमें मनुष्य और मनुष्य के बीच बहुत अन्तर न हो- भले ही इस आदर्श को प्राप्त करना कठिन हो। जीवन की समस्याओं के प्रति उनका, निश्चय ही, एक किस्म का नैतिक दृष्टिकोण था, जो वस्तुत: वैज्ञानिकता, गांधीवाद, मार्क्सवाद एवं आध्यात्मिकता आदि सभी के संश्लेषण से उद्भूत था।

13.8 नेहरू चिन्तन: समाजवाद, मार्क्सवाद-साम्यवाद एवं लोकतांत्रिक समाजवाद

पं. नेहरू संभवत: पहले भारतीय लेखक थे, जिन्होंने विश्व घटनाचक्र के सन्दर्भ में भारत के इतिहास का पर्यवेक्षण किया और भारत के स्वतंत्रता संग्राम को साम्राज्यवाद के विरूद्ध विश्वव्यापी संघर्ष का एक हिस्सा माना। जेल में उन्होंने "विश्व इतिहास की झलक" लिखते समय भारत के अतीत में उन्होंने गहरे गोते लगाए- इतिहास के एक सैद्धान्तिक छात्र के रूप में

ही नहीं, वरन् स्वतंत्रता तथा एक नयी समाज व्यवस्था के लिए संघर्ष में सक्रियता से जूझने वाले योद्धा के रूप में। वे राष्ट्रीय आन्दोलन के समक्ष एक ऐतिहासिक संदर्श प्रस्तुत करना चाहते थे। जेल से निकलने के पश्चात तो एक महान नेता के रूप में समाजवाद के उनके विचारों का व्यापक पैमाने पर स्वागत हुआ। 1936 में कांग्रेस के लखनऊ में हुए अधिवेशन में उन्होंने कहा "मैं इस निष्कर्ष पर पहुंच गया हूँ कि दुनिया की समस्याओं और भारत की समस्याओं का समाधान समाजवाद में ही निहित है। और, जब मैं इस शब्द 'समाजवाद' का इस्तेमाल करता हूँ तो किसी अस्पष्ट मानवीयतावादी अर्थ में नहीं, बल्कि एक वैज्ञानिक, आर्थिक अर्थ में समाजवाद एक आर्थिक सिद्धान्त से भी बढ़कर कुछ है। " उनके अनुसार

"यह (समाजवाद) जीवन का एक दर्शन है और इस रूप में यह मुझे भी भाता है। भारत की जनता की कंगाली, जबर्दस्त बेराजगारी, दयनीयता और गुलामी को दूर करने का मैं समाजवाद के अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं देख पाता हूँ। इसका मतलब है कि हमें अपने राजनीतिक और सामाजिक ढांचे में बहुत बड़े और क्रांतिकारी परिवर्तन करने होंगे, जमीनों और उद्योग-धंधों पर शिकंजा जमाये बैठे निहित स्वार्थो को, और साथ ही, सामन्ती तथा निरंकुशतावादी भारतीय रजवाड़ों को भी, खत्म करना होगा। इसका मतलब है कि सिवाय एक सीमित अर्थ में - निजी सम्पत्ति को समाप्त करना होगा और मुनाफे खड़े करने की मौजूदा व्यवस्था की जगह सरकारी सेवा के उच्चतर आदर्श को स्थापित करना होगा। इसका मतलब है, एक नई सभ्यता को कायम करना, जो पूँजीवादी व्यवस्था से मूलत: भिन्न होगी। "

इस प्रकार जवाहरलाल नेहरू के लिए समाजवाद केवल एक आर्थिक प्रणाली नहीं थी; वह एक जीवनदर्शन था। समाजवाद न केवल भारत से कंगाली, बेरोजगारी, निरक्षरता, हारी-बिमारी और गंदगी मिटाने के लिए जरूरी था, वरन मानव व्यक्तित्व को विकसित करने के लिए जरूरी था। सुभाषचन्द्र बोस को 1939 में लिखे एक पत्र में नेहरू ने कहा था :
"मैं समझता हूँ कि स्वभाव और प्रशिक्षण से मैं एक व्यक्तिवादी और बौद्धिक रूप से एक समाजवादी हूँ - फिर इस सबका कुछ भी मतलब क्यों न हो। मैं आशा करता हूँ कि समाजवाद मानव व्यक्तित्व को कुचलता या नष्ट नहीं करता; मैं तो दरअसल उसकी ओर इसलिए आकर्षित हूँ कि वह अगणित मनुष्यों को आर्थिक और सांस्कृतिक दासता के बंधनों से मुक्त करेगा।"

समाजवाद के इस आदर्श सिद्धान्त पर उनका आग्रह था कि आर्थिक स्वतंत्रता के अभाव में राजनीतिक स्वतंत्रता कोई मायने नहीं रखती। 1955 में अवाड़ी कांग्रेस अधिवेशन में उन्होंने स्पष्ट किया कि उनका समाजवाद रूसी साम्यवाद या अन्य देशों के समाजवाद का अनुकरण नहीं है। उनके अनुसार:

"समाजवाद का अर्थ धन का वितरण नहीं है और न ही केवल जनकल्याणकारी राज्य का निर्माण है। समाजवादी अर्थव्यवस्था मात्र से ही लोककल्याण राज्य सम्भव नहीं बन सकता। आवश्यकता इस बात की है कि देश में उत्पादन बढ़ाया जाये, धन की, वृद्धि हो, और फिर अर्जित धन का समुचित ढंग से वितरण किया जाये। "

नेहरू का समाजवादी दृष्टिकोण मार्क्सवादी विचारधारा पर आधारित है। अपनी "'आत्मकथा" में उन्होंने कार्ल मार्क्स के चिन्तन के प्रभाव को स्वीकार किया है। वे मार्क्स के वैज्ञानिक दृष्टिकोण इतिहास की आर्थिक व्याख्या व शोषण का विरोध आदि से प्रभावित हुए। आचार्य नरेन्द्रदेव ने उन्हें "मार्क्स से प्रभावित समाजवादी" बताया। मार्क्सवादी प्रभाव की स्पष्ट झलक हमें नेहरू द्वारा लिखित "विश्व इतिहास की झलक" व ' 'भारत की खोज' ' आदि में देखने को मिलती है। कहा जाता है कि स्वयं मार्क्सवादियों ने मार्क्सवादी विचारधारा के प्रचार के लिए इतना कार्य नहीं किया जितना नेहरू ने किया। नेहरू का विश्व दृष्टिकोण मार्क्सवादी चिन्तन के उनके अध्ययन, सामाजिक घटनाक्रम के नियमों की उनकी समझदारी और जीवन के प्रति उनके वैज्ञानिक दृष्टिकोण की उपज थी। पर उन्हें अन्धकट्टरता से सदा घृणा रही। उन्होंने मार्क्सवादी सिद्धान्तों को मंत्रों की तरह दोहराने पर कम्युनिस्टों (साम्यवादियों) तक की आलोचना की और कहा कि वे "भारतीय यथार्थ को समझने के बजाय मात्र मार्क्सवादी सूत्रों को दोहराते हैं।" उन्होंने लिखा,

"जहाँ जनता का विशाल समुदाय भुखमरी की कगार पर खडा है और आर्थिक ढांचा चरमराकर टूट रहा है, कम्युनिज्म (साम्यवाद) का बहुत अधिक प्रभाव होना चाहिए। किसी अर्थ में यह अस्पष्ट प्रभाव है भी, किन्तु कम्युनिस्ट पार्टी इसका लाभ नहीं उठा पा रही, क्योंकि उसने अपने आपको राष्ट्रीय भावना के स्रोतों से पृथक कर लिया है और ऐसी भाषा में बात करती है, जिसकी जनता के हृदय में कोई गूंज नहीं सुनायी देती। यह पार्टी एक शक्तिशाली, किन्तु छोटा-सा दल मात्र है, जिसकी वास्तविक जड़े नहीं है।"

किन्तु उन्होंने मार्क्सवाद के अतिवादी स्वरूप, हिंसात्मक साधनों तथा उसके अन्तिम लक्ष्यों को नहीं माना। वे मार्क्स से प्रभावित तो हुए किन्तु मार्क्सवादी नहीं बने। उन पर भारतीय चिन्तन, परिस्थितियों एवं समस्याओं विशेषत: गांधीजी का गहरा प्रभाव था। उन्होंने मार्क्सवादी चिन्तन को पूर्ण एवं अन्तिम नहीं माना और बदलती हुई परिस्थितियों तथा नयी खोजों के सन्दर्भ में संशोधन के योग्य माना। वे मार्क्स द्वारा प्रतिपादित वर्ग संघर्ष एवं हिंसात्मक क्रांति को भी आवश्यक नहीं मानते थे। नेहरू गांधीजी की अहिंसा, शांतिमय परिवर्तन तथा कानून के शासन को प्रधानता देते थे। वे पूंजीपति वर्ग को मिटाने के स्थान पर उनके अधिकारों को कानून द्वारा सीमित रखना चाहते थे। मार्क्स लोकतंत्र का विरोध करता है। किन्तु नेहरू कट्टर लोकतंत्रवादी थे। उन्हें मार्क्स के "राज्यविहीन समाज" का विचार भी अव्यवहारिक लगता था। मार्क्स के वाक्य नेहरू के लिए कभी ईश्वरीय वाक्य नहीं बने। वे कभी यह नहीं मान सके कि शुभ साध्यों की प्राप्ति के लिए बुरे या हिंसात्मक साधनों का सहारा लिया जा सकता है। उसके लिए नैतिक मूल्य बहुत महत्वपूर्ण थे। फिर भी नेहरू द्वितीय महायुद्ध तक मार्क्सवादी-साम्यवादी विचारों से अधिक प्रभावित रहे हैं। उसके बाद उन पर मार्क्सवाद का प्रभाव कम हो गया और वे लोकतांत्रिक समाजवादी बन गये। वे राजनीतिक क्षेत्र के साथ-साथ आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में भी लोकतंत्र की स्थापना करना चाहते थे। इसी राजनीतिक-सामाजिक-आर्थिक लोकतंत्र को नेहरू का "लोकतांत्रिक समाजवाद" कहा जा सकता है। "भारत के स्वतंत्र होते ही नेहरू के लोकतंत्रात्मक समाजवाद को भारतीय संविधान के खण्ड तीन (मौलिक

अधिकार) तथा खण्ड चार (राज्य के नीति के निर्देशक सिद्धान्त) में देखा जा सकता है। इन्हीं प्रावधानों की क्रियान्विति के अन्तर्गत पंचवर्षीय योजनाओं एवं नियोजित आर्थिक विकास की अवधारणा को स्वीकार किया गया। पं. नेहरू के नेतृत्व में ही अवाड़ी कांग्रेस ने 1955 में स्वीकार किया कि भारत "समाजवादी ढंग का समाज" (सोश्यलिस्टिक पैटर्न ऑफ सोसायटी) स्थापित करने की दिशा में कार्य करेगा। उन्होंने लोकतांत्रिक समाजवाद को और आगे बढ़ाने के लिए 1956 में नागपुर- कांग्रेस के अधिवेशन में शांतिपूर्ण एवं न्यायोचित साधनों द्वारा समाजवादी सहकारी राज्य के निर्माण" का प्रस्ताव पारित कराया। 1962 तथा 1964 में उन्होंने औपचारिक एवं स्पष्ट रूप से लोकतांत्रिक समाजवाद की स्थापना के लिए संविधान में संशोधन कराए। "

वस्तुत: वे समाजवाद के आधार से लोकतंत्र को तथा लोकतंत्र के राजनीतिक आधार से समाजवाद को समृद्ध करने में लगे रहे। " इस प्रकार यह कहा जा सकता है "नेहरू के मन को मार्क्सवाद और साम्यवाद के प्रति ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरूद्ध प्रतिक्रिया के रूप में अथवा उसके विरोध में जो मानसिक सांत्वना मिलती थी उसके कारण जो संवेगात्मक अनुराग उत्पन्न हो गया था वह आयु की वृद्धि तथा समय के परिवर्तन के साथ-साथ बहुत कुछ क्षीण हो गया। जीवन के संध्याकाल में मार्क्सवाद-साम्यवाद से वे एक और दृष्टि से भी दूर हो गए। अपनी धर्मनिरपेक्षता के बावजूद, मानव जीवन के नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों के महत्व में उनका विश्वास बढ़ता गया, जबकि साम्यवाद में इन मूल्यों का कोई महत्व नहीं है। अपने मानवतावादी दृष्टिकोण के फलस्वरूप और जीवन में नैतिक तथा आध्यात्मिक आकांक्षाओं को मान्यता देने के कारण नेहरू गांधीवाद के अधिकाधिक निकट आते गए और मार्क्सवाद-साम्यवाद के प्रभाव से दूर हटते गए।

बोध प्रश्न 2

प्रश्न: 1 "नेहरू ने लोकतंत्र को केवल राजनीतिक क्षेत्र तक सीमित नहीं रखा" इस कथन से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर .....

.....

प्रश्न: 2 मार्क्सवाद - साम्यवाद से नेहरू का विचारभेद किन बातों को लेकर था ?

उत्तर: .....

.....

13.9 नेहरू चिन्तन : अन्तर्राष्ट्रीयतावाद एवं विश्वशांति

नेहरू ने अपने देश को, कांग्रेस को और - सम्पूर्ण मानव समाज को एक व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण प्रदान किया। गांधीजी की तरह उनके लिए राष्ट्रवाद का अर्थ केवल भारत की स्वाधीनता ही नहीं था अपितु उसके द्वारा विश्व-मानवता की सेवा भी था। गांधीजी की भाषा में बोलते हुए नेहरू ने कहा था :

"मेरी राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता पर आधारित है और आधुनिक विश्व, विज्ञान, व्यापार और यातायात के साधनों के कारण अन्तर्राष्ट्रीयता की नींव पर खड़ा है। कोई भी राष्ट्र विश्व से विमुख नहीं रह सकता।"

नेहरू का अन्तर्राष्ट्रीयतावादी दृष्टिकोण कोरा आदर्शवादी नहीं था। उन्होंने उसे व्यवहार में लागू करना चाहा। उन्होंने स्वतंत्र भारत सरकार का परराष्ट्र विभाग तथा विदेश नीति का निर्धारण अपने पास रखा और अपने अन्तर्राष्ट्रीय विचारों को मूर्त रूप दिया। उन्होंने भारत की विदेश नीति का निर्माण, अपने मानवतावाद एवं अन्तर्राष्ट्रीयवाद के आधार तथा देश की घरेलू और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के सन्दर्भ में किया। उन्होंने असंलग्नता के आधार पर भारत को नाटो तथा वारसा संधियों पर बने सैनिक गुटों से दूर रखा तथा गुटनिरपेक्ष विदेश नीति का प्रतिपादन किया। इसी आधार पर उन्होंने शस्त्रीकरण, नव- उपनिवेशवाद, आर्थिक शोषण तथा साम्राज्यवाद का विरोध किया।

उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्यों के आचरण का एक नया मौलिक सिद्धान्त दिया जो 'पंचशील' के नाम से विख्यात है। इसमें ये पांच सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए "(i) एक-दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता का सम्मान, (ii) अनाक्रमण, (iii) एक- दूसरे के आन्तरिक मामलों में अहस्तक्षेप (iv) समानता और पारस्परिक लाभ एवं (v) शांतिपूर्ण-सहअस्तित्व तथा अर्थिक सहयोग।"

विश्व के लगभग सभी राज्यों ने पंचशील के सिद्धान्तों में आस्था प्रकट की। अन्तर्राष्ट्रीयवाद एवं विश्व शांति के लिये नेहरू ने संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रबल समर्थन करके, विवादों का निबटारा शांतिमय उपायों एवं बातचीत के द्वारा किए जाने व एशियाई अफ्रीकी जागरण में सहायता पहुँचाने की जरूरत बता कर तथा शीतयुद्ध, साम्राज्यवाद एवं युद्धों दूर एक नयी सक्रिय अंसलग्नता (गुट निरपेक्षता) की विदेश नीति को अपनाकर विश्व राजनीति वस्तुत: एक नवीन गतिशील एवं विकासशील नीति को प्रतिपादित किया।

बोध प्रश्न- 3

प्रश्न:1 गुट निरपेक्षता का आशय क्या है?

उत्तर: .....

.....

प्रश्न:2 पंचशील के पांच सिद्धान्त क्या हैं? उत्तर

.....

.....

13.10 सारांश

नेहरू ने पहले आजादी की लडाई का सफल नेतृत्व किया तथा फिर अपने प्रधानमंत्रित्व काल में स्वतंत्र भारत का हर क्षेत्र में कुशल मार्गदर्शन किया। 27 मई 1964 को उनके निधन के साथ ही भारत में एक युग की समाप्ति हुई, जिसे नेहरू-युग कहा जा सकता है। नेहरू ने राष्ट्र के भव्य प्रासाद को दृढ़ आधारशिला प्रदान की, संविधान के तन में 'जीव', और 'जीवात्मा'

को प्रतिष्ठित किया, प्रारम्भिक 14 वर्षो में संविधान के सफल क्रियान्वयन के दौरान, संविधान की इमारत में जब-तब जो दरारें दिख पड़ी, नेहरू ने स्वयं अपने कर-कमलों से उनकी मरम्मत की। उन्होंने संविधान में जरूरी संशोधन प्रस्तुत करके संविधान निर्माताओं की वास्तविक भावनाओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया। अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में वे भारत की प्रगति, वैज्ञानिक और तकनीकी विकास, लोकतांत्रिक-समाजवाद, धर्मनिरपेक्षवाद और स्वतंत्र विदेश नीति तथा अन्तर्राष्ट्रीय शांति की स्थापना के लिए जूझते रहे। नेहरू एक सच्चे राष्ट्रवादी एवं अन्तर्राष्ट्रीयवादी थे। मानवमात्र के कल्याण की इच्छा रखने के नाते उन्होंने सदैव विश्व बधुंत्व, सहयोग, शांतिपूर्ण - सहअस्तित्व, राष्ट्रीय स्वतंत्रता और संप्रभुता, असंलग्नता, निःशस्त्रीकरण तथा अणुशक्ति के शांतिपूर्ण रचनात्मक प्रयोग का समर्थन किया।

"नेहरू स्वयं समालोचक, विश्लेषक थे, अतएव समालोचना एवं विश्लेषण की कसौटी के प्रति वे सदैव सहिष्णु रहे। वर्तमान पीढ़ी का दायित्व है कि अग्रज-कर्मण्यवादी के परिप्रेक्ष्य में नेहरू की विरासत को समझे तथा 'सतही-औपचारिक' एवं निर्णायक शाश्वत' के भेद के आधार पर भारत की विशिष्ट प्राथमिकताओं को विस्मृत न करें। 'वाद' एवं 'प्रत्यय' की निरकुंश परम्परा से विलन होकर ही, पुनःनिरीक्षण एवं पुनःकथन अर्थपूर्ण होते हैं।" यदि गांधी के आधारभूत एवं मूल कथन "हिन्द स्वराज्य" में उल्लिखित है, तो नेहरू के प्राथमिक विश्वास-प्रतिबद्धता के प्रतीक उनकी कृति "आत्मकथा" में स्थापित है। परिवर्तनशीलता एवम् गत्यात्मकता के मूल्यों को साकार बनाने में गांधी एवम् नेहरू, दोनों के योगदान ही मानक हैं। अपरिवर्तनीयता तथा हठी दृढता, सामयिक मर्यादा को सिद्ध नहीं करते। परतंत्रता एवं स्वतंत्र भारत के नित्य परिवर्तनीय परिप्रेक्ष्य में नेहरू के आधारभूत मूल्य एवं गांधी के मूल्य प्रत्ययों में विशेष अन्तर नहीं। नेहरू की विरासत इसी सत्य का संवर्धन है।

13.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

(1) जवाहरलाल नेहरू के प्रमुख राजनीतिक विचारों की संक्षेप में विवेचना कीजिए।

(2) "मानवतावाद नेहरू के समस्त चिन्तन का मूल आधार था", इस कहन को स्पष्ट करते हुए व्यक्ति एवं राज्य के बारे में नेहरू चिन्तन का विवेचन कीजिए।

(3) धर्मनिरपेक्षता, साम्प्रदायिकता एवं राष्ट्रीय एकता से संबंधित पं. जवाहरलाल नेहरू के चिन्तन की व्याख्या कीजिए।

(4) लोकतांत्रिक-समाजवाद के संबंध में नेहरू की विचारधारा स्पष्ट कीजिए। नेहरू का लोकतांत्रिक-समाजवाद मार्क्सवाद-साम्यवाद से किस प्रकार भिन्न है?

(5) पं. नेहरू की वर्तमान संदर्भ में प्रासंगिता का उल्लेख करते हुए उनकी उपलब्धियों का मूल्यांकन कीजिए।

13.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. जवाहरलाल नेहरू : ऑटोबायोग्राफी
2. जवाहरलाल नेहरू : डिसकवरी ऑफ इण्डिया, मेरिडियन बुक्स, लंदन,1960
3. के. दामोदरन : भारतीय चिन्तन परम्परा, " पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस,

नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 197 अध्याय 42

4. वी.पी.वर्मा : मॉडर्न इंडियन पोलिटिकल थॉट,लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, 1986, अध्याय 23

5. बी.आर.पुरोहित : आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।

6. आ.के.प्रूथी : इंडियन पोलिटिकल थॉट, मोहित पाब्लिकेशन्स नई दिल्ली, 2007

इकाई-14

भीमराव अम्बेडकर

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 जीवन परिचय

14.3 सामाजिक विचार

14.3.1 जाति प्रथा

14.3.2. अस्पृश्यता

14.3.3. स्त्रियों की स्थिति

14.3.4. शिक्षा

14.4 धार्मिक विचार

14.4.1 धर्म के तत्व

14.4.2. हिन्दू धर्म की कमजोरियाँ

14.4.3. हिन्दू धर्म में सुधार के प्रस्ताव

14.4.4. धर्म परिवर्तन

14.5 राजनीतिक विचार

14.5.1. राज्य एवं शासन का स्वरूप

14.5.2. लोकतंत्र

14.5.3. राष्ट्रवाद

14.6 आर्थिक विचार

14.6.1 जातिगत व्यवसायों का विरोध

14.6.2. राज्य समाजवाद

14.6.3. सामुदायिक खेती

14.6.4. औद्योगीकरण

14.7 अम्बेडकर और गांधी

14.8 सारांश

14.9 अभ्यास प्रश्न

14.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

14.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप जान पायेंगे -

- अम्बेडकर का जीवन तथा कृतित्व

- अम्बेडकर के सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक विचार '
- जाति प्रथा तथा अस्पृश्यता उन्मूलन के प्रति लिये अम्बेडकर योगदान
- अम्बेडकर द्वारा प्रस्तुत राष्ट्रवाद की संकल्पना !
- अम्बेडकर के सामाजिक प्रजातंत्र की उपादेयता, एवं
- गांधी तथा अम्बेडकर के सामाजिक विचारों का तुलनात्मक अध्यन

14.1 प्रस्तावना

भारत में प्राचीन काल से ही समय-समय पर समाज तथा धर्म सुधार आंदोलन होते रहे हैं। जिसका नेतृत्व बुद्ध, महावीर या मध्यकालीन संतों ने किया। भारत में शासन की स्थापना के परिणामस्वरूप एक बार फिर धर्म तथा समाज सुधार आंदोलनों का दौर शुरू हुआ। ब्रिटिश काल में हुये सुधारकों में भीमराव अम्बेडकर एक ऐसे चिन्तक थे जिन्होंने समाज की जाति व्यवस्था तथा दलित समस्या को नये आयाम दिये।

यहाँ हम भीमराव अम्बेडकर के चिन्तन के विभिन्न पक्षों से परिचित होगें लेकिन विशेष तौर पर हम यह जान पायेगें कि किस प्रकार उन्होंने राजनैतिक के समानान्तर सामाजिक समानता तथा न्याय के प्रश्न को प्रासंगिक और ज्वलन्त बनाया। अम्बेडकर ने भारतीय समाज एवं हिन्दू धर्म में व्याप्त विषमताओं को न स्वयं भोगा था अपितु इसका, तार्किक एवं विवेकपूर्ण अध्ययन कर इसके उद्भव एवं कारणों की खोजकर, निदान प्रस्तुत था। जाति व्यवस्था में सुधार ही नहीं, इसकी समाप्ति को ही वे प्रजातांत्रिक समाज की आधारशिला मानते थे।

हम अम्बेडकर के धार्मिक, आर्थिक एवं राजनैतिक विचारों प्रासंगिकता को समझेंगे। अम्बेडकर के समान ही गांधी भी अस्पृश्यता को समाप्त कर समरस समाज के निर्माण में विश्वास करते थे किन्तु दोनों चिन्तकों में गहरे मतभेद थे। दोनों के विचारों के तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में हम समानता तथा प्रजातंत्र पर आधारित समाज की स्थापना के प्रयासों के बारे में इस इकाई के अन्तर्गत हम अध्ययन कर सकेंगे।

14.2 जीवन परिचय

बीसवीं सदी के प्रमुख समाज सुधारक, राजनेता तथा के दार्शनिक भीमराव अम्बेडकर का जन्म 1891 में महाराष्ट्र की अस्पृश्य महार जाति में हुआ था। उन्होंने अछूतों के सामाजिक तथा धार्मिक अधिकारों के लिए संघर्ष के साथ सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया। 1927 में पानी के सार्वजनिक उपयोग के लिए उन्होंने महाड सत्याग्रह किया। और 1928 में भारत आये, साइमन कमीशन से दलितों के लिए शैक्षणिक सुविधाओं की मांग की। 1930 में अम्बेडकर ने दलित नेता के रूप में प्रथम गोलमेज सम्मेलन में भाग लिया और 1932 में दलितों के लिए पृथक निर्वाचक मण्डल की मांग पर महात्मा गांधी के साथ पूना समझौता किया। समानता पर आधारित समाज की स्थापना के लिए संघर्षरत अम्बेडकर ने 1938 में मुंबई विधानसभा में खोती (जमींदारी प्रथा) की समाप्ति के लिए विधेयक पेश किया। वे स्त्री तथा श्रमिकों के अधिकारों के लिए भी प्रयत्नशील रहे। संविधान प्रारूप लेखन समिति के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने संविधान निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। स्वतंत्र भारत के प्रथम कानून मंत्री के

रूप में आपने हिन्दू कोड बिल" प्रस्तुत किया, लेकिन कट्टरवादियों के विरोध के कारण असफलता मिली जिसके परिणामस्वरूप मंत्री पद से त्यागपत्र दे दिया। दलितों के प्रति सवर्णो के दृष्टिकोण में अपेक्षित बदलाव न पाकर 1956 में हिन्दू धर्म छोड़कर अम्बेडकर ने अपनी मृत्यु से पूर्व बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया।

14.3 सामाजिक विचार

19 वीं सदी से ही भारतीय समाज सुधार के लिये प्रयास किये जा रहे थे, लेकिन अम्बेडकर के प्रयास इन सबसे भिन्न थे। अम्बेडकर ने सामाजिक व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन का विकल्प दिया। समाज सुधार को वे दो अर्थो में देखते थे। पहला - पारिवारिक सुधार तथा दूसरा समाज का पुनर्गठन। विधवा विवाह, बाल विवाह, स्त्री शिक्षा आदि पारिवारिक सुधार की श्रेणी में आते हैं तो ऊंच-नीच, छुआछूत, वर्णभेद एवं जातिभेद मिटाना समाज सुधार की श्रेणी में। उनका मानना था कि समाज सुधार के बिना सच्ची राष्ट्रीयता का उदय सम्भव नहीं है। वे सामाजिक अत्याचार की तुलना में राजनीतिक अत्याचार को नगण्य मानते थे और समाज का विरोध करने वाले समाज सुधारक को सरकार का विरोध करने वाले राजनीतिज्ञ से ज्यादा साहसी। इसीलिए उन्होंने समाज सुधार बनाम राजनैतिक चेतना के पुराने सवाल को उठाया जिसको लेकर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में दो धडे रहे थे और कांग्रेस में समाज सुधार वाले पक्ष की पराजय को वे दुर्भाग्यपूर्ण मानते थे।

अम्बेडकर ने भारतीय समाज में व्याप्त बुराइयों यथा-जातिवाद, ब्राह्मणवाद, छुआछूत आदि पर तीखे प्रहार किये और कहा कि समाज व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन करने के लिए सामाजिक सुधार मात्र नहीं, सामाजिक क्रान्ति की आवश्यकता है। जातिप्रथा उन्मूलन, दलितोत्थान तथा अस्पृश्यता निवारण अम्बेडकर के सामाजिक विचारों के केन्द्र में हैं।

14.3.1 जातिप्रथा

जीवन के कटु अनुभवों से अम्बेडकर ने सीखा था कि भारत में सामाजिक असमानता की जड़ जाति व्यवस्था है। जाति व्यवस्था से स्वयं पीडित अम्बेडकर ने उसके उद्गम, स्वरूप तथा नष्ट करने के उपायों पर शोधपूर्ण आकंलन प्रस्तुत किया।

अम्बेडकर का मानना था कि समाज व्यक्तियों से नहीं वर्गो के मिलने से बनता है और जब समूह के बाहर विवाहों के स्थान पर समूह के अन्दर असगोत्र विवाह की प्रणाली चलने लगती है तो वर्ग जाति में बदल जाते हैं। भारत में भी इतिहास के किसी युग में पुरोहित वर्गो ने अपने को समाज से अलग एक जाति में बन्द कर लिया जिसका अन्य वर्गो ने भी अनुसरण किया और परिणामस्वरूप कई जातियों का जन्म हुआ। वे इस धारणा में विश्वास नहीं करते थे कि जाति प्रथा के उद्गम का उद्देश्य प्रजाति तथा रक्त की शुद्धता की रक्षा करना था, क्योंकि उनके अनुसार भारत की विभिन्न प्रजातियों के रक्त और संतति के आपस में मिलने के बहुत बाद में जाति प्रथा का जन्म हुआ।

अम्बेडकर इस बात को नहीं मानते थे कि विधि व्यवस्था के प्रणेता मनु ने, जाति व्यवस्था का निर्माण किया। उनका कहना था कि कोई व्यक्ति चाहे कितना ही शक्तिशाली हो,

जाति व्यवस्था का निर्माण नहीं कर सकता था। हाँ, मनु ने जाति के विद्यमान नियमों को संहिताबद्ध करके उन्हे धार्मिक तथा दार्शनिक आधार अवश्य प्रदान किया।

(i) जाति का स्वरूप

अम्बेडकर का मानना था कि वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित हिन्दू समाज रचना हिन्दू धर्म द्वारा स्वीकृत है क्योंकि यह व्यवस्था इस सिद्धान्त पर आधारित है कि ईश्वर ने मानव को अपने भिन्न-भिन्न अंगों से पैदा किया है। ब्राहाण ईश्वर के मुख से, क्षत्रिय से, वैश्य जंघा से तथा शूद्र पैरों से पैदा हुआ है। ईश्वरीय शरीर के अंगों की प्रतिष्ठा के ही वर्ण एवं जाति की सामाजिक प्रतिष्ठा होती है। उनका कहना था कि हिन्दु समाज इसी आधार पर जाति व्यवस्था की इस्पाती चौखट में बंधा हुआ है जिसमें एक जाति सामाजिक प्रतिष्ठा में दूसरी से नीचे है और अपने स्थान के अनुपात में प्रत्येक जाति के विशेषाधिकार निषेध और असमर्थतायें हैं। अम्बेडकर के अनुसार जाति का आधार जन्म होने के कारण व्यक्ति के कार्य एवं योग्यता का कोई स्थान नहीं है अत: ऐसी व्यवस्था में व्यक्ति समानता तथा न्याय की उम्मीद नहीं कर सकता।

जाति व्यवस्था के आधार पर प्रचलित वंशानुगत व्यवसायों को अम्बेडकर प्राकृतिक योग्यता एवं स्वतंत्रता के विरूद्ध मानते थे। उनके अनुसार, जाति व्यवस्था श्रम का विभाजन न होकर श्रमिकों का भी विभाजन है। जाति व्यवस्था पहले से ही व्यक्ति के कार्य निर्धारण कर देती है जो उसकी मौलिक सामर्थ्य पर आधारित ना होकर उसके माता-पिता की पर आधारित होता है। व्यवसाय परिवर्तन की स्वतंत्रता न होने के कारण इसने बेरोजगारी को है। इस प्रकार आर्थिक संगठन के रूप में अम्बेडकर जाति को हानिकारक संस्था मानते थे। इसकी और विस्तृत चर्चा हम आगे करेगें।

जाति व्यवस्था की पदसोपानीय संरचना के सर्वोच्च पायदान पर ब्राहमण थे जो सर्वाधिकार सम्पन्न थे। ब्राहमण ही समग्र रूप से समाज के नियमों के नियंता थे। अम्बेडकर जानते थे कि जाति व्यवस्था में सर्वाधिक लाभ ब्राहमणों को मिला है अत: वे जाति व्यवस्था के समर्थक रहेंगे। उनका कहना था कि जाति व्यवस्था की अभेद्य दीवार जिस सामग्री से बनी है उसमे तर्क तथा नैतिकता जैसा कोई ज्वलनशील पदार्थ नहीं है और इसकी रक्षा के लिए ब्राहमणों की फोज खड़ी है। लेकिन अम्बेडकर ने यह भी स्पष्ट कहा कि वे ब्राहमणो के खिलाफ नहीं है, ब्राहमणवाद से ग्रस्त लोगों से उनका विरोध है। ब्राहमणवाद को वे हिन्दू समाज के लिए ऐसा जहर मानते, जिसके शमन द्वारा ही हिन्दूवाद को बचाया जा सकता है।

अम्बेडकर के सामाजिक चिन्तन की एक अन्य विशेषता यह है कि उनकी भारतीय जाति व्यवस्था एवं धर्म पर आधारित सामाजिक संरचना की अपनी गहरी समझ के आधार पर उन्होंने समाजवादियों द्वारा की गई भारतीय इतिहास तथा समाज की आर्थिक व्याख्या को अस्वीकार कर दिया। वे आर्थिक शक्ति को सत्ता का एकमात्र स्त्रोत नहीं मानते थे। उन्होने कहा कि समाजवादी यह मानकर चलते हैं कि चूँकि यूरोपीय समाज की वर्तमान अवस्था में सम्पत्ति शक्ति का प्रमुख स्त्रोत है तो भारत में भी यही बात सही होगी। धर्म, सामाजिक प्रतिष्ठा तथा सम्पति तीनों ही शक्ति और सत्ता के स्त्रोत रहे हैं जिनका इस्तेमाल आदमी ने दूसरों की स्वतंत्रता को छीनने के लिए किया है। यदि स्वतंत्रता का अर्थ किसी एक व्यक्ति पर किसी

अन्य व्यक्ति के अधिकार को समाप्त करना है तो यह नहीं कहा जा सकता कि केवल आर्थिक सुधार ही लाये जाने चाहिये। यदि किसी समय में या समाज में शक्ति और अधिकार के स्त्रोत सामाजिक या धार्मिक हों तो सामाजिक तथा धार्मिक सुधारों की अनिवार्यता स्वीकार की जानी चाहिये। भारत का इतिहास दिखाता है कि धर्म भी सत्ता का स्त्रोत है इसीलिये करोड़पति व्यक्ति निर्धन साधुओं तथा फकीरों की, आज्ञा का पालन करते हैं और करोड़ों निर्धन अपने छोटे मोटे गहने बेच कर बनारस और मक्का जाते हैं।

इसी संदर्भ में अम्बेडकर ने जाति की सत्ता को देखा और समझा था। जाति व्यवस्था द्वारा निर्धारित नैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक संहिता का विरोध करने पर सम्बन्धित जाति को ऐसे व्यक्ति को जाति से बहिष्कृत करने का एकाधिकार होता है। जाति से बहिष्कृत का अर्थ है उसे समाज के किसी भी काम में भाग न लेने देना। अम्बेडकर ने इस पर कटाक्ष करते हुये कहा था कि यह तय करना कठिन है कि जाति बहिष्कार कठोरदण्ड है या मृत्यु।

(ii) जाती प्रथा का उन्मूलन

अम्बेडकर ने अपने गहन अध्ययन, अवलोकन और अहसास के बाद पाया कि भारतीय समाज को यदि समानता, न्याय तथा लोकतंत्र पर आधारित समाज के रूप में पुनर्गठित करना है तो जाति व्यवस्था को समूल रूप से नष्ट करना होगा। उन्होंने जाति व्यवस्था में विद्यमान कमजोरियों एवं उसके दुष्प्रभावों की तार्किक, स्पष्ट एवं विवके सम्मत व्याख्या की। उनका मानना था कि जन्म जो कि संयोग है, पर आधारित होने के कारण जाति व्यवस्था, न्याय एवं समानता के प्राकृतिक एवं प्रजातांत्रिक अधिकारों के विरूद्ध है। जाति प्रथा के कारण किसी भी विषय पर सार्वजनिक सहमति का होना असंभव है। हिन्दुओं के लिए उनकी जाति ही जनता है तथा उनकी निष्ठा व दायित्व अपनी जाति तक ही सीमित है। इसी आधार पर अम्बेडकर का मानना था कि जातिगत आधार पर गठित हिन्दू समाज एकता तथा संगठन के स्थान पर अलगाव को प्रोत्साहन देता है। अम्बेडकर ने स्पष्ट किया कि हिन्दू धर्म प्रचारक धर्म नहीं हो सकता है क्योंकि जातिगत स्वायत्ता के कारण ऐसे व्यक्ति के लिए कोई जगह नहीं जो धर्म बदल कर हिन्दुमत में आया हो।

हिन्दू समाज की जीवन शक्ति पर गर्व करने वालों से भी अम्बेडकर सहमत नहीं थे। उनका मानना था कि जीवित रहने से ज्यादा महत्वपूर्ण है जिन्दा रहने का ढंग। अम्बेडकर का विचार था कि हिन्दुओं के अस्तित्व की कहानी लगातार पराजय की कहानी है। कारण यह था कि हमारा सारा देश हमले के खिलाफ खड़ा न हो सका, जाति व्यवस्था में बंटे समाज के एक छोटे से वर्ग ने उनका मुकाबला किया और हमारा देश हार गया। हमारे यहां लड़ने का जिम्मा केवल क्षत्रियों को सोंपा गया था, लेकिन जिसके दुष्परिणाम हमें भोगने पड़े। जब तक जाति प्रथा रहेगी समाज इसी तरह बँटा रहेगा।

अम्बेडकर तत्कालीन कुछ समाज सुधारकों के इस मत से भी सहमत नहीं थे कि जाति के स्थान पर वर्ण व्यवस्था को अपना लिया जाय तो सभी सामाजिक बीमारियों का इलाज हो जायेगा क्योंकि उनके अनुसार वर्ण व्यवस्था में जाति के रूप में विकृत होने की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। वे यह भी जानते थे कि जाति सत्ता के शिखर पर बैठा ब्राह्मण वर्ग अपने निहित स्वार्थो के कारण जाति उन्मूलन आंदोलन का समर्थक नहीं हो सकता। ब्राह्मण ही हिन्दू

सामाजिक संरचना में बौद्धिक वर्ग का प्रतिनिधि है अत: अम्बेडकर ने जाति व्यवस्था को समाप्त करने के लिए पुरोहितशाही पर राज्य द्वारा कानूनी नियंत्रण और नियमन का विचार रखा जिसकी विस्तृत चर्चा हम डॉ. अम्बेडकर के धार्मिक विचारों के अन्तर्गत करेंगें।

अम्बेडकर हिन्दू समाज की समस्त बुराईयों की जड़ जाति व्यवस्था को मानते थे और इसीलिए इसको समूल रूप से नष्ट करना ही उनकी दृष्टि में उन्नति का एकमात्र विकल्प था। लेकिन वे यह भी जानते थे कि इस हजारों साल पुरानी व्यवस्था को समाप्त करना असंभव नही तो कठिन अवश्य है क्योंकि स्वयत्तशासी होने के कारण जाति व्यवस्था के कट्टर पंथियों के हाथ में समाज सुधारकों को दण्डित करने के लिये जाति कानून का सशक्त हथियार है।

वे समानता, स्वंत्रता तथा परस्पर भाईचारे पर आधारित समाज का पुनर्गठन करना चाहते थे, और इसके लिये वर्ण एवं जाति के पीछे विद्यमान धार्मिक पवित्रता की भावना को नष्ट करना आवश्यक मानते थे। उनका कहना था कि जाति तथा वर्ण को धर्मशास्त्रों की दिव्यसत्ता से अलग कर दिया जाना चाहिये।

अम्बेडकर कोरे सिद्धान्तवादी नहीं अपितु जमीन से जुड़े विचारक थे। वे जानते थे कि हजारों सालों से पोषित जाति व्यवस्था को रातों रात समाप्त नहीं किया जा सकता। इसके लिए हिन्दुओं के मौलिक दृष्टिकोण में परिवर्तन लाना आवश्यक था। उनका विचार था कि जाति प्रथा से लड़ने के लिए चारों तरफ से प्रहार करना होगा। जाति ईंट की दीवार जैसी कोई भौतिक वस्तु नहीं है जिसे गिरा दिया जाए। अपितु यह एक विचार और मन: स्थिति है। अम्बेडकर, जाति भेद मिटाने के लिए अन्तरजातीय सहभोज के उपाय को सतही और अपर्याप्त मानते थे इसका वास्तविक उपाय वे अर्न्तजातीय विवाह को मानते थे। उनके अनुसार, जब जाति का आधार समाप्त हो जायेगा तो इसके लिए रास्ता खुल जायेगा। केवल रक्त का मिश्रण ही की भावना पैदा कर सकता है और जब तक यह अपनेपन और बन्धुता का भाव प्रधान नहीं होता, आधारित दुर्भाव दूर नहीं किये जा सकते।

14.3.2 अस्पृश्यता

असमानता तथा जन्माधारित भारतीय जाति व्यवस्था की स्थिति का स्वरूप था- अस्पृश्यता। इसके अर्न्तगत हिन्दू समाज के अन्तर्गत बहुत बडी संख्या मे ऐसे लोग थे जो अन्त्यज, अवर्ण अथवा पंचम के रूप में जाने जाते थे तथा जिन्हें छूने भर से हिन्दुओं का धर्म भ्रष्ट हो जाता था। यह हिन्दू धर्म की एक ऐसी अनोखी प्रथा है जिसका दुनिया मे कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिलता। सदियों से प्रचलित इस प्रथा के कारण हिन्दू समाज के एक बहुत बडे हिस्से को समस्त प्रकार की योग्यताओं, अवसरों तथा अधिकारों से वंचित कर दिया गया। इत्तफाक से अम्बेडकर का जन्म भी महाराष्ट्र की अस्पृश्य जाति महार में हुआ था। अछूत के रूप में रोंगटे खड़े कर देने वाले अपमान के दौर से गुजरे अम्बेडकर के मन में अन्याय का प्रतिकार करने तथा जन्म, वर्ण तथा जाति की मान्यताओं को ध्वस्त करने का दृढ संकल्प एवं संघर्षशीलता थी। कारण है कि अम्बेडकर ने अस्पृश्यता के उद्गम, स्वरूप, शोषण तथा उसके उन्मूलन का लक्ष्य आधार प्रस्तुत किया तथा छुआछूत की समाप्ति एवं जाति व्यवस्था के

उन्मूलन के लक्ष्य के प्रति अपना समग्र जीवन समर्पित कर दिया। छुआछूत के उपरोक्त आयामों के सम्बन्ध में अम्बेडकर के की यहां हम चर्चा करेगें।

भारतीय इतिहास के गहन अध्ययन के बाद अम्बेडकर ने "व्यू वर द शूद्राज" नामक ग्रन्थ में शूद्रों तथा छुआछूत की उत्पत्ति तथा विकास को प्रतिपादित करने का प्रयास किया। उनके अनुसार शूद्र न केवल आर्य थे अपितु क्षत्रिय वर्ग से सम्बन्धित थे। चतुर्वर्ण का प्रतिपादन करने वाले ऋग्वेद के पुरूष सूक्त को बाद में जोड़ा गया बताकर अम्बेडकर ने अस्वीकार कर दिया। अम्बेडकर ने शूद्र राजा सुदास तथा ब्राह्मण ऋषि वशिष्ठ के बीच हुये झगड़े का उदाहरण देते हुये कहा कि शूद्रों तथा ब्राह्मणों के बीच हुये हिंसक संघर्ष के परिणामस्वरूप ही शूद्रों का पतन हुआ और वे वर्ण क्रम में चौथे स्थान पर चले गये। अम्बेडकर का मानना था कि ब्राह्मणों ने शूद्रों को उपमयन के अधिकार से वंचित कर दिया जिसने उनके लिए दासता का मार्ग प्रशस्त किया। शूद्रों के पतन के लिए अम्बेडकर ने उपनयन की अस्वीकृति के प्रभाव को 'परमाणु बम' के समान माना है।

अस्पृश्यता के अर्थ को परिभाषित करते हुये अम्बेडकर ने लिखा है कि अछूतों के छूने पर सवर्ण अपवित्र हो जाते हैं और फिर पवित्र करने वाली किसी रस्म द्वारा ही वे पवित्र होते हैं लेकिन अछूतों के लिए ऐसी कोई रस्म नहीं है जिसके सम्पादन द्वारा अछूत पवित्र हो जाय। छुआछूत की इस प्रथा में, अछूत अपवित्र ही जन्म लेते हैं, आजीवन अपवित्र रहते हैं, अपवित्र ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं। यहीं नहीं, वे ऐसे बच्चों को जन्म देते हैं जिनके साथ अस्पृश्यता का कलंक जुड़ा होता है। यह स्थायी तथा वंशानुगत कलंक का मुद्दा है। जिसे मिटाया नहीं जा सकता।

अछूतों की इस अमानवीय, शोचनीय तथा दासता से भी बदतर स्थिति के लिए अम्बेडकर दो तत्वों को प्रमुख रूप से जिम्मेदार मानते थे एक हिन्दू धर्म तथा दूसरा ब्राह्मणवाद।

अम्बेडकर ने स्पष्ट किया कि जाति-पाँति का भेद तथा छुआछूत को हिन्दू इसलिए नहीं मानते कि उनका व्यवहार अमानुषिक तथा अन्यायपूर्ण है बल्कि वे अत्यधिक धार्मिक होने के कारण ऐसा मानते हैं। अत: जात-पांत की शिक्षा देने वाले धर्मशास्त्र दोषी हैं। अम्बेडकर का दृढ़ मत था कि मनुस्मृति ने छुआछूत का संहिताकरण तथा वैधानीकरण करने में निर्णायक भूमिका अदा की है। चातुर्वर्ण्य पर आधारित रामराज में राम ने शम्बूक को मृत्युदण्ड इसलिए दिया कि वह जन्म से शूद्र था किन्तु ब्राह्मण बनना चाहता था। इस दृष्टान्त से रामायण ने जन्म पर आधारित अवस्थाओं को न केवल वैधता प्रदान की अपितु इस व्यवस्था का उल्लंघन करने वालों के अपराध की सजा मृत्यु तय कर दी। उन्होनें मनुस्मृति का गहन अध्ययन कर हजारों ऐसे उदाहरण दिये जो मनु के भेदभाव पूर्ण नियमों का पर्दाफाश करते हैं। उनके अनुसार स्वयं मनु ने सात प्रकार की दासता का उल्लेख किया है। दासता, विवाह, दण्ड तथा संन्यास के नियम भी अलग-अलग वर्णो के लिए अलग-अलग थे। ईश्वर के अंगों से उत्पन्न इन वर्णो की सामाजिक प्रतिष्ठा भी उसी के अनुरूप थी। अम्बेडकर को खेद इस बात का था कि 20 वीं सदी में भी इस सिद्धान्त को हिन्दू जीव विज्ञान के तथ्य और तर्क की कसौटी पर जांचने को तैयार नहीं थे।

मनुस्मृति के उस विधान को वे नराधम मानते थे जिसमें कहा गया था कि यदि कोई शूद्र वेद पाठ करे तो उसकी जबान काट लेनी चाहिए और वेद पाठ सुने तो उसके कानों में पिघला हुआ सीसा डाल दिया जाय। इसी प्रकार की व्यवस्था से आहत अम्बेडकर ने घोषणा की कि हिन्दू सभ्यता को सभ्यता नहीं कहा जा सकता, यह तो मानवता का दमन कर उसे गुलाम बनाने का षड्यन्त्र मात्र है।

समुदाय विशेष के व्यक्ति को छूने मात्र को पाप समझने वाले हिन्दू धर्म पर कटाक्ष करते हुये उन्होंनें कहा था कि हिन्दू अपनी मानवतावादी भावनाओं के लिए प्रसिद्ध है और प्राणी मात्र के प्रति उनकी आस्था अद्भभुत है। कुछ लोग तो विषैलें सांपों को भी नहीं मारते। लेकिन प्रश्न यह उठता है कि जो हिन्दू पशु पक्षियों सहित प्राणिमात्र के प्रति उदार हैं, वे मनुष्यों (दलितों) के प्रति इतना अनुचित तथा निर्दयता पूर्ण व्यवहार क्यों करते हैं।

अछूतों के साथ पूरे देश में सवर्णो द्वारा किये गये अमानवीय व्यवहार के कई शब्दचित्र अम्बेडकर ने उकेरे। जैसे पेशवा के शासन काल में अछूतों को उस सडक पर नहीं चलने दिया जाता था जिस पर सवर्ण आते जाते थे ताकि उनके साये से सवर्ण का धर्म भ्रष्ट न हो जाय। पेशवाओं की राजधानी पूना में अछूतों को अपनी कमर में झाडू बांध कर चलना पड़ता था ताकि जिस जमीन पर वे चलें, वह झाडू से साफ होती रहे और सवर्ण हिन्दू उस पर चल कर भ्रष्ट न हों। इसी प्रकार इंदौर राज्य में अछूत बलाई जाति की स्त्रियों को सोने के आभूषण, रंगीन या फैंसी बोर्डर वाली धोती पहनने की मनाही थी क्योंकि इससे सवर्ण जातियों का अपमान होता था।

अछूतों की उपरोक्त दशा के लिये अम्बेडकर की निगाह में ब्राह्मणवाद भी उतना ही जिम्मेदार था जितने कि हिन्दू धर्मशास्त्र। उनका मत था कि समाज की सारी गतिविधियों के संचालन का सर्वाधिकार अपने पास सुरक्षित रखकर ब्राह्मणों ने सारे विशेषाधिकारों को अपने लिये सुरक्षित रख लिया और समाज के अन्य वर्गो का क्षैतिजी आधार पर वर्गीकरण करके शूद्रों को सारे अधिकारों से वंचित कर दिया। शूद्र को सम्पति अर्जित करने की अनुमति नहीं दी गई क्योंकि कहीं ऐसा न हो कि वे सवर्णो पर निर्भर न रहे, उन्हें विद्या प्राप्त करने से रोका गया कि कहीं ऐसा ना हो कि अपने हितों के प्रति सजग हो जाएं। उसके लिये शस्त्र धारण करना निषिद्ध था कि कहीं ऐसा न हो कि वह उनकी सता के विरूद्ध विद्रोह करने में समर्थ हो जाय। उनके मानस में कूट-कूट कर यह भरा गया था कि अछूत के रूप में जन्म लेना ही उनके भाग्य में लिखा था।

ब्राह्मणों द्वारा संचालित एवं नियंत्रित जाति व्यवस्था में अछूतों के लिये किये गये विधान तथा उसके परिणामस्वरूप उनकी जो उपरोक्त दयनीय स्थिति हुई उसी के कारण अम्बेडकर ने ब्राह्मणवाद को मानवता के दमन की तकनीक तथा षड्यंत्र कहा था।

`अम्बेडकर ने तर्कपूर्ण ढंग से स्पष्ट किया कि जाति प्रथा ने भारत की बहुत बडी संख्या को स्थायी रूप से अपाहिज बना दिया था। दलित समस्या से व्यथित और आन्दोलित उनके मननशील मन को एक सवाल हमेशा मथता रहता था कि दुनिया के दूसरे देशों में दमन तथा शोषण के विरूद्ध क्रान्तियाँ हुयी लेकिन भारत में क्यों नहीं हुयी? अपने इस सवाल का उनके पास जवाब भी था, और वह यह कि चतुर्वर्ण व्यवस्था के कारण निम्न जातियां शक्तिहीन

हो गयी थीं। शिक्षा, शास्त्र, शस्त्र, संस्कृति एवं सम्पत्ति से वंछित यह वर्ग विद्रोह नहीं कर सकता था।

प्रजातान्त्रिक मूल्यों पर आधारित नवीन भारतीय समाज के के लिए वे जाति एवं छुआछूत प्रथा को समूल नष्ट करने का आहवान करते थे। इसके लिए उन्होंने बहु आयामी प्रयास किये। सर्वप्रथम वे चाहते थे कि दलित समुदाय स्वयं अपने उत्थान के सुधार, प्रयास, संघर्ष और संगठन का परिचय दे।

उन्होने अछूतों को वे सब काम करने की मनाही की जो वे सालों से करते आ रहे थे लेकिन जिन्हें अपवित्र माना जाता था जैसे मरे हु ये पशुओं को फेंकना, उनकी खाल निकालना, उनका मांस खाना, सवर्ण स्त्रियों की प्रसूति कराना तथा गंदे कपड़े धोना, मलमूत्र साफ करना आदि। उन्होंने दलितों को धार्मिक कर्मकाण्ड, पाखण्ड तथा भाग्यवादी सोच त्याग कर कर्मठ एवं संघर्षशील बनने की प्रेरणा दी।

उनका मत था कि अछूतों से हिन्दुओं को किसी प्रकार का कोई डर नहीं है और न ही अस्पृश्यता को समाप्त करने से उन्हें कोई लाभ हो सकता है अत: शूद्रो के उत्थान के लिए बाहर से किये जाने वाले प्रयास सार्थक नहीं हो सकते। यही कारण है कि क्षेत्र में गांधी तथा कांग्रेस द्वारा किये गये प्रयासों को उन्होनें सदैव शंका की दृष्टि से देखा। उनका कहना था कि स्वयं के विरूद्ध होने वाले अन्यायों की समाप्ति तथा अधिकारों की प्राप्ति के लिए दलितों को स्वयं भय रहित तथा एकजुट होकर संघर्ष करना होगा।

'बहिष्कृत हितकारिणी सभा' नामक संस्था की शुरूआत अम्बेडकर ने रचनात्मक कार्यो से की लेकिन आगे चलकर उन्होनें इसे दलितोत्थान के लिए विरोध, आन्दोलन तथा सीधी कार्यवाही का मंच बना दिया। दलितों को सार्वजनिक सुविधाओं (तालाब, कुँआ आदि) के उपभोग तथा मंदिर प्रवेश का अधिकार दिलाने के लिए महाड सत्याग्रह एवं अम्बादेवी मन्दिर (अमरावती) कालामंदिर (नासिक) प्रवेश हेतु आन्दोलन किये।

वे जानते थे कि सदियों से विशेषाधिकारों का उपभोग करने वाले सवर्ण हिन्दू स्वेच्छा से दलितों को समानता का अधिकार नही देगें अत: वे स्वतंत्र भारत के संविधान में ऐसे प्रावधान चाहते थे जिनसे जातिगत विभेद एवं अस्पृश्यता पर आधारित दमन एवं पर रोक लगायी जा सके तथा पीड़ित वर्ग अत्याचारों से अपनी रक्षा कर सके। उल्लेखनीय है कि अम्बेडकर को अपने इन प्रयासों में महत्वपूर्ण सफलता मिली।

14.3.3 स्त्रियों की स्थिति

दलितों के समान ही भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति भी दासों जैसी थी। उनका कहना था कि स्त्रियों के पतन के लिए सतीप्रथा, बाल विवाहकन्या वध, विवाह, निषेध जैसी कुप्रथाओं को जिम्मेदार मानना समस्या को सतही तौर पर देखना है। वे इन समस्याओं की जड़ जाति प्रथा एवं ब्राह्मणवाद को मानते थे। उनका मत था कि जिस जाति में विवाह, कठोर वैधव्य और सती प्रथा का जितना अधिक प्रचलन होगा, उसका स्तर उतना ही माना जायेगा। इसी दृष्टि से पेशवा के शासन काल में महाराष्ट्र में पठारे, प्रभु समुदाय ने विधवा विवाह पर

पाबन्दी लगाकर अपनी जाति का स्तर ऊँचा उठाने का प्रयास किया तो पेशवाओं ने ऐसा न करने देने के लिए हस्तक्षेप किया था।

वे स्त्री तथा दलित दोनों को ब्राह्मणवादी दमन चक्र का शिकार मानते थे जिसे आगे चलकर मनु ने राज्य के कानून के रूप में बदल दिया। जो लोग चातुर्वण्य के आधार पर भारतीय समाज का पुनर्गठन करना चाहते थे उनसे अम्बेडकर का यही सवाल था की क्या वर्ण विभाजन स्त्रियों पर भी लागू होगा? वे ऐसे प्रजातांत्रिक समाज की स्थापना चाहते थे जिसमें मानव मात्र को गरिमा, सम्मान और समानता के आधार पर जीवन यापन का हक हो। यही कारण है कि उन्होंने दमित मानवता के उत्थान का बीड़ा उठाया, फिर वह अछूत हो या स्त्री। वे दलित महिला की इस पीड़ा के मर्म को भी समझते थे कि वह दोहरे शोषण का शिकार है - एक स्त्री होने के कारण और दूसरा-दलित होने के कारण।

अम्बेडकर जानते थे कि पुरातनपंथी समाज स्वेच्छा से स्त्रियों को समानता का दर्जा नहीं देगा अत: दलितों के समान ही वे कानून द्वारा स्त्रियों के अधिकारों की रक्षा करना चाहते थे। आजाद भारत में इसी उद्धेश्य से उन्होंने कानून मंत्री की हैसियत से "हिन्दू कोड बिल" प्रस्तुत किया। इस विधेयक में विवाह की आयु सीमा बढ़ाने, स्त्रियों को तलाक का अधिकार देने, मुआवजा तथा विरासत के अधिकार के साथ-साथ दहेज को स्त्रीधन मानने के सुझाव दिये गये थे किन्तु राजेन्द्र प्रसाद के नेतृत्व में कट्टरवादियों के विरोध के कारण यह विधेयक पारित नहीं हो सका और अम्बेडकर ने विधि मंत्री के पद से त्यागपत्र दे दिया।

स्त्रियों की स्थिति में सुधार के लिए मनुवादी व्यवस्था में बदलाव न कर पाने के बावजूद न्याय पर आधारित समाज की रचना के लिए अम्बेडकर का नारा था - एकता, शिक्षा और आन्दोलन। साथ ही उनकी मान्यता थी कि स्त्रियों के सहयोग के बिना एकता अर्थहीन है, स्त्रियों की शिक्षा के बिना शिक्षा फलहीन है और स्त्रियों की शक्ति के बिना आन्दोलन अधूरा है।

4.3.4 शिक्षा

अम्बेडकर इस बात को जानते थे कि राज्य द्वारा समानता का अधिकार प्रदान कर देने के बावजूद यदि दलित वर्ग अपने अधिकारों के प्रति उदासीन बना रहा तो सामाजिक न्याय का सपना कागजी तथा कानूनों में ही बना रहेगा, यथार्थ नहीं बन पायेगा। वे औपचारिक तथा अनौपचारिक शिक्षा द्वारा दलित वर्ग में जागति तथा आत्मबल पैदा करना चाहते थे, ताकि दलित वर्ग अपने अधिकारों के प्रति व्यग्र हो उठे।

उनके लिए शिक्षा केवल साक्षरता का नाम नहीं अपितु सामाजिक परिवर्तन का हथियार थी। वे जन्माधारित वर्ण-जाति, सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक अंधविश्वासों, गरीबी की भाग्यवादी अवधारणा आदि को समाप्त करने के लिए ऐसे व्यक्तियों के समाज का पुनर्निर्माण करना चाहते थे जो प्राचीन परम्पराओं का अनुसरण तो करे लेकिन तर्क की कसौटी पर कसने के बाद।

उनका मत था कि अनिवार्य तथा निःशुल्क शिक्षा प्रदान करना राज्य का दायित्व है। अनिवार्य तथा निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था होने पर ही साधन-सुविधा तथा सम्पत्तिहीन दलित को शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिल सकता है। वे शिक्षा को ऐसा औजार मानते थे जिसकी मदद से दासता की जड़ों को काटकर सामाजिक समानता, आर्थिक उन्नति एवं राजनीतिक

स्वतंत्रता हासिल की जा सकती है। दलितों को शिक्षा प्रदान करने के लिए उन्होंने 'पिपुल्स एजुकेशन सोसायटी' नामक संस्था की स्थापना की थी। उनका कहना था कि शिक्षा ही अछूतों में सवर्णो के समकक्ष खड़ा होने का साहस पैदा कर सकती है।

14.4 धार्मिक विचार

अम्बेडकर मानव जीवन में धर्म तथा नैतिकता के महत्व को स्वीकार करते थे। लेकिन भारतीय सामाजिक संरचना जिसे धर्मशास्त्रों द्वारा मान्यता प्रदान की गयी थी उस भारतीय समाज में धर्म के नाम पर समाज में व्याप्त असमानता, अत्याचार, छुआछूत तथा पाखण्डों के वे विरोधी थे। इसी संदर्भ में उन्होनें एक सामाजिक क्रान्तिकारी के रूप में, प्रजातान्त्रिक समाज की स्थापना के लिए हिन्दू धर्म को समता, स्वतंत्रता तथा बन्धुता के अनुरूप बदलने की अपील की।

14.4.1 धर्म के तत्व

धर्म के सम्बन्ध में अम्बेडकर की अपनी कुछ मान्यतायें थी उनके अनुसार, एक नैतिक बोध होने के कारण धर्म प्रत्येक समाज का नियामक सिद्धान्त होना अर्थात् धर्म एवं नैतिकता अभिन्न रूप से जुड़े हुये हैं। यदि धर्म व्यक्ति के ही किया-कलापों का दूसरा नाम है तो इसे विवेक पर आधारित होना चाहिए और विवेक विज्ञान का ही दूसरा नाम है। आग्रह था कि धर्म के नाम पर प्रचलित अंध विश्वासों तथा परम्पराओं को तर्क की कसौटी पर खरा उतरने के बाद ही स्वीकार किया जाना चाहिए।

उनका तर्क था कि धर्म के मूल्य तथा सिद्धान्त सार्वभौमिक होते हैं, वे अपने अनुयायियों में भेद नहीं करते। लेकिन हिन्दू धर्म शास्त्रों द्वारा मान्यता प्राप्त अस्पृश्यता का प्रतिकार करते हुये उन्होंने कहा कि धर्म नैतिक संहिता में स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातत्व के, सिद्धान्तों को शामिल किया जाय अन्यथा धर्म दण्ड का प्रतिरूप बन जायेगा। वे धर्म को ऐसे जीवन के रूप में स्थापित करना चाहते थे जो व्यक्ति तथा व्यक्ति के बीच सम्मान तथा गरिमामय स्थापित करने में सक्षम हो और वह सिद्धान्तों पर आधारित हो सके तथा नियमों पर नहीं, उनके अनुसार, सिद्धान्त निरपेक्ष, दायित्व बोध से युक्त एवं विवेक सम्मत होते हैं जबकि नियम सापेक्ष, व्यावहारिक एवं परम्परा पर आधारित होते हैं।

14.4.2 हिन्दू धर्म की कमजोरियाँ

अम्बेडकर का मत था कि आध्यात्मिक सिद्धान्त के रूप में सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक होता है लेकिन ये तत्व हिन्दू धर्म में मौजूद नही हैं और यदि ये हैं तो वे हिन्दु के जीवन को संचालित नहीं करते। वेदों और स्मृतियों में वर्णित धर्म केवल बलि, सामाजिक, राजनैतिक तथा स्वच्छता के नियम तथा निषेधों का मिला जुला पुंज है।

उन्हें हिन्दू धर्म से सर्वाधिक आपत्ति इस बात को लेकर थी कि धर्म शास्त्रों ने एक ओर जाति भेद तथा अस्पृश्यता के नाम पर बड़ी संख्या में मनुष्यों को वंचित, उपेक्षित और दास बना दिया है वहीं दूसरी ओर, एक अन्य वर्ग, ब्राह्मण को सर्वाधिकार सम्पन्न बना दिया

है। इसी आधार पर उनका मानना था कि हिन्दू धर्म स्वयं समाज में एकता के स्थान पर को प्रोत्साहन देता है। जो धर्म मानव मानव के बीच भेद करता है, अपने ही अनुयायियों के एक, वर्ग को दूसरे वर्ग के अधीन रहने के लिए बाध्य करता है, वह धर्म नहीं अपितु मानवता का अपमान है।

14.4.3 हिन्दू धर्म में सुधार के प्रस्ताव

हिन्दू धर्म में व्याप्त कमजोरियों तथा बुराईयों को दूर कर अम्बेड़कर एक जीवन्त तथा समता मूलक धर्म के रूप में संगठित करना चाहते थे। वे बर्क के इस कथन से सहमत थे कि सच्चा धर्म समाज की बुनियाद होता है जिसके आधार पर सच्ची हूकूमतें बनती हैं तथा जनता एवं सरकार दोनों फूलती-फलती हैं। इसके लिए उन्होंने हिन्दू धर्म के विद्यमान स्वरूप पर पुनर्विचार कर उसके विवेक सम्मत पुनर्गठन का प्रस्ताव किया। उनके द्वारा सुधार के लिए निम्न सुझाव दिये गये :-

(i) हिन्दू धर्म का युगानुरूप कोई सैद्धांतिक आधार हो जो समता, स्वतंत्रता तथा बन्धुत्व के अनुरूप हो। इसके लिए उपनिषदों के चिन्तन को आधार बनाया जा सकता है।

(ii) हिन्दू यह पता लगाने का प्रयास करें कि संसार में किस की नैतिकता, आस्था तथा दृष्टिकोण वाले लोगों ने उन्नति और दृढ़ता हासिल की है.

(iii) यह विचार किया जाय कि हमें अपनी सम्पूर्ण सामाजिक सुरक्षित रखनी है या उसमें जो उपयोगी हो उसे चुनकर भावी पीढ़ियों को सौंपा जाये।

(iv) अतीत के समस्त आदर्शो की आँख मूंद कर पूजा करने के बजाय वर्तमान युग में उत्तम, उपयोगी एवं उन्नति के शिखर पर ले जाने वाले आदर्शो को पूजा जाय।

(v) हिन्दुओं को मान लेना चाहिए कि संसार में कुछ भी स्थिर, शाश्वत अथवा सनातन नहीं है। व्यक्ति तथा समाज के लिए परिवर्तन जीवन का नियम है अत: बदलते हुये समय में पुराने मूल्यों में सतत तथा क्रांतिकारी बदलाव आना चाहिए।

उनका मानना है कि हिन्दू धर्म को सर्वाधिक नुकसान ब्राह्मणवाद ने पहुंचाया है जो जन्म तथा जाति भेद पर आधारित है अत: हिन्दू धर्म में वांछित बदलाव तथा सुधार के लिए वे पुरोहितशाही पर नियंत्रण चाहते थे। उनके अनुसार पुरोहिती एक व्यवसाय मात्र है और किसी व्यवसाय का नियंत्रण होना उसकी उन्नति का द्योतक है। हिन्दू पुरोहित परम स्वतंत्र है, उस पर कोई पाबंदी नहीं है। मूर्ख, कदाचारी, नशेबाज और जुआरी होने पर भी वह पवित्र संस्कार कराने तथा देव पूजा के योग्य समझा जाता है। उसकी एक मात्र योग्यता है ब्राह्मण के घर जन्म लेना। वह राज अथवा समाज नियम के अधीन नहीं होता अम्बेडकर ऐसी पुरोहित शाही को समाज एवं धर्म के लिए हानिकारक मानते थे। इसलिये उनका विचार था कि न केवल कानून द्वारा पुरोहिती के व्यवसाय पर नियंत्रण स्थापित किया जाय बल्कि इस पर ब्राह्मणों के एकाधिकार को समाप्त कर निश्चित योग्यता के आधार पर इसके द्वार सब लोगों के लिये खुले रखे जायें। ऐसा होने पर ही हिन्दू धर्म जाति एवं ब्राह्मणवाद से मुक्त, प्रजातांत्रिक धर्म बन सकता है।

14.4.4 धर्म परिवर्तन

अम्बेडकर का दृढ़ विश्वास था कि हिन्दू समाज में विद्यमान असमानता, शोषण, दमन तथा जातिभेदकारी व्यवस्था की जड़ में धार्मिक मान्यताएं है अत: उन्होंने जीवन के लम्बे दौर में इन बुराईयों से संघर्ष किया। उन्होंने विवेक, तर्क तथा मानवता के आधार पर हिन्दू धर्म एवं समाज का पुनर्गठन करने के लिए अथक प्रयास किये किन्तु सवर्णो के दृष्टिकोण में उन्हें कोई प्रभावकारी असर दिखाई नहीं दिया। अब उन्हें हिन्दू समाज में प्रजातांत्रिक आधार पर बदलाव की कोई उम्मीद नहीं दिखाई दे रही थी। इसलिये उन्होंने धर्म परिवर्तन के निश्चय की घोषणा कर दी।

उनका बौद्ध धर्म के इन तीन सिद्धान्तों में विश्वास था -प्रज्ञा (विवेक), समता तथा करूणा या प्रेम। उनका मानना था कि भारतीय हिन्दू धर्म में ये तीनों सिद्धांत दृष्टिगत नहीं होते, जो समानता पर आधारित हैं अत : बौद्ध धर्म में ही दलितों को सम्मान तथा समानता का दर्जा मिल सकता है। लम्बे विचार के बाद अक्टूबर 1956 में बौद्ध धर्म अंगीकार करने की घोषणा करते हुये अम्बेडकर ने कहा था कि असमानता तथा दमन पर आधारित अपने पुराने धर्म को त्याग कर वे दुबारा जन्मे हैं।

बोध प्रश्न- 1

प्रश्न : 1 अम्बेडकर और गांधी के मध्य मतभेद का कोई एक कारण बताइये।

उत्तर: .....

प्रश्न : 2 धम्म से क्या अभिप्राय है ?

उत्तर: .....

प्रश्न : 3 स्त्रियों के प्रति अम्बेडकर के क्या विचार थे ?

उत्तर: .....

14.5 राजनीतिक विचार

मूलत: अम्बेडकर सामाजिक न्याय के पुरोधा थे। उन्होंने राज्य सम्बन्धी सैद्धान्तिक पक्षों पर विस्तृत और व्यवस्थित विचार नहीं रखे, तथापि वे एक उदारवादी थे। उन्होंने राज्य, शासन, व्यक्ति एवं अधिकार आदि के विषय में जो विचार दिये वे उनके स्पष्ट सटीक दृष्टिकोण को प्रकट करते हैं।

14.5.1 राज्य एवं शासन का स्वरूप

अम्बेडकर ने राज्य के अस्तित्व के प्रयोजन पर उदारवादी दृष्टि से विचार किया। वे यह तो मानते थे कि राज्य एक अनिवार्य एवं उपयोगी संस्था है लेकिन वे उसकी शक्तियों को सीमित तथा मर्यादित रखना चाहते थे। वे चाहते थे कि राज्य एवं सरकार दलित, शोषीत तथा असहाय लोगों के उत्थान के लिए कदम उठाकर, समानता एवं न्याय पर आधारित समाज की स्थापना में योगदान दे।

शासन प्रणाली रूप में उन्होंने संसदीय प्रणाली का समर्थन किया। वस्तुत: वे ऐसी शासन प्रणाली के पक्ष में थे जिसमें कार्यपालिका सक्षम होने के साथ ही संवेदनशील हो, जो व्यवस्थापिका के नियंत्रण एवं निर्देशन में काम करे तथा जिसमें बहुमत अल्पमत के हितो की उपेक्षा न करें। उन्होंने अपने ग्रन्थ "स्टेट्स एण्ड माइनोरिटीज" मे निम्न संस्थागत एवं प्रकिया सम्बन्धी शासन व्यवस्था का उल्लेख किया है :-

(i) बहुमत को अल्पमत पर अपनी इच्छा थोपने का अधिकार नहीं हो।

(ii) बहुमत की कार्यपालिका में अल्पसंख्यकों का भी प्रतिनिधित्व हो।

(iii) कार्यपालिका पर व्यवस्थापिका का नियंत्रण सैद्धान्तिक एवं दोनों प्रकार का हो ताकि वह उसके निर्देशों व निर्णयों की अवहेलना नहीं कर सके ।

(iv) अवरोध तथा संतुलन के सिद्धान्त की व्यवस्था हो ताकि शासन विभिन्न अंग स्वतंत्र होते हुए भी एक दूसरे पर नियंत्रण व संतुलन बनाये रख सकें।

(v) कार्यपालिका की स्थिरता को सुनिश्चित किया जाय ताकि दक्षतापूर्ण पालन किया जा सके।

14.5.2 लोकतंत्र

अम्बेडकर प्रजातंत्र के प्रबल समर्थक थे लेकिन पश्चिमी विद्वानों के समान वे इसे शासन की केवल एक पद्धति मात्र नहीं मानते थे अपितु वे इसे एक जीवन पद्धति रूप में देखते थे। उनके अनुसार प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली ही ऐसी प्रणाली है जिसमें समाज की सामाजिक संरचना में जाति, रंग, लिंग, सम्पत्ति तथा धर्म के भेदभाव के बिना शान्तिपूर्ण ढंग से परिवर्तन किये जा सकते हैं। लोकतांत्रिक पद्धति में वे दो तथ्यों का समावेश आवश्यक मानते थे -पहला, विधि का शासन तथा दूसरा-सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन द्वारा न्यायपूर्ण की स्थापना। यद्यपि वे संसदीय प्रजातंत्र के प्रबल समर्थक थे किन्तु उसके निर्णयों में होने वाली देरी के प्रति सचेत थे।

भारत में संसदीय प्रजातंत्र को लागू करने से पहले वे संवैधानिक प्रावधानों द्वारा शासन को सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन के प्रति वचनबद्ध बनाना चाहते थे ताकि सामाजिक न्याय की स्थापना कार्यपालिका की स्वेच्छा पर निर्भर न होकर उसका दायित्व बन जाय। सविधान की प्रस्तावना तथा नीति निर्देशक तत्वों में अम्बेडकर के उपरोक्त आग्रह साकार हुये हैं। भारत के लिए लोकतांत्रिक पद्धति को श्रेष्ठ मानते हुए भी वे जानते थे कि यहां की सामाजिक संरचना लोकतन्त्र के अनुकूल नहीं है अत: उन्होंने लोकतंत्र की सफलता के लिए कुछ पूर्व शर्तो को आवश्यक बताया -

(i) राजनैतिक लोकतंत्र की स्थापना के लिए सामाजिक धरातल पर समानता अर्थात् सामाजिक लोकतंत्र होना आवश्यक है। जिस समाज के एक वर्ग के हाथों में केवल विशेषाधिकार हों और उसका दूसरा वर्ग प्रतिबन्धों के बोझ से दबा पड़ा हो वहां लोकतंत्र नहीं पनप सकता। इसलिए वे दलित वर्ग को कानूनी संरक्षण द्वारा सामाजिक समानता का दर्जा प्रदान करना चाहते थे।

(ii) लोकतंत्र के लिए वे बहुदलीय शासन प्रणाली तथा सशक्त विपक्ष को भी आवश्यक मानते थे। उनका मानना था कि जब तक जनता के सामने एक दल को हटाकर दूसरे दल को सत्ता सौंपने का विकल्प नहीं होगा, लोकतांत्रिक शासन सार्थक नहीं हो सकता। इसी प्रकार लोकतंत्र की सफलता में सक्षम विपक्ष का होना भी आवश्यक है जो कि शासन की कमजोरियों को उजागर कर जनहितों का प्रहरी बन जाता है।

(iii) लोकतंत्र की सफलता के लिए वे तटस्थ तथा कुशल नौकरशाही का होना भी जरूरी मानते थे। उनका मत था कि सरकार के बदलाव के साथ प्रशासन में बदलाव स्वस्थ लोकतंत्र के लिए घातक है, अत: सिविल सेवा को सरकार की स्थायी प्रशासनिक शाखा बनाया जाय तथा यह सुनिश्चित किया जाए कि उसके सदस्य सत्तारूढ़ राजनीतिक दल के प्रति निष्ठा रखने के बजाय विधि के प्रावधानों के प्रति निष्ठावान रहें।

(iv) अम्बेडकर के अनुसार संविधान में की गई घोषणाओं मात्र से किसी देश का शासन आदर्श स्वरूप प्राप्त नहीं कर लेता अपितु इसके लिए राजनैतिक क्रिया कलापों और शासन में भाग लेने वाले लोगों में संवैधानिक मूल्यों व नैतिकता के प्रति निष्ठा की भावना होना आवश्यक है ।

(v) वे जागरूक जनता को भी लोकतंत्र की आवश्यक शर्त मानते थे, क्योंकि जागरूक जनता ही लोकतंत्र की रक्षक भी होती है।

(vi) अम्बेडकर दलित तथा शोषित वर्गो के लिए संवैधानिक तथा कानूनी संरक्षणों को सामाजिक लोकतंत्र की स्थापना के लिए आवश्यक मानते थे। उनका मानना था कि इन संरक्षणों के आधार पर ही दलित संविधान द्वारा दिये जाने वाले मौलिक अधिकारों का प्रयोग करने में सक्षम होंगे। इसी आधार पर वे 1935 के अधिनियम में दलितों के लिए पृथक प्रतिनिधित्व का प्रावधान कराने में सफल रहे। 1932 में साम्प्रदायिक पंचाट में दलित वर्ग को हिन्दू समुदाय से पृथक समुदाय के रूप में मान्यता दी गयी थी, जिसे बाद में गांधी के साथ समझौते के बाद पूना पैक्ट में संशोधित किया गया और जिसके अनुसार हिन्दू समुदाय के ही एक अंग के रूप में दलितों को पृथक प्रतिनिधित्व दिया गया, तथा स्वतंत्र भारत के संविधान में भी दलित वर्ग के आरक्षण की व्यवस्था की गई।

14.5.3 राष्ट्रवाद

स्वतंत्रता संघर्ष की मुख्य धारा का नेतृत्व करने वाले गांधी तथा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से मतभेद एवं कई मुद्दों पर विरोध के कारण कई लोग अम्बेडकर को राजनैतिक प्रतिक्रियावादी एवं साम्राज्यवाद का समर्थक मानते थे किन्तु उनकी देशभक्ति कांग्रेस के नेताओं की देशभक्ति से किसी प्रकार कम न थी। केवल उनकी प्राथमिकतायें भिन्न थीं। वे दो हजार साल से चले आ रहे सवर्ण हिन्दुओं के अत्याचार से लड़ना चाहते थे। उन्होंने बम्बई विधान सभा में कहा था कि - मेरे अपने हित और देश के हित के बीच टकराव होगा तो मैं देश के हित को तरजीह दूंगा लेकिन यदि देश के हित और दलित वर्गो के हित में टकराव होगा तो मैं दलित वर्गो के हित को प्राथमिकता दूंगा।

वस्तुत: अम्बेडकर के विचार और व्यक्तित्व को समझने के लिए उनकी परस्पर विरोधी प्रेरणाओं को ध्यान में रखा जाना चाहिए। वे सच्चे अर्थो में भारतीय थे लेकिन भारतीय समाज में विद्यमान सामाजिक अन्याय को भी समाप्त करना चाहते थे। इन्हीं दो इच्छाओं के बीच उनमें एक सतत् एवं सृजनात्मक तनाव दिखाई देता है। उन्हें जाति एवं अस्पृश्यता उन्मूलन का संघर्ष न केवल स्वतंत्रता की लड़ाई का पूरक लगता था बल्कि कई बार यह संघर्ष स्वराज प्राप्ति से भी कठिन लगता था। उनका मानना था कि स्वराज्य के लिए संघर्ष में सारा राष्ट्र आपके साथ संघर्ष करता है लेकिन जब आप जात-पाँत के विरूद्ध लड़ते हैं तो आपके ही राष्ट्र के साथ लड़ना पड़ता है। उनका दृढ़ विश्वास था कि हिन्दू समाज से जातिभेद के महारोग के विनाश से ही अपनी आजादी की रक्षा करने की शक्ति पैदा होने की उम्मीद की जा सकती है। इस आन्तरिक ताकत के बिना हिन्दुओं के लिए स्वराज्य, केवल गुलामी की ओर एक कदम होगा।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रति भी उनका दृष्टिकोण स्पष्ट था। वे शासन के सकारात्मक प्रभावों को स्वीकार करते थे किन्तु उसके आर्थिक शोषण के भी स्पष्ट आलोचक थे। वे भारत की सामाजिक आजादी के योद्धा थे और इसीलिए उनका राष्ट्रवाद का न्यायनिष्ठ समाज की स्थापना के संकल्प में अभिव्यक्त हुआ।

14.6 आर्थिक विचार

सामाजिक क्रान्ति का परचम उठाने वाले अम्बेडकर एक अर्थशास्त्री भी थे। अमेरिका तथा लन्दन में उच्च शिक्षा ग्रहण करते समय उन्होंने जितने भी शोध पत्र निबन्ध लिखे, उनका सम्बन्ध अर्थशास्त्र के किसी न किसी पक्ष से था। वे तत्कालीन भारत आर्थिक समस्याओं से भलीभांति अवगत थे। उनकी सामजिक न्याय की अवधारणा निश्चित सिद्धांतों पर आधारित थी ।

14.6.1 जातिगत व्यवसायों का विरोध

अम्बेडकर का मानना था कि भारत में आर्थिक असमानताओं की जड जाति व्यवस्था तथा अस्पृश्यता है जिसमें नियोजित षड्यन्त्र द्वारा अछूतों के अन्य व्यवसाय पर प्रतिबन्ध लगाया गया। वंशानुगत व्यवसायों के नियम का अछूतों के सम्बन्ध में कठोरता से किया गया पालन उनके लिये अभिशाप तथा पतन का मार्ग सिद्ध हुआ। उनका मत था कि अस्पृश्यता एक अर्थव्यवस्था भी है जो दासता से बदतर है। दास प्रथा में मालिक अपने दासों की मूल आवश्यकताओ रोटी, कपड़ा और मकान की जिम्मेदारी निभाता था लेकिन सवर्ण हिन्दू अस्पृश्यों की देखरेख की कोई जिम्मेदारी नहीं लेता। अम्बेडकर अस्पृश्यता को अनियंत्रित शोषण की व्यवस्था मानते थे जिसमें अछूतों को सम्पत्ति के अधिकार से पूर्ण तथा वंचित कर दिया गया था। इसीलिए वे व्यक्ति की प्रतिभा को कुठित करने वाले व्यवसायों के विरोधी थे, वे चाहते थे कि जातिगत बाध्यता के बिना व्यक्ति को अपनी क्षमता, प्रतिभा एवं इच्छानुसार व्यवसाय तथा रोजगार चुनने की स्वतंत्रता होगी, तभी आर्थिक असमानता की खाई को कम किया जा सकता है। व्यक्ति के स्तर पर आर्थिक प्रजातन्त्र की स्थापना के लिए वंशानुगत व्यवसायों के जाल को काट कर ही न्यायनिष्ठ समाज का निर्माण किया जा सकता है।

14.6.2 राज्य समाजवाद

न्याय, समानता तथा स्वतंत्रता पर आधारित आर्थिक व्यवस्था के लिए अम्बेडकर इस क्षेत्र में राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक मानते थे। उनका कहना था कि जब तक उत्पादन के साधनों का स्वामित्व कुछ ही लोगों के हाथ में रहेगा तब तक समता तथा न्याय पर आधारित अर्थव्यवस्था स्थापित नहीं हो सकती। इसलिए अम्बेडकर उत्पादन के साधनों पर राज्य के स्वामित्व के पक्ष में थे। उनकी आर्थिक अवधारणा की मुख्य विशेषता यह है कि उन्होंने व्यक्तिवादी विचार तथा वैज्ञानिक समाजवाद दोनों की पराकाष्ठा की आलोचना करते हुए संयुक्त अर्थव्यवस्था का समर्थन किया। उन्होंने समाज के प्रगतिशील रूपान्तरण तथा सामाजिक आर्थिक असमानताओं को दूर करने का विचार रखा। उनका मन्तव्य था कि पूंजीपति तथा जमींदार वर्ग अपनी विशाल सम्पत्ति का दुरूपयोग निम्न श्रमिक, भूमिहीन मजदूर तथा किसान वर्ग पर अत्याचार करने में नहीं करें तथा सामाजिक व्यवस्था व्यक्ति के आर्थिक विकास में बाधक नहीं बनें।

राज्य समाजवाद की स्थापना के इस स्वरूप में संसदीय प्रजातंत्र के अन्तर्गत दल बदल के साथ ही परिवर्तन नहीं किया जा सके और यह समाजवाद, अर्थव्यवस्था का स्थायी आधार बन सके इसके लिए वे संविधान में प्रावधान कराना चाहते थे, लेकिन सरदार पटेल, जे.बी.कृपलानी तथा अन्य कांग्रेसी नेताओं के विरोध के कारण ये प्रावधान मूल अधिकारों की सूची में शामिल नहीं किये जा सके। फिर भी आर्थिक प्रजातंत्र का लक्ष्य नीति निर्देशक तत्वों के रूप में संविधान में शामिल किया जाना महत्वपूर्ण है।

14.6.3 सामुदायिक खेती

अम्बेडकर कृषि के राष्ट्रीयकरण तथा सामुदायिक खेती के पक्षधर थे। उनका कहना था कि चकबन्दी या अन्यभूमि सुधार किसानों तथा दलितों की आर्थिक समस्या को हल नहीं कर सकते। उनके अनुसार आधी बुद्धि तथा आधे मन से लागू किये गये सुधार भूमिस्वामियों को ही लाभ पहुंचाते हैं।

वस्तुत: आर्थिक समानता की स्थापना के लिए वे कृषि को राज्य का उद्योग बनाना चाहते थे। उनका विचार था कि राज्य को समस्त प्रकार की कृषि योग्य भूमि अपने अधिकार में लेकर विद्यमान भूमि मालिकों को उचित मुआवजा दे देना चाहिए। राज्य द्वारा समस्त भूमि को अधिगृहीत करने के बाद कृषि व्यवस्था संचालन की रूप रेखा इस प्रकार हो सकती है:

(i) समूहिक कृषि सरकार द्वारा जारी निर्देशों के अनुसार हो।

(ii) जाति तथा धर्म का भेद-भाव किये बिना ग्रामीणों में भूमि का इस प्रकार वितरण किया जाए कि उनमें न कोई जमींदार हो, न आसामी और न ही भूमि-हीन मजदूर।

(iii) सामूहिक खेती के लिए आवश्यक-सिंचाई, जानवर, खाद, बीज तथा उपकरण आदि के लिए वित्त की व्यवस्था सरकार करे।

(iv) सरकार द्वारा लगाये धन का उचित मूल्य चुकाने के बाद शेष उत्पादन आसामी आपस में बांट ले।

राज्य व सरकार के इस निर्णयकारी हस्तक्षेप की अवधारणा के पीछे अम्बेडकर का मन्तव्य यह था कि भूमि सम्बन्धों पर आधारित परम्परागत वर्चस्व तथा शोषण का तंत्र समाप्त हो और उत्पादन के साधनों में समाज के निम्न तबके की भी भागीदारी हो।

14.6.4 औद्योगीकरण

वे भारत की आर्थिक समस्याओं के समाधान तथा दलितों के उत्थान के लिए औद्योगीकरण को एक प्रभावशाली उपाय मानते थे। उनका कहना था कि औद्योगीकरण की धीमी गति के कारण ही कृषि पर अनावश्यक बोझ बढ़ा है। भारत का औद्योगीकरण भारत की कृषिगत समस्याओं का सबसे ठोस निदान है। औद्योगीकरण के पक्षधर होते हुए भी अम्बेडकर यह नहीं चाहते थे कि इसके माध्यम से भारत में अनियंत्रित पूंजीवाद का विकास हो। वे उद्योगों के क्षेत्र में भी राज्य समाजवाद के हामी थे जिसके अंतर्गत वे उद्योगों को आधारभूत घोषित कर राज्य के अधीन संचालित किये जाने के पक्षधर थे, जैसे :- रेलवे, बीमा आदि। अम्बेडकर का मानना था कि, " उद्योगों में भी सरकार का पर्याप्त प्रभाव हो।

औद्योगीकरण के समर्थक होने के साथ-साथ डा. अम्बेडकर श्रमिकों की समस्याओं के प्रति भी संवेदनशील थे। उन्होंने भारतीय मजदूर दल की स्थापना की। उन्होने कर्नाटक के मजदूरों की बेदखली के खिलाफ तथा अनुचित ईनामदारी प्रथा की समाप्ति के लिए संघर्ष किया। उन्होंने रेलवे तथा सूती कपड़ा मजदूरों के आंदोलन को संगठित किया। उन्होंने मुम्बई में पेश किये गये उस विधेयक का भी विरोध किया था जिसका उद्देश्य मजदूरों के हड़ताल पर जाने के अधिकार को गैर कानूनी करार देना था।

14.7. अम्बेडकर और गांधी

गांधी तथा अम्बेडकर दौनों दलित जातियों के उत्थान के लिए समर्पित थे। दौनों मानवीय गरिमा तथा समानता पर आधारित समाज की स्थापना करना चाहते थे। जन्म पर आधारित अस्पृश्यता के कलंक को मिटाने के लिए दौनों कृत संकल्प थे। दौनों के सामाजिक उद्देश्य एक होते हुए भी भारत की ये दो महान् प्रतिभायें साथ नहीं चल सकी। वस्तुत: व्यवहार मे गांधी तथा अम्बेडकर के बीच विद्यमान दूरिया कई बार कटुता की स्थिति तक पहुंच जाती थीं। अम्बेडकर का मत था कि भारत में राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने की तुलना मे सामाजिक लोकतंत्र की स्थापना अधिक महत्वपूर्ण है। उनका गांधी तथा कांग्रेस के प्रति यह आक्षेप था कि उन्होंने सामाजिक लोकतंत्र की स्थापना के प्रयासों को अपेक्षित प्राथमिकता नहीं दी। गाँधी तथा अम्बेडकर के बीच कई मसलों पर दृष्टिकोण सम्बन्धी भिन्नता भी विद्यमान थी, जिसके चलते दोनों के मध्य दूरिया बनी रहीं।

गांधी वर्ण व्यवस्था को सामाजिक संगठन का स्वाभाविक नियम मानते थे, तथा इसमें विद्यमान ऊँच-नीच की भावना को कालान्तर में आयी एक विकृति मानते थे। वे अस्पृश्यता के पाप तथा जाति व्यवस्था की उपयोगिता के बीच कोई विरोध नहीं देखते थे। जबकि अम्बेडकर का मानना था कि जाति को नष्ट किये बिना अस्पृश्यता को नष्ट नहीं किया जा सकता है, चर्तुवर्ण सिद्धान्त के उन्मूलन के बिना मानव समानता स्थापित नहीं हो सकती। उनका यह मत

था कि जाति प्रथा ही अस्पृश्यों की दुर्दशा तथा शोषण के लिए जिम्मेदार है, अत: अस्पृश्यों का उत्थान जाति उन्मूलन के साथ जुड़ा हुआ है ।

गांधी वंशानुगत व्यवसायों के भी समर्थक थे। उनके अनुसार, व्यवस्था हमें सिखाती है कि हम सब अपने बाप दादा के पेशों को अपनाते हुये आजीविका निर्वहन करें। यह हमारे अधिकारों- का नहीं, कर्त्तव्यों का निर्धारण करती है। सभी व्यवसाय विधि सम्मत तथा समान हैं। ब्राह्मण तथा हरिजन का व्यवसाय एक समान है। लेकिन अम्बेडकर ने इसे अस्वीकार करते हुये गांधी की कथनी व करनी का भेद बताया। उन्होंने गांधी से सवाल किया कि स्वयं उन्होंने बाप दादो के पेशे को अपनाया है ? वे स्वयं बनिया होने के कारण व्यापार उनका पेशा होना चाहिए लेकिन उन्होंने वकालत का पेशा अपनाया। इसी प्रकार गांधी ने अन्तरजातीय विवाह तथा सहभोज पर प्रतिबन्ध को उचित बताया जबकि अम्बेडकर इससे सहमत नहीं थे। वे जाति के उन्मूलन के लिए अन्तरजातीय विवाह को आवश्यक मानते थे।

गांधी तथा अम्बेडकर दोनों ही अस्पृश्यता को अनैतिक तथा अमानवीय प्रथा मानते थे तथा दोनों ही इस प्रथा को समूल नष्ट करना चाहते थे लेकिन अस्पृश्यता के कारण तथा निदान के सम्बन्ध में दोनों के दृष्टिकोण भिन्न थे। गांधी अछूतों को हिन्दू समाज का अभिन्न अंग मानते थे। उनका कहना था कि अछूतों की समस्या, हिन्दू समाज की समस्या है तथा यदि हिन्दू समाज को जीवित रहना है तो उसे अछूतों की समस्या का निराकरण करना होगा। अम्बेडकर की मान्यता इसके विपरीत थी। उनका कहना था कि यदि दलित हिन्दू होते तो हिन्दू उनके साथ अमानवीय व्यवहार नहीं करते। उन्होंने तीसरे दशक तक दलित समस्या का निदान हिन्दू समाज के दायरे में किये जाने के प्रयास किये और अन्तत: इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि सुधारात्मक प्रयासों से, इस समस्या को जड़ से मिटाना सम्भव नहीं है। अम्बेडकर का कहना था कि हिन्दू जाति और धर्म एक दूसरे के पर्याय हैं। जाति की जड़ें धर्म में होने के कारण जाति का उन्मूलन संभव नहीं है इसलिए अम्बेडकर ने अपने साथियों के साथ अन्तत: बौद्ध धर्म ग्रहण करने का निर्णय लिया।

गांधी अस्पृश्यता निवारण एवं व्यवस्था परिवर्तन हेतु सवर्णो तथा पूंजीपतियों का हृदय परिवर्तन करना आवश्यक मानते थे। वे सौहार्द, सामंजस्य तथा शान्तिपूर्ण अहिंसात्मक तरीकों से समाज में बदलाव लाना चाहते थे, लेकिन अम्बेडकर इससे सहमत नहीं थे। उनका मानना था कि व्यवस्था में बदलाव तथा छुआछूत की समाप्ति के लिए संघर्ष जरूरी है। इसीलिए उन्होंने दलितों तथा शोषितों को संघर्ष के लिए एकजुट होने का आहवान किया। वे कानून द्वारा समस्या के समाधान को महत्वपूर्ण मानते थे। इसी आधार पर उन्होंने संवैधानिक दायरे में दलितों को राजनीतिक शक्ति प्रदान करने के लिए सरकारी सेवाओं तथा विधायिकाओं में पृथक प्रतिनिधित्व दिलाने की कोशिश की।

अम्बेडकर की पहल पर ही ब्रिटिश सरकार ने दलितों को सन् 1932 में साम्प्रदायिक पंचाट के तहत पृथक निर्वाचन का अधिकार दिया जिसके विरोध में गांधी ने आमरण अनशन आरम्भ कर दिया। गांधी की चिन्ताजनक स्थिति को देखते हुए अम्बेडकर स्वयं गांधी तथा कांग्रेस के प्रतिनिधियों से मिले जिसके परिणामस्वरूप दौनों पक्षों के बीच पूना पैक्ट हुआ। इस

समझौते के अनुसार अम्बेडकर ने दलितों के लिए पृथक निर्वाचन की मांग छोड दी और गांधी ने दलितों के लिए आरक्षण का प्रावधान स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार गांधी एवं अम्बेडकर दौनों समानता तथा न्याय पर आधारित समाज की स्थापना के पक्षधर थे, लेकिन लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपनाये गये साधनों में भिन्नता थी। अम्बेडकर तथा गांधी भारतीय समाज की दो भिन्न भिन्न पृष्ठभूमि से आये थे, दोनों के दृष्टिकोण में भिन्नता का एक प्रमुख आधार यह पृष्ठभूमि भी थी। हिन्दू समाज के पदसोपानीय विभाजन की पीड़ा को गांधी ने भोगा नहीं, मात्र देखा था अत: अस्पृश्यता जैसी कुरीति के प्रति एक दृष्टा के भाव से उसे उन्होंने समझने व मिटाने की कोशिश की। अम्बेडकर का संदर्भ बिल्कुल अलग था। उन्होंने जाति व्यवस्था में विद्यमान भेदभाव तथा अस्पृश्यता के दंश को स्वयं झेला था, अत: भुक्त भोगी होने की पीडा तथा इस व्यवस्था के प्रति आक्रोश उनके दृष्टिकोण तथा विचार अभिव्यक्ति में स्पष्ट दिखाई देता है। उन्होंने नैतिकता, सदाचार, व्यवसाय सभी का आधार धर्म शास्त्रों द्वारा स्वीकृति और जन्माधारित जाति व्यवस्था को माना। यही कारण है कि वे जाति आधारित किसी भी प्रकार की व्यवस्था तथा व्यवहार के विरोधी थे और इसीलिए वे वर्ण एवं जाति व्यवस्था को नष्ट करने के बाद ही समता पर आधारित समाज की स्थापना को सम्भव मानते थे।

14.8 सारांश

महाराष्ट्र की अछूत महार जाति में जन्में भीमराव अम्बेडकर ने जातिगत अपमान और संघर्ष के साथ अध्ययन किया था अत: जाति प्रथा और छुआछूत के प्रतिकार के संकल्प के साथ उन्होंने सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया। जन्म जैसे संयोग पर आधारित जाति व्यवस्था तथा अमानवीय छुआछूत प्रथा की समाप्ति को उन्होंने अपने जीवन तथा चिन्तन का साध्य बना लिया। भारतीय इतिहास, हिन्दू धर्म शास्त्रों के अध्ययन तथा जीवन के अनुभवों से वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि जाति तथा अस्पृश्यता के लिए हिन्दू धर्म तथा धर्म शास्त्र जिम्मेदार हैं इसलिए उन्होंने ब्राह्मणवाद की समाप्ति तथा हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों को समता मूलक आधार पर पुन: परिभाषित करने का आहवान किया।

वे देश की राजनीतिक आजादी से ज्यादा महत्चपूर्ण सामाजिक समता तथा स्वतंत्रता को मानते थे। यही उनकी अपनी राष्ट्रीयता थी। वे लोकतंत्र को सामाजिक धरातल पर उतारना चाहते थे और इसके लिए जाति विहीन समाज के पुनर्गठन के पक्षधर थे। उन्होने जाति गत व्यवसायों को आर्थिक स्वतंत्रता के विरूद्व माना और समाज के संतुलित आर्थिक विकास के लिए राज्य के हस्तक्षेप को आवश्यक माना। अपने चिन्तन की मौलिकता, स्पष्टता तथा संकल्प की दृढ़ता के चलते उनका गांधी से मतभेद बना रहा। उन्होंने अपनी प्रतिभा, राष्ट्रीयता की भावना सामाजिक न्याय के लिए किये महत्त्वपूर्ण प्रयासों के आधार पर स्वतंत्र भारत के संविधान निर्माण में सक्रिय व सजग सहभागिता निभाई। उन्होंने सदियों से दंभित शोषित मानवता के अधिकार के प्रश्न को देश की प्रमुख समस्या के रूप में प्रस्तुत कर उनके अधिकारों का मार्ग प्रशस्त किया।

14.9 अभ्यास प्रश्न

1. अम्बेडकर के राजनीतिक तथा आर्थिक चिन्तन के मुख्य तत्वों की व्याख्या कीजिए।
2. अम्बेडकर तथा गांधी दोनों का साध्य एक था लेकिन साधन अलग-अलग इसलिये टिप्पणी के आलोक तथा उनके में अम्बेडकर के सामाजिक चिन्तन को स्पष्ट कीजिये।

14.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. आर.के.प्रूथी : इंडियन पोलिटिकल थॉट, मोहित पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली 2007।
2. पी.के त्यागी : भारतीय राजनीतिक विचारक, विश्वभारती पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2006।
3. वी.पीव.वर्मा : मॉडर्न इंडियन पोलिटिकल थॉट, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा 1986।

इकाई - 15

मानवेन्द्र नाथ राय (एमएन. रॉय)

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 मानवेन्द्र नाथ रॉय की रचनाएं

15.3 मानवेन्द्र नाथ रॉय के विचार

15.3.1 मानवेन्द्र नाथ रॉय एवं मार्क्सवाद

15.3.2. मानवेन्द्र नाथ रॉय एवं गाँधीवाद

15.3.3 मौलिक लोकतंत्र की अवधारणा

15.3.4 नवीन मानववाद की संकल्पना

15.4 सारांश

15.5 अभ्यास प्रश्न

15.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

15.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप समझ पायेंगे-

- मानवेन्द्र नाथ रॉय का चिन्तन
- मानवेन्द्र नाथ रॉय की मार्क्सवादी विचार-यात्रा
- गाँधीवाद के सम्बन्ध में मानवेन्द्र नाथ रॉय के विचार
- 'दल विहीन लोकतन्त्र' जैसी आदर्श व्यवस्था के बारे में मानवेन्द्र नाथ रॉय के विचार
- नवीन मानववाद' की संकल्पना

15.1 प्रस्तावना

मानवेन्द्र नाथ राय का जन्म 6 फरवरी,1886 को कलकत्ता के निकट एक गांव में हुआ था। राय का प्रारम्भिक नाम नरेन्द्रनाथ भट्टाचार्य था। तत्कालीन बंगाल में, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन की लहर चल रही थी, ऐसे समय में राजनीतिक बोध होना स्वाभाविक है। इस प्रकार प्रारम्भिक अवस्था में ही वे राष्ट्रवादी विचारों के सम्पर्क में आए। राय के जीवनी लेखक ' मुंशी और दीक्षित' के अनुसार, ' राय का जीवन स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ और स्वामी दयानन्द से प्रभावित रहा। ' इन सन्तों और सुधारकों के अतिरिक्त उनके जीवन पर विपिन चन्द्र पाल और सावरकर का अमिट प्रभाव पड़ा।

मानवेन्द्र नाथ रॉय के विचारों की यात्रा का आरम्भ अमरीका मे, मार्क्सवादी विचारधारा से हुआ क्योंकि उस समय वे लेनिन के विचारों से प्रभावित थे। उनका मानना था कि भारत की गरीबी व दुर्दशा को मार्क्सवादी विचारों को साकार रूप देकर सुधारा जा सकता है । भारत आकर

मार्क्सवादी विचारधारा को लागू करने का प्रयास किया परन्तु कुछ असहज कमियों के कारण मार्क्सवादी विचारों से मोह भंग हो गया और आदर्शवादी विचारों की ओर मुडे। उन्होंने आदर्शवाद के धरातल पर गाँधीवादी विचारधारा की ओर मुड़ते हुए 'दलविहीन लोकतन्त्र' और नवीन मानववाद' की संकल्पना देते हुए 'विश्व राज्य' की कल्पना की।

15.2 मानवेन्द्र नाथ रॉय की रचनाएं

(1) दी वे टू डयूरेबिल पीस
(2) वन ईयर ऑफ नॉन-कोऑपरेशन
(3) दी रिवोल्यूशन एण्ड काउण्टर रिवोल्यूशन इन चाइना
(4) रीजन, रोमाण्टिसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन
(5) इण्डियन इन ट्रांजीशन
(6) इंडियन प्रॉबलम्स एण्ड देयर सोल्यूशन्स
(7) दी फ्यूचर ऑफ इण्डियन पॉलिटिक्स
(8) हिस्टोरिकल रोल ऑफ इस्लाम
(9) फासिज़्म : इट्स फिलॉसफी, प्रोफेशन्स एण्ड प्रैक्टिस
(10) मैटिरियलिज़्म
(11) न्यू ओरियन्टेशन
(12) बियोन्ड कम्युनिस्म टू ह्यूमेनिज़्म
(13) न्यू ह्यूमेनिज़्म एण्ड पॉलिटिक्स
(14) पॉलिटिक्स, पावर एण्ड पार्टीज
(15) दी प्रिंसिपल्स ऑफ रेडिकल डेमोक्रेसी
(16) कॉन्स्टीट्यूशन ऑफ फ्री इण्डिया
(17) रेडिकल ह्यूमेनिज़्म
(18) अवर डिफरेन्सेज
(19) साइन्स एण्ड फिलॉसफी
(20) ट्वेण्टि टू थीसिस

15.3 मानवेन्द्र नाथ रॉय के विचार

राय अपने चिन्तन के प्रथम काल (1901-1915) में एक रोमांटिक क्रांतिकारी रहे। बंकिम चन्द्र के 'आनन्द मठ' क सामाजिक आदर्शवाद ने भी उन्हें प्रभावित किया। वे 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' (Culture Nationalism) से भी प्रभावित थे। उनका मानना था कि हिंसक उपायों से ब्रिटेन को भारतीयों के हाथों में सत्ता सौंप देने के लिए बाध्य किया जा सकता है। रॉय ने कहा कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए क्रान्तिकारी हिंसात्मक एवं अहिंसात्मक साधनों को अपनाया जा सकता है। एम.एन. रॉय के मार्क्सवादी, गाँधीवाद, मौलिक लोकतन्त्र व नवीन मानववाद सम्बन्धी विचार निम्नलिखित है

15.3.1 मानवेन्द्र नाथ राय और मार्क्सवाद

राय ने सन् 1915-17 के वर्षो में अमरीका में रहते हुए मार्क्स तथा अन्य समाजवादी लेखकों की रचनाओं पर्याप्त अध्ययन किया था। वे मार्क्स के दर्शन से प्रभावित हुए उन्होंने मैक्सिको में साम्यवादी दल की स्थापना की और 'साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय' के संस्थापक सदस्य के रूप में अपने दृढ़ मार्क्सवादी होने का परिचय दिया। उन्होंने भारत में साम्यवादी आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए भारी प्रयास किए। उन्होंने कहा कि भारतीय दरिद्रता ब्रिटिश साम्यवाद और देशी सामन्तवाद (जमींदार और पूंजीपति) के शोषण का परिणाम है और इस दरिद्रता का उन्मूलन तभी सम्मव है जबकि ब्रिटिश साम्राज्यवाद और उसके आधार रूप में कार्य करने वाली इस देशी सामन्तवादी व्यवस्था को जड से समाप्त कर दिया जाए।

समर्थन:

मानवेन्द्र नाथ राय ने निम्नलिखित मार्क्सवादी आधारों का समर्थन प्रकट किया :-

(1) **भौतिकवादी विचारों के आधार पर सहमति -** राय मूलत: एक भौतिकवादी चिन्तक है और उन्होंने अनुभव किया कि मार्क्स ने विकसित रूप में भौतिकवादी दर्शन को प्रस्तुत किया है। अत: उन्होंने मार्क्सवाद से सहमति प्रकट की। राय मार्क्स के इस विचार से पूर्णत: सहमत थे कि सृष्टि का मूल कारण प्रत्यय या ईश्वर नहीं है, अपितु पदार्थ है। सम्पूर्ण सृष्टि मूलत: पदार्थ की विकसित अवस्था तथा उसके रूप-भेद को प्रकट करती है। इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति तथा उसके स्वरूप के निर्धारण में जो मूल कारण है वह भौतिक है। सृष्टि में जो कुछ घटित हुआ है अथवा घटित हो रहा है उसका मूल कारण वे भौतिक परिस्थितियाँ, जो स्वयं पदार्थ (पदार्थ की गतिशीलता) से उत्पन्न होती हैं।

(2) **मार्क्स की वैज्ञानिक चिन्तन पद्धति-** रॉय मार्क्स के अनुरूप यह मानते हैं कि आत्मा' या 'चेतना' या 'विचार' की अपनी कोई स्वतन्त्र आध्यात्मिक (प्रत्ययवादी) सत्ता नहीं है, अपितु यह भौतिक पदार्थ का ही अति सूक्ष्म रूपान्तरण (रूप-भेद) है। ज्ञान केवल वस्तुनिष्ठ होता है और ज्ञान का मूल स्रोत इन्द्रियाँ हैं। रॉय ने अपने चिन्तन के इस दौर में मार्क्स की अध्ययन पद्धति को वैज्ञानिक मानकर उसकी प्रशंसा की। रॉय ने मार्क्स को पहला ऐसा भौतिकवादी दार्शनिक माना जिसने किसी मानव-समाज के राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दर्शन एवं व्यवस्था का मूल कारण उस समाज की आर्थिक परिस्थितियों में खोजने का प्रयास किया। इसके साथ ही मार्क्स ने इतिहास की विभिन्न अवस्थाओं में पायी जाने वाली आर्थिक परिस्थितियों का वस्तुनिष्ठ एवं वैज्ञानिक अध्ययन भी प्रस्तुत किया।

(3) **पूँजीवाद के सम्बन्ध में विचारों का समर्थन-** रॉय पूँजीवाद के बारे में मार्क्स के इस विचार से सहमत है कि पूँजीवादी व्यवस्था अपनी प्रकृति से अमानवीय है और यह समाज में व्याप्त शोषण एवं अन्याय का मूल कारण है। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में गम्भीर कमियाँ हैं जिनके कारण सम्पूर्ण पूँजीवादी समाज व्यवस्था का पतन सुनिश्चित है और उसके बाद समाजवादी समाज की स्थापना होगी जो एक श्रेष्ठ एवं न्यायपूर्ण

समाज होगा। रॉय मार्क्स के इस मत से भी पूर्ण सहमत हैं कि पूँजीवादी व्यवस्था के नाश के लिए क्रान्ति की जरूरत होगी और इसके लिए सर्वहारा (श्रमिक वर्ग) को संगठित करना होगा।

(4) **राष्ट्रवाद की आलोचना का समर्थन -** मार्क्स के चिन्तन में संकीर्ण राष्ट्रवाद के लिये कोई स्थान नहीं था। सर्वहारा वर्ग की विश्वव्यापी चेतना मार्क्स के दर्शन की प्रेरक शक्ति थी। मार्क्स ने पूंजीवाद के पतन के पश्चात् एक विश्वव्यापी समाजवादी व्यवस्था का स्वप्न देखा था। रॉय मार्क्स के इस दृष्टिकोण से सहमत थे कि राष्ट्रवाद पूंजीवाद के विरूद्ध संघर्ष में विश्व भर के लोगों की एकता के मार्ग में बाधाएं उपस्थित है।

(5) **मानवतावादी चिन्तन-** रॉय के अनुसार मार्क्स के चिन्तन का लक्ष्य मानव का कल्याण था। प्रारम्भिक दिनों में रॉय मार्क्स के चिन्तन को मानव की मुक्ति के एक विश्वसनीय वैचारिक आधार के रूप में देखते थे। मार्क्स का लक्ष्य शोषण की स्थिति को समाप्त कर एक समतावादी न्यायपूर्ण सन्तुलित समाज की स्थापना करना था। राय मार्क्स के चिन्तन की इस मानवीय तथा उदारवादी प्रवृत्ति और उसके चिन्तन के मूल लक्ष्य के प्रति विश्वास रखते थे। रॉय का उद्देश्य एक ऐसी वैचारिक क्रान्ति था जिसके द्वारा मानव हर प्रकार के दमन, अन्याय और उत्पीडन से मुक्त हो जाय और सर्वांगीण विकास हो सके।

(6) **धर्म की आलोचना पर सहमति-** एक भौतिकवादी विद्वान के में मार्क्स का ईश्वर के अस्तित्व में कोई विश्वास नहीं है। उसका मत है कि इतिहास धर्म की भूमिका सदैव ही प्रतिक्रियावादी रही है। शोषक वर्ग ने शोषित वर्ग के विरूद्ध धर्म सुनियोजित ढंग से प्रयोग किया है और उसे मानवीय अन्याय एवं शोषण को सहन की प्रेरणा दी है। शोषक वर्ग ने धर्म की आड में अपने जुल्मों को छुपाया है और शोषित वर्ग के लिए धर्म अफीम की गोली सिद्ध हुआ है।रॉय ने मार्क्स के धर्म का समर्थन किया और किसी समाज में मौजूद धार्मिक चेतना एवं भक्ति को उस के पिछड़ेपन की पहचान बताया है।

आलोचना

मानवेन्द्र नाथ रॉय ने निम्नलिखित आधारों पर मार्क्सवाद की आलोचना की है:

(1) **इतिहास की आर्थिक व्यवस्था -** रॉय ने मार्क्स द्वारा दी गई इतिहास की आर्थिक व्याख्या को भ्रामक और अपूर्ण माना। रॉय का मत है कि मार्क्स हे मनुष्य की गतिविधियों में, उसकी स्वंय की इच्छा, विचारों तथा नैतिक व सांस्कृतिक मूल्यों की उपेक्षा की। रॉय मार्क्स के इस विचार से सहमत नहीं हैं कि मनुष्य की नियति का निर्धारण केवल आर्थिक कारकों से ही होता है। उन्होंने कहा "नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक जीवन में उत्थान के लिये मनुष्य की आवश्यकताएं केवल आर्थिक आवश्यकताओ तक सीमित नहीं रहती है। "राय ने यह माना है कि मानव-इतिहास का अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि विश्व के वर्तमान स्वरूप के निर्धारण में आर्थिक कारकों के अतिरिक्त सामाजिक, बौद्धिक और नैतिक कारकों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। रॉय ने कहा मार्क्स ने समाज को आर्थिक गतिविधियों में संलग्न व्यक्तियों

के समुदाय के रूप में ही देखा, तथा उसने उत्पादन के साधनों और उत्पादन की गतिविधियों के, अन्य सामाजिक परिस्थितियों व प्रवृत्तियों की उपेक्षा की।

(2) **मानव की स्वतन्त्र चेतना की उपेक्षा-** रॉय ने आरोप लगाया मार्क्स का 'आर्थिक नियतिवाद' मनुष्य की सृजनात्मक क्षमताओं के महत्व को पूर्णत: कर देता है। उन्होंने कहा कि मनुष्य अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ-साथ, सामाजिक, बौद्धिक और नैतिक दृष्टि से भी अच्छे जीवन की इच्छा करता है। राय के अनुसार नैतिक उन्नति का, भौतिकवाद से कोई टकराव नहीं है; जबकि आर्थिक कारकों को मनुष्य के जीवन में अत्यधिक महत्व प्रदान करके मार्क्स ने भौतिकवाद का विरोध किया है। रॉय मनुष्य की स्वतन्त्रता के पक्षधर है। वे मनुष्य को राज्य तथा समाज द्वारा आरोपित बंधनों से मुक्त करना आवश्यक मानते ही हैं, आर्थिक नियतिवाद जैसे रूढ़ सिद्धान्तों से भी उसकी मुक्ति को भी आवश्यक मानते हैं।

(3) **मार्क्स के द्वन्द्वाद की आलोचना -** रॉय मार्क्स के द्वन्द्वाद या उसकी द्वन्द्वात्मक पद्धति से कभी भी सहमत नहीं हो पाए। राय का विचार था कि द्वन्द्वाद एक वैचारिक प्रक्रिया है, जिसे वैचारिक क्षेत्र में भी अपनाया जा सकता है, लेकिन भौतिक जीवन के विविध चरणों और भौतिक स्थितियों की व्याख्या इस पद्धति के आधार पर कर पाना सम्भव नहीं है।

(4) **वर्ग-संघर्ष के समाजशास्त्र में सन्देह-** मार्क्स वर्ग-संघर्ष को मानवीय जीवन का एक मूल तत्व मानते हैं। रॉय स्वीकार करते हैं कि मानव समाज में समय-समय पर विभिन्न वर्ग अवश्य रहे हैं कि उनमें संघर्ष भी रहा है, लेकिन उन वर्गो में संघर्ष की तुलना में आपसी सहयोग, सामाजिक एकता और बन्धन के तत्व, अधिक प्रमुख रूप से रहे हैं, जिनके सहारे मानव समाज अब तक बचा हुआ है। यदि वर्ग-संघर्ष ही मानव समाज में प्रमुख होता, तो मनुष्य अब तक लड़-भिड़ कर समाप्त हो गए होते।

(5) **मध्यम वर्ग की अवहेलना-** रॉय के अनुसार मार्क्स की यह धारणा गलत है कि मध्यम वर्ग का लोप हो जाएगा। मार्क्स की भविष्यवाणी के सर्वथा विपरीत मध्यम वर्ग का उलटे विकास हुआ है और आर्थिक प्रक्रियाओं के विस्तार के साथ मध्यम वर्ग की संख्या बढ रही है। प्रथम महायुद्ध के बाद विश्व के विभिन्न देशों के सांस्कृतिक और राजनीतिक जीवन में मध्यम वर्ग की भूमिका पहले की तुलना में और अधिक महत्वपूर्ण हो गई है। राय मध्यम वर्ग को ही समाज का नेतृत्व सौंपने की वकालत करते हैं और मध्यम वर्ग को ही क्रान्तिकारी कार्यो का सूत्रधार मानते हैं।

(6) **नैतिक शक्ति की अवहेलना-** मार्क्सवाद के विरूद्ध राय की एक गम्भीर आपत्ति यह रही हे उनमें नैतिक नियमों के चलने के लिए कोई स्थान नहीं है। मार्क्सवादी दर्शन व्यक्ति को अपेक्षित स्वतन्त्रता प्रदान नहीं करता। यह दर्शन व्यक्ति को केवल इस बात की स्वतन्त्रता देता है कि वह ऐतिहासिक आवश्यकता को समझ ले और स्वयं को उसके समक्ष प्रसन्नतापूर्वक समर्पित कर दे। राय ने कहा, स्वतन्त्रता की यह धारणा तो गुलामी धारणा है जिस पर चलने से समाज 'स्वेच्छापूर्ण गुलामों' का समूह बन जाएगा।

समाज के विकास में नैतिक शक्ति की अवहेलना करना मार्क्सवाद का निश्चय ही एक गम्भीर दोष है।

(7) सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद (सर्वाधिकारवाद) की आलोचना- मार्क्स ने पूंजीवादी व्यवस्था के अन्त के बाद 'सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद' की स्थापना का विचार दिया। व्यवहार में स्थिति यह है कि आधुनिक युग की विशाल राजकीय सेनाओं के सामने सर्वहारा वर्ग की शक्ति नगण्य है और मार्क्स जिसे 'सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद कहता है, व्यवहार में वह राज्य का सर्वाधिकारवाद होता है। रॉय व्यक्ति की स्वतन्त्रता की दृष्टि से मार्क्सवाद पर आधारित इस सर्वाधिकारवाद का विरोध और उदारवाद का समर्थन करते हैं।

(8) मार्क्सवादी दर्शन में व्यक्ति की उपेक्षा- व्यक्ति जो कि स्वतन्त्रताप्रिय कल्पनाशील और रचनात्मक प्रवृत्ति का प्राणी है, मार्क्सवादी दर्शन और उससे भी अधिक मार्क्सवादी व्यवस्था में एक साधन मात्र बना दिया गया है। मानव का विकास नैतिक, बौद्धिक, सामाजिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता से ही सम्भव है। मार्क्सवादी दर्शन में व्यक्ति को इस स्वतन्त्रता से वंचित कर समष्टि की वेदी पर व्यक्ति का दूसरे स्थान पर कर दिया गया है। " रॉय मार्क्स की तरह समाज को प्राथमिकता देकर व्यक्ति को दूसरे स्थान पर नहीं रखना चाहते। "

(9) हिंसक पद्धति की आलोचना- मार्क्सवाद हिंसा और बल की प्रवृत्ति में विश्वास करता है। रॉय का विचार है कि मार्क्स द्वारा प्रतिपादित हिंसात्मक तरीका ही व्यवस्था में परिवर्तन का एकमात्र उपाय नहीं है, वे शान्तिपूर्ण तरीके से एवं सामाजिक स्थितियों को सुधारना उचित समझते हैं। साधन तथा साध्य अटूट सम्बन्धों के विषय में उनका पूरा विश्वास था।

(10) राज्य के लोप होने की धारणा से असहमति- मार्क्स के मत से पूर्ण असहमति प्रकट की है कि सर्वहारा के अधिनायकतन्त्र के अन्तर्गत समाज का विकास इस प्रकार से होगा कि राज्य क्रमश: निर्बल होता जायेगा और अन्त में मुरझा जायेगा। मानव सभ्यता के जन्म के साथ ही राज्य का उदय हुआ है और सभ्यता के विकास के साथ-साथ राज्य के रूप में संगठन में परिवर्तन होते रहे हैं। इस प्रकार -सभ्यता एवं राज्य में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है और राज्य के अन्त का अर्थ होगा कि मानव पुन: सभ्यता से पूर्व की अवस्था में पहुँच जाये।

रॉय मार्क्सवाद के सिद्धान्तों की आलोचना करते हुए भी कुछ सिद्धांतों पर सहमति प्रकट की है। वस्तुत: रॉय के विचार निरन्तर विकसित होते रहे। मार्क्स के दर्शन के प्रति सहमति के सन्दर्भ उनके प्रारम्भिक दौर के चिन्तन में अभिव्यक्त हुए। स्टॉलिनकालीन रूस के अपने अनुभवों तथा निरन्तर विकसित होते हुये अपने मानवतावादी विचारों के कारण वे धीरे-धीरे मार्क्स के दर्शन से दूर होते चले गये। वे मार्क्सवादी से मानवतावादी बन गये। जहाँ मार्क्स का दर्शन व्यक्तिगत चेतना की तुलना में वर्ग-चेतना को महत्व प्रदान करता था और रॉय के मत में मनुष्य और उसकी चेतना को किसी भी व्यवस्था का दास बनाना उचित नहीं हैं।

बोध प्रश्न -1

प्रश्न: मानवेन्द्र नाथ रॉय और मार्क्सवाद के समानता और असमानता के बिन्दुओ को इंगित कीजिये ?

उत्तर: .....

.....

15.3.2 मानवेन्द्र नाथ रॉय एवं गाँधीवाद

मार्क्सवाद की तरह गाँधीवाद के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्षो के बारे में भी रॉय के चिन्तन में एक सुनिश्चित स्थायित्व का अभाव दिख पडता है, तो भी इन दोनों परस्पर विरोधी दर्शनों (मार्क्सवाद एवं गाँधीवाद) के प्रति रॉय की दृष्टि में एक आधारभूत अंतर भी दिख पड़ता है। जैसे-जैसे रॉय के राजनीतिक अनुभव एवं चिन्तन में परिपक्वता बढ़ती, वैसे-वैसे ही रॉय की मार्क्सवाद से दूरी बढ़ती गयी और गाँधीवादी विचारों के नजदीक आते। उनके चिन्तन के कुछ पहलुओं पर गाँधीवाद एवं गाँधी का प्रभाव भी पड़ा। अत: यह माना है कि अपने राजनीतिक चिन्तन की परिपक्वता के काल में गाँधीवाद एवं गाँधी के बारे में रॉय का पर्याप्त सन्तुलित एवं मर्यादित हो गया था।

सन् 1920-21 में गाँधी ने जो असहयोग आन्दोलन चलाया, एम.एन. राय उससे प्रभावित हुए थे। सन् 1922 में उन्होंने अपनी पुस्तक "One Year of Non-Co-operation) में गाँधी को महान् व्यक्ति बतलाते हुए उनकी तुलना सेण्ट थॉमस एक्वीनास, रोमा रोलां तथा सेण्ट फ्रांसिस से की। गाँधी असहयोग आन्दोलन को जन आन्दोलन का रूप देने में सफल रहे थे, अत: उन्होंने गाँधी की प्रतिभा को स्वीकार करते हुए निम्न रूपों में गाँधी के रचनात्मक योगदान का उल्लेख किया:

(1) गाँधी के नेतृत्व ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में एकता उत्पन्न की और इसे बड़े वर्गो के प्रभाव से निकालकर राष्ट्रव्यापी एवं जन-साधारण की संस्था बनाया।

(2) गाँधी ने सामान्य जनता के सहयोग से ब्रिटिश राज के विरुद्ध स्वराज्य की सीधी लड़ाई शुरु की और राष्ट्रीय आन्दोलन को विस्तृत वर्गीय आधार प्रदान किया।

(3) गाँधी ने भारतीय राजनीति में असहयोग, सविनय अवज्ञा तथा कर न देने के अहिंसात्मक उपायों के प्रयोग की शुरूआत की जो उनसे पूर्व के उदारवादी तथा उग्रवादी कांग्रेसी नेतृत्व द्वारा अपनाये गये साधनों की तुलना में अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुए।

(4) गाँधी की अहिंसात्मक राजनीति के कारण ब्रिटिश राज अपनी क्रूर दण्डात्मक व दमनात्मक शक्ति का खुलकर प्रयोग करने में असमर्थ रहा और इससे सामान्य जनता में ब्रिटिश राज का भय समाप्त हुआ।

मानवेन्द्र नाथ रॉय ने निम्नलिखित आधारों पर गाँधीवादी दर्शन की आलोचना की -

(1) राजनीति के आध्यात्मीकरण का विरोध :

रॉय ने गाँधी द्वारा राजनीति के आध्यात्मीकरण की आलोचना की है। उनका स्पष्ट मत है कि आध्यात्मवाद एक पारलौकिक विषय है और उसका कोई महत्त्व वैयक्तिक जीवन में

नहीं है। राजनीति का सम्बन्ध मानव के भौतिक जीवन से है। अत: इन दो विपरीत प्रकृति वाले विषयों को मिलाने से राजनीतिक जीवन में अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न होंगी। रॉय का मत है कि सत्य, ईश्वर, शाश्वत विधि व नैतिकता, आत्मा की अमरता, कर्म-सिद्धान्त आदि की आध्यात्मिक अवधारणाओं के आधार पर राजनीति का बुद्धिपूर्ण संचालन असम्भव है। साध्य के समान साधन की पवित्रता का गाँधीवादी आध्यात्मिक सिद्धान्त राजनीति के यथार्थवादी क्षेत्र में किसी भी प्रकार सफल नहीं हो सकता है।

(2) गाँधीवाद में ठोस आर्थिक कार्यक्रम का अभाव

रॉय की मान्यता थी कि गाँधीवाद में आर्थिक कार्यक्रम का अभाव था। उनका मत था कि प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् कृषकों और श्रमिक वर्ग में पनप रहे तीव्र असन्तोष के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन में ठोस आर्थिक कार्यक्रमों को सम्मिलित कर के, उन वर्गो को राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति आकर्षित किया जा सकता था। किन्तु गाँधी ने जनता के समक्ष ऐसा कोई ठोस आर्थिक कार्यक्रम प्रस्तुत नहीं किया, जो उन्हें उनके जीवन-स्तर में सुधार एवं उन्नति कर सके।

(3) गाँधी के वर्ग-सहयोग के सिद्धान्त की आलोचना

रॉय ने आरोप लगाया कि गाँधीवाद समाज के सर्वथा विपरीत हित रखने वाले वर्गो- जमींदारों और पूंजीपतियों जैसे शोषकों, तथा कृषकों और श्रमिकों जैसे शोषितों के मध्य समन्वय करना चाहता है। गाँधी अपने आन्दोलन में शोषक पूंजीपति और जमींदार, शोषित किसान तथा मजदूर सबको एक साथ लेकर चलना चाहते हैं। रॉय की मान्यता है कि पूंजीपतियों और श्रमिकों के हितों के मध्य सामंजस्य असम्भव और असंगत है। उन्होंने गाँधी की इस बात के लिये आलोचना की है कि उन्होंने जन-आन्दोलन को संगठित करने के लिये जमींदारों, पूंजीपतियों और भू-पतियों से समर्थन की अपेक्षा की। उन्होंने गाँधी के न्यासिता के सिद्धान्त को अव्यावहारिक और असंगत बताया। उन्होंने सचेत किया कि पूंजीपतियों व शोषकों के हृदय -परिवर्तन के माध्यम से एक न्यायपूर्ण, सन्तुलित, समतावादी, आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करना एक काल्पनिक भुलावा मात्र है। राय ने कहा है कि गांधीवाद बहुसंख्यक जनता के असहनीय कष्टों पर मगरमच्छी आंसू बहाने के अतिरिक्त उनके लिए और कुछ नहीं कर रहा।

(4) राजनीति और धर्म के संयोग की आलोचना

गाँधी धर्म और राजनीति के बीच घनिष्ठ सम्बन्धों के समर्थक थे और वे धर्म-विहीन राजनीति को मृत्यु-जाल मानते थे। उन्होंने राजनीति में सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, शौच, तप, त्याग, आत्म-निरीक्षण, आत्म-संयम, प्रायश्चित आदि धार्मिक प्रकृति के नैतिक नियमों को लागू करने की कोशिश की है। रॉय राजनीतिक जीवन में इन धार्मिक नैतिक नियमों को पालन के कट्टर विरोधी हैं। वे मार्क्स के समान धर्म को अफीम की गोली मानते हैं और धर्म को एक प्रतिक्रियावादी सामाजिक शक्ति के रूप में ही देखते हैं। इसके साथ ही रॉय का आरोप है कि गाँधी का हिन्दू धर्म के प्रति विशिष्ट झुकाव था जिसके कारण राजनीति के एकीकरण में बाधा आयीं। गैर-हिन्दू समुदायों ने उनकी धार्मिक राजनीति को मानवता की राजनीति के रूप में नहीं, हिन्दू नेता की राजनीति के रूप में स्वीकारा। रॉय का मत है कि गाँधी ने भारतीय राजनीति में

धार्मिक पुनरुत्थानवाद को लोकप्रिय बनाया। उन्होंने हिन्दू धर्म की वर्ण व्यवस्था तथा जाति व्यवस्था की संस्थाओं का तथा ऐसे परम्परागत मूल्यों का समर्थन किया जो युगों से मानवीय असमानता 'एवं शोषण के साधन रहे हैं। रॉय का मत है कि भारत मे गाँधी की धार्मिक राजनीति की लोकप्रियता का मूल कारण भारतीय जनता का बौद्धिक पिछड़ापन रहा है।

(5) औद्योगीकरण और आधुनिक सभ्यता के प्रति गाँधी के दृष्टिकोण पर आपत्ति:

गाँधी यन्त्रों पर आधारित आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था तथा उसके साथ विकसित होने वाली आधुनिक सभ्यता के कटु आलोचक थे। उन्होंने यन्त्र-आधारित भारी भरकम उद्योगों की अपेक्षा लघु और कुटीर उद्योगों पर आधारित विकेन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था का प्रतिमान प्रस्तुत किया। रॉय ने गाँधी के इस आर्थिक प्रतिमान की कठोर आलोचना की। उन्होंने गाँधी के 'चरखे के अर्थशास्त्र, को 'प्रतिगामी अर्थशास्त्र' कहकर उसका उपहास किया। उन्होंने कहा कि चरखे की ओर लौटने का अर्थ है कि दो हजार वर्षा में हुई मानवीय प्रगति और भविष्य की स्वर्णिम आशाओं से मुँह मोड़ लिया जाए। गाँधी जनता के भौतिक और आर्थिक कल्याण की सुरक्षित करने की अपेक्षा, जनता को आत्मत्याग और भौतिक आवश्यकताओं को सीमित रखने के नैतिक उपदेशों को अधिक महत्व दिया।

रॉय ने मशीनी सभ्यता के प्रति गाँधी की आशंकाओं को अनुचित माना। उनका मत था कि मनुष्य ने, प्रकृति की दासता से मुक्ति पाकर, एक कष्टपूर्ण और लम्बे संघर्ष के बाद मशीन का आविष्कार किया है, अत: उनके परित्याग का गाँधी का विचार अनुचित है। रॉय का कथन था कि पूंजीवाद में मशीन पर श्रमिक की अपेक्षा पूंजीपति का नियन्त्रण होता, अत: वह शोषण का माध्यम बन गई है। रॉय के अनुसार इसका समाधान यह नहीं है कि का उन्मूलन करके, उत्पादन की प्रणाली को आदिम दौर में लौटा दिया जाए। उनके अनुसार उपाय समाजवाद में निहित है, जो कि मशीन को मनुष्य की सेवा के लिये प्रयुक्त करेगा।

(6) अहिंसात्मक आन्दोलन की नीति की आलोचना

रॉय के अनुसार गाँधीवाद मूलत: एक रहस्यात्मक एवं अबौद्धिक दर्शन है और इसलिए उसमें आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में आधारभूत परिवर्तन की दृष्टि से प्रबुद्ध क्रांतिकारिता का अभाव है। इस दृष्टि से रॉय ने गाँधी की आन्दोलन की अहिंसात्मक पद्धति की गंभीर आलोचना की है। उनका मत है कि वैयक्तिक जीवन में अहिंसा की नीति का महत्व हो सकता है, किन्तु आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याओं के हल के लिए यह बौद्धिक एवं यथार्थवादी नीति नहीं है और इसके सफल होने की कोई सम्भावना भी नहीं है। रॉय का आरोप है कि आर्थिक क्षेत्र में गाँधी की अहिंसात्मक आन्दोलन की नीति ने जमींदार एवं औद्योगिक घरानों को कांग्रेस का समर्थक बना दिया है, क्योंकि उन्होंने इस अहिंसा की नीति के कारण शोषितों के उग्र विरोध से स्वयं को सुरक्षित अनुभव किया है। रॉय का मत है कि राजनीति क्षेत्र में भी अहिंसा की नीति पर आधारित असहयोग आन्दोलन एवं सविनय अवज्ञा आन्दोलन भारत को स्वराज्य दिलाने में असफल रहे हैं। उनका सुझाव है कि आर्थिक एवं राजनीतिक दोनों क्षेत्रों में अहिंसात्मक आन्दोलन के स्थान पर 'जुझारू सामूहिक कार्यवाही' की नीति अपनायी जानी चाहिए।

(7) गाँधीवाद फासीवाद का भारतीय संस्करण है:

जब द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने भारत की स्वतन्त्रता के लिए ब्रिटिश शासन के खिलाफ 'भारत छोड़ो आन्दोलन' चलाया, तो रॉय ने इस आन्दोलन की कटु आलोचना की। उन्होंने इसे गाँधी व कांग्रेस की ब्रिटिश राष्ट्र (नस्ल) के प्रति घृणा की भावना से प्रेरित तथा फासीवादी राज्यों के समर्थन में चलाया गया आन्दोलन बताया। उन्होंने इस आन्दोलन की तीव्र आलोचना करते हुए गाँधीवाद का फासीवादी दर्शन घोषित किया और इन दोनों के बीच विभिन्न प्रकार की समानता बतायी।

रॉय के अनुसार फासीवाद की तरह गाँधीवाद भी विभिन्न अमूर्त, श्रद्धापूर्ण एवं रहस्यात्मक अवधारणाओं को स्वीकारता है। सामाजिक दृष्टि से ये दोनों ही विचारधारायें प्रतिक्रियावादी एवं अनुदारवादी हैं। वे आधुनिक सभ्यता के प्रगतिशील मूल्यों एवं उपलब्धियों की उपेक्षा करती हैं तथा अतीत के तथाकथित महान् आदर्शों एवं जीवन-मूल्यों की पुनर्स्थापना की समर्थक हैं। इस दृष्टि से फासीवाद एवं गाँधीवाद दोनों ही पुनरुत्थानवादी विचारधारायें हैं। फासीवाद प्रत्यक्ष रूप में पूंजीवादी दर्शन है और व्यवहार में गाँधीवाद ने अहिंसा की नीति द्वारा भारतीय पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध शोषित वर्ग के संघर्ष को कमजोर किया है; और कांग्रेस की नीतियों व कार्यक्रमों पर सम्पत्तिशाली वर्ग का नियन्त्रण है। फासीवाद की तरह गाँधीवाद भी जनता के भावनात्मक आवेगों को उभार कर अपने लक्ष्यों की प्राप्ति चाहता है। फासीवाद एक राष्ट्रवादी विचारधारा है और अपने प्रभाव की दृष्टि से गाँधीवाद भी मात्र भारतीय राष्ट्रवाद तक सीमित है। रॉय ने यह भी आरोप लगाया कि गाँधी का नेतृत्व फासीवादी प्रकृति का था। रॉय ने गाँधीवाद को यूरोपीय फासीवाद का भारतीय संस्करण सिद्ध करने की चेष्टा की है।

गाँधी और गाँधीवाद के विरोध के प्रति रॉय की प्रतिक्रिया स्थाई नहीं रह सकी। जैसे-जैसे उनके विचारों का साम्यवाद से बुनियादी लोकतन्त्रवाद और नव-मानवतावाद की ओर रूपान्तरण होता गया, गाँधी के विचारों के प्रति उनके विरोध का स्वर क्रमश: कोमल होता गया। उन्होंने गाँधी की मृत्यु के बाद अपने दो लेखों- दी मैसेज ऑफ दी मार्टेयर (The message of the Martyar) तथा होमेज दू दी मार्टेयर (The message to the Martyar) में पहली बार गाँधी एवं उनके सिद्धान्तों की सराहना की और उनके साथ अपनी वैचारिक सहमति भी प्रकट की। उनका यह दृष्टिकोण भविष्य में भी स्थायी रूप से बना रहा। अपने जीवन के अन्तिम दौर में तो वे गाँधी के नैतिक व्यक्तित्व की प्रशंसा करने लगे।

बोध प्रश्न- 2

प्रश्न: मानवेन्द्र नाथ रॉय गाँधीवाद के किन-किन विचारों से असहमत थे?

उत्तर : .....

15.3.3 मानवेन्द्र नाथ रॉय और मौलिक लोकतन्त्र की अवधारणा

राय पूंजीवादी लोकन्त्र और साम्यवाद दोनों ही के विरूद्ध थे, इन दोनों के द्वारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हास होता है। राय का कहना था कि वर्तमान ढाँचा ही ऐसा है जिसमें व्यक्ति अपने जन्मसिद्ध अधिकार अर्थात् स्वतन्त्रता का समुचित उपभोग नहीं कर पाता। राज्य का निर्माण स्वतन्त्र और शान्तिपूर्ण जीवन के लिए मनुष्यों के सहकारी प्रयास द्वारा हुआ है यह

शक्ति पर नहीं बल्कि व्यक्ति की नैतिक भावना पर आधारित है, अत: आवश्यक है कि यह एक बाध्यकारक संस्था के रूप में न रहे अपितु ऐसे वातावरण की सृष्टि में सहायक हो जिसमें मनुष्य मानसिक रूप से स्वयं का स्वतन्त्र अनुभव करते हुए स्वतन्त्रता का निर्माण करने में प्रयत्नशील रहे। एम. एन. राय ने अपनी कृति 'दी प्रिंसिपिल्स ऑफ रेडिकल डेमोक्रेसी' में अपनी मौलिक लोकतन्त्र सम्बन्धी आधारभूत मान्यताओं एवं सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है। रॉय के मोलिक लोकतन्त्र का मूल आदर्श है प्रबुद्ध आधार पर एक ऐसे स्वतन्त्र समाज का संगठन करना, जिसमें व्यक्ति पूर्णत: स्वतन्त्र हो और उसका सर्वांगीण विकास एवं कल्याण भी सम्भव हो।

एम.एन. राय ने एक ऐसी लोकतान्त्रिक व्यवस्था की अवधारणा प्रस्तुत की है जो साम्यवादी लोकतन्त्र तथा उदारवादी संसदीय लोकतन्त्र दोनों के अवगुणों से मुक्त है। व्यक्ति का मूल अधिकार स्वतन्त्रता माना है और लोकतान्त्रिक व्यवस्था का भी मूल लक्षण को ही स्वीकारा है। रॉय ने स्वतन्त्रता को अपनी लोकतन्त्र की अवधारणा में केन्द्रीय स्थान है। अत: उन्होंने अपनी लोकतन्त्र की अवधारणा को बुनियादी (मौलिक) लोकतन्त्र, अथवा प्रबुदु लोकतन्त्र (Radical democracy) कहा है। यह प्रबुद्ध लोकन्त्र मानवीय तर्क एवं विवेक के आधार पर समाज की एक संगठित अवस्था है, अत: रॉय ने इसे संगठित लोकतन्त्र (Organised Democracy) भी कहा है। बुनियादी लोकतन्त्र के अन्तर्गत समाज का संगठन तथा संचालन सहकारिता के आधार पर होगा, अत रॉय ने इसे 'सहकारी समाजवाद' भी नाम दिया है।

मानवेन्द्र नाथ रॉय की मौलिक या संगठित लोकतन्त्र की अवधारणा की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं :

1. विकेन्द्रीकृत सत्ता :

एम.एन.रॉय का 'बुनियादी लोकतन्त्र' सत्ता के विकेन्द्रीकरण पर आधारित है। रॉय के अनुसार यह विकेन्द्रीकृत लोकतान्त्रिक प्रणाली, शासन के अधिकतम कार्यो : में व्यक्ति की प्रत्यक्ष भागीदारी पर आधारित होगी। रॉय के अनुसार इस व्यवस्था में वास्तविक शक्ति राष्ट्रीय स्तर पर संगठित सरकार अथवा प्रान्तीय सरकारों में नहीं, अपितु व्यापक तौर पर स्थानीय, तालुका और जिला स्तर पर संगठित 'जन-समितियों' में निहित होगी। इन जनसमितियों में जनता प्रत्यक्षत: अपनी शक्ति का प्रयोग करेगी और अपने विषयों का स्वयं निर्धारण करेगी। रॉय ने कहा कि इस व्यवस्था में राज्य और समुदाय के मध्य कोई टकराव नहीं होगा। समुदाय में व्यक्ति की स्वतन्त्रता पुष्पित और पल्लवित होगी, तथा राज्य व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का बनने की अपेक्षा, व्यक्ति स्वतन्त्रता को सुरक्षित करने का उपकरण बनेगा तथा व्यक्ति के जीवन में राज्य का हस्तक्षेप कम से कम रहेगा।

2. दलविहीन लोकतन्त्र की स्थापना:

रॉय आज के लोकतन्त्र का सर्वप्रमुख दोष राजनीतिक दलों की वर्तमान व्यवस्था को मानते हैं। राजनीतिक दलों ने वर्तमान लोकतन्त्र को अपने बाहुपाश में इस प्रकार से जकड लिया है कि लोकतन्त्र मात्र एक 'दलीय यन्त्र' बनकर रह गया है। दलों ने व्यक्ति की प्रेरणा शक्ति और निर्णय शक्ति दोनों को ही कुण्ठित कर दिया है और व्यक्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व की

कल्पना असम्भव हो गई। राजनीतिक दलों का उद्देश्य शासन-सत्ता के लिए छीना-झपटी करना ही रह गया है, उन्हें जनता के वास्तविक हितों की कोई परवाह नहीं होती। राजनीतिक दल अपनी स्वार्थ साधना के लिए नैतिकता और न्याय की बलि चढ़ा देते हैं। रॉय ने कहा कि यदि नैतिक उत्थान करना है, तो वर्तमान दल-पद्धति को समाप्त करना ही होगा। विश्व के नैतिक पतन का एक मूल कारण यह वर्तमान दल पद्धति ही है। अत: रॉय के अनुसार, "यदि हमें लोकतन्त्रवाद की रक्षा करनी है तो उसे 'दलरहित बनाना होगा अर्थात् एक 'दलविहीन लोकतन्त्रकी स्थापना करनी होगी" यह दलविहीन लोकतन्त्र आत्मनिर्भर समितियों के सक्रिय योगदान पर आधारित होगा।

3. जन समितियों पर आधारित व्यवस्था :

रॉय ने अनुभव किया कि वर्तमान समय की लोकतान्त्रिक व्यवस्था में राजनीति सत्ता केन्द्रित हो गई है और उदारवादी लोकतन्त्र में जिस चुनाव पद्धति का प्रचलन है, उसमें योग्य व्यक्तियों के चुने जाने की कोई संम्भावना नहीं है। वे जनता के बौद्धिक और नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने की आवश्यकता अनुभव करते हैं और आज की लोकतान्त्रिक व्यवस्था के दोषों का निवारण करने के लिए 'संगठित लोकतन्त्र' का आदर्श प्रस्तुत करते हैं, जिसका सबसे प्रमुख तत्व है, जन समितियों के माध्यम से समस्त कार्यो का सम्पादन।

4. मौलिक लोकतन्त्र की संरचना

रॉय ने मौलिक लोकतन्त्र की राजनीतिक संरचना एवं संगठन में जन समितियों का उल्लेख किया है-स्थानीय तालुका, जिला, प्रान्त तथा राष्ट्र।रॉय के अनुसार वयस्क मताधिकार के आधार पर सभी वयस्क स्त्री-पुरुषों द्वारा स्थानीय जन-समिति के सदस्यों(जन-प्रतिनिधियों) का चुनाव किया जायेगा। किसी स्थानीय जन-समिति के लिए प्रत्येक 50 मतदाताओं के द्वारा एक जन-प्रतिनिधि का चुनाव किया जायेगा। जन- प्रतिनिधि का कार्यकाल मात्र एक वर्ष होगा। प्रत्येक तालुका की एक अपनी जन-समिति होगी, जिसके सदस्यों का निर्वाचन उस तालुका के क्षेत्र में आने वाली स्थानीय जन-समितियों द्वारा किया जायेगा। प्रत्येक जिले के स्तर पर एक जिला जन-समिति होगी, जिसके सदस्यों का निर्वाचन उस जिला-क्षेत्र में आने वाली तालुका जन-समितियों द्वारा किया जायेगा। प्रत्येक तालुका जन-समिति अपने से सम्बन्धित जिला जन-समिति के लिए 5 प्रतिनिधियों का चुनाव करेगी।

प्रत्येक प्रान्त के सामान्य प्रशासन के लिए उसकी प्रान्तीय जन-समिति का गठन किया जायेगा। इसके सदस्य उस प्रान्त का गवर्नर तथा जन-प्रतिनिधि होंगे, जिनका चुनाव उस प्रान्त की समस्त जनता द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर किया जायेगा। गवर्नर का चुनाव पाँच वर्ष के लिए किया जायेगा तथा जन-प्रतिनिधियों का चुनाव चार वर्ष के लिए होगा। प्रान्तीय जन-समिति के पास प्रान्तीय शासन से सम्बन्धित विधायी व कार्यपालिका शक्तियाँ होंगी।

सम्पूर्ण राष्ट्र के सामान्य प्रशासन का कार्य सर्वोच्च जन-समिति द्वारा किया जायेगा। सर्वोच्च जन-समिति का निर्माण गर्वनर जनरल तथा दो सभाओं द्वारा होगा। इन सभाओं के नाम हैं-संघीय सभा तथा राज्य सभा। गवर्नर जनरल का चुनाव सम्पूर्ण राष्ट्र की जनता द्वारा

वयस्क मताधिकार के आधार पर पाँच वर्ष के लिए किया जायेगा। संघीय सभा के सदस्यो (जन-प्रतिनिधियो) का चुनाव सम्पूर्ण राष्ट्र की जनता द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर वर्ष के लिए किया जायेगा। राज्य सभा का गठन विभिन्न प्रान्तों द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा होगा। सभी प्रान्तों को समान संख्या में प्रतिनिधि निर्वाचित करने का अधिकार प्राप्त होगा। रॉय राज्य सभा में विशिष्ट व्यावसायिक समूहों एवं बौद्धिक वर्ग को स्थान देने के समर्थक हैं। प्रान्त की प्रान्तीय जन-समिति चिकित्सकों, इन्जीनियरों, वैज्ञानिकों, वकीलों आदि तकनीकी समूहों में से प्रत्येक समूह के दो-दो प्रतिनिधियों को चुनकर राज्य सभा में भेजेगी। प्रकार राज्य सभा के गठन में व्यावसायिक लोकतन्त्र के सिद्धान्त को स्वीकारा गया है।

रॉय ने प्रान्तीय एवं राष्ट्रीय स्तर पर सत्ता के दुरुपयोग को रोकने के लिए विभिन्न सुझाव दिये हैं। उन्होंने प्रान्तीय जन-समिति के सन्दर्भ में स्थानीय जन-समितियों गे प्रत्याह्वान (Recall) तथा विधि पर लोक-मत संग्रह (Referendum) का अधिकार दिया है।

रॉय ने अपनी बुनियादी लोकतन्त्र की अवधारणा के अन्तर्गत जिस राष्ट्रीय संघ के निर्माण का सुझाव दिया है, वह अपनी प्रकृति से एक परिसंघ (Confederation) है । इसकी इकाइयों को संघ के परित्याग का अधिकार प्राप्त होगा। इस प्रकार राष्ट्रीय प्रशासन का संचालन संघ की इकाइयों की सहमति एवं सहयोग से किया जायेगा।

5. संक्रमणकालीन व्यवस्था

रॉय इस तथ्य से अवगत थे कि दलीय राजनीति को, दलविहीन प्रजातन्त्र में बदलना तत्काल सम्भव नहीं है। वे यह जानते थे कि राजनीति का यह मौलिक रूपान्तरण धीरे -धीरे ही किया जा सकता है। रॉय ने सुझाव दिया कि दलविहीन प्रजातन्त्र की स्थापना हो पाने के पूर्व संक्रमणकालीन अवस्था में तानाशाही की अपेक्षा संसदीय प्रजातन्त्र ही अधिक उपयुक्त होगा। उन्होंने सुझाव दिया कि संक्रमणकाल में संसदीय प्रजातन्त्र के दोषों का धीरे-धीरे निवारण करने का प्रयास किया जायेगा। उनका मत था कि संक्रमणकाल में शासन के पदों पर, विवेकशील सृजनात्मक क्षमतों के धनी, निष्ठावान और नैतिक मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध लोगों को प्रतिष्ठित करके संसदीय प्रणाली के स्वरूप में सुधारों को सम्भव बनाया जा सकता है। इस संक्रमण काल में जन समितियों का संगठन किया जायेगा और इनके माध्यम से स्थानीय जनता स्थानीय विषयों से सम्बन्धित समस्त राजनीतिक, प्रशासनिक, सामाजिक एवं आर्थिक शक्तियों का प्रयोग करेगी । रॉय के अनुसार संक्रमण-काल में बुनियादी लोकतन्त्र की स्थापना के लिए अग्रलिखित दो दिशाओ में विशेष प्रयत्न करने की जरूरत होगी- (1) लोक-शिक्षण, तथा (2) आर्थिक पुन: नियोजन ।

(i) लोक शिक्षण

लोक शिक्षण का अर्थ सम्पूर्ण जनता को मात्र साक्षर बनाने से या इसे परम्परागत ढंग से शिक्षित करने से नहीं है, अपितु जनता के विवेक एवं उसकी रचनात्मक शक्तियों को जागृत करने से है। रॉय के अनुसार लोक शिक्षण एक ऐसी वैचारिक क्रान्ति का नाम है, जो व्यक्ति को उसकी स्वतन्त्रता, गरिमा एवं अधिकारों के साथ ही उसे सार्वजनिक कर्त्तव्यों एवं दायित्वों के प्रति भी जागृत एवं सक्रिय बनाती है। यह व्यक्ति की रचनात्मक क्षमताओं एवं सहयोग मूलक

प्रवृत्तियों को विकसित करती है। लोक शिक्षा व्यक्ति को एक ओर निजी स्वतन्त्रता व सम्प्रभुता की रक्षा की प्रेरणा देती है और दूसरी ओर उसे सार्वजनिक (सामुदायिक) हित के साथ इनका ताल-मेल स्थापित करने की प्रेरणा भी देती है।

(ii) आर्थिक पुन: नियोजन

रॉय के अनुसार बुनियादी लोकतन्त्र की स्थापना तभी सम्भव है समाज में इसके लिये उपयुक्त आर्थिक परिस्थितियाँ विद्यमान हों। उनका स्पष्ट मत था कि जब तक आर्थिक असमानता, आर्थिक शक्तियों का कुछ हाथों में केन्द्रीयकरण और शोषण विद्यमान है तब तक सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना सम्भव नहीं है। धीरे- धीरे अर्थव्यवस्था को इस प्रकार रूपान्तरित किया जाना चाहिये कि उसमें केन्द्रीयकरण और शोषण की सम्भावनाएं कम होती जाएं और समुदाय के प्रत्येक सदस्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति को सुनिश्चित किया जा सके। इस रूपान्तरित अर्थव्यवस्था में उत्पादन और वितरण मानवीय आवश्यकताओं के अनुसार होना चाहिये। इस दृष्टि से उन्होंने अर्थव्यवस्था के सामाजिक नियोजन पर बल दिया; किन्तु उन्होंने इस विषय में भी सतर्क रहने का सुझाव दिया कि नियोजन के नाम पर, व्यक्ति की स्वतन्त्रता और स्वायत्तता का हनन नहीं किया जाये। उन्होंने कहा "नया समाज, विवेक और ज्ञान पर आधारित होगा। अत: स्वाभाविक रूप से नियोजित होगा, किन्तु नियोजन में व्यक्ति की स्वतन्त्रता को प्रमुख उद्देश्य माना जायेगा।"

इस प्रकार रॉय का 'संगठित लोकतन्त्र' प्रत्यक्ष तथा विकेन्द्रित लोकतन्त्र था, जिसमें रॉय ने राजनीतिक दलों के लिए कोई स्थान नहीं रखा था। राय ने बताया कि छोटे-छोटे सहकारी संगठनों के द्वारा आधुनिक राज्यों में यह प्रत्यक्ष लोकतन्त्र स्थापित किया जा सकता है। इस व्यवस्था में शक्ति जनता के हाथों में रहेगी और जनता ही शासन कार्य में भाग लेकर इसका नियन्त्रण करेगी।

रॉय की संगठित लोकतन्त्र की योजना और विनोबा, जयप्रकाश नारायण, आदि सर्वोदयी विचारकों की विचारधारा में बहुत कुछ समानता है। सर्वोदयी विचारक भी राजनीति को समाज के सभी रोगों का मूल कारण मानते हुये राजनीति के स्थान पर लोकनीति को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं, राजनीतिक-आर्थिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण करना चाहते हैं तथा गांवों को स्वशासी और आत्मनिर्भर इकाइयां बनाना चाहते हैं। राय की लोकतान्त्रिक व्यवस्था का चित्र भी ऐसा ही है। रॉय और सर्वोदयी विचारक, दोनों ही राजनीतिक दलों की व्यवस्था को समाप्त करने पर बल देते हैं। रॉय और सर्वोदयी विचारकों की योजना में मुख्य अन्तर यही है कि रॉय स्वायत्तशासित ग्राम गणराज्य के स्थान पर जन समितियों को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं।

बोध प्रश्न-3

प्रश्न : मौलिक लोकतंत्र की अवधारणा को समझाइए?

उत्तर: .....

.....

15.3.4 मानवेन्द्र नाथ रॉय की नवीन मानववाद की संकल्पना

एम.एन. रॉय के राजनीतिक चिन्तन का सर्वश्रेष्ठ रूप उनकी नवीन मानववाद की अवधारणा में दिखाया है, यह उनके समस्त चिन्तन का सार एवं निष्कर्ष है। यद्यपि मानवाद का आधुनिक काल तक विभिन्न रूपों में विकास हुआ है, किन्तु रॉय ने पहले के मानववाद से अपनी इस अवधारणा को मूलत: भिन्न बताया है। उन्होंने अपनी मानववाद की अवधारणा के विशिष्ट लक्षणों के आधार पर इसे विभिन्न नाम दिये हैं; जैसे- मौलिक या प्रबुद्ध मानववाद (RadicalHumanism) नव मानववाद (New Humanism) सम्पूर्ण मानववाद (Integral Humanism), वैज्ञानिक मानववाद (Scientific Humanism) आदि। रॉय ने अपना नवीन मानववादी दर्शन मुख्यत: रेडिकल ह्यूमेनिज्य' नामक पुस्तक में दिया है। इस दर्शन की दृष्टि से उनकी एक अन्य प्रमुख रचना है- 'नयू ह्यूमेनिज्य एण्ड पॉलिटिक्स'।

रॉय से पहले समस्त मानववादी चिन्तन को मुख्यत: दो में बाँटा जा सकता है- आध्यात्मिक मानववादी तथा भौतिक (पदार्थवादी) मानववादी चिंतन। रॉय का मत है कि प्राचीन काल से आधुनिक युग तक इन दोनों प्रकार के मानववादी विचारकों ने मानव प्रकृति, उसकी समस्याओं एवं उसके कल्याण के बारे में पर्याप्त चिन्तन किया है, किन्तु उन्होंने के स्वतन्त्र अस्तित्व को नहीं स्वीकारा है। इसलिए मानव को केन्द्रीय स्थान नहीं मिला, वे रूप से मानव की सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार नहीं कर सके। वस्तुत: काण्ट जैसे आध्यात्मिक चिन्तकों ने सृष्टि की आध्यात्मिक सत्ता (परा-सत्ता) की व्यवस्था के एक अंग के रूप में पर विचार किया है और मानव के अस्तित्व पर ईश्वरीय विधि एवं दैवी नैतिकता के बन्धन को मान्यता दी है और मार्क्स जैसे भौतिक मानववादी विद्वान ने द्वन्दात्मक भौतिकवादी दर्शन के आधार पर मानव कल्याण आर्थिक नियमों के द्वारा माना है जिन पर मानव का कोई नियन्त्रण नहीं है। मार्क्सवाद वह मानव के भौतिक कल्याण को तो सुनिश्चित करता है, किन्तु आर्थिक कारकों से अलग जीवन के अन्य कारक जैसे नैतिक कारकों की अवहेलना की है। इसलिए उन सभी के चिन्तन में को केन्द्रीय स्थान भी नहीं मिल पाया है और वे अन्तिम रूप से मानव को अपने भाग्य (नियति) का निर्माता भी नहीं स्वीकार पाये हैं।

रॉय के अनुसार पश्चिमी व्यक्तिवाद में व्यक्ति की स्वतंत्रता पर राज्य तथा समाज द्वारा किए जाने वाले अतिक्रमणों का तो विरोध किया गया, किन्तु इसमें व्यक्ति आर्थिक स्वतंत्रता के महत्व की उपेक्षा की गई। रॉय का मत था कि आर्थिक अभावों से मुक्त, आत्मनिर्भर व्यक्ति ही वस्तुत: स्वतंत्रता का उपयोग करने में सक्षम हो सकता है।

अरविन्द, रवीन्द्रनाथ टैगौर तथा गाँधी जैसे विचारकों के को भी रॉय पूर्ण अर्थ में मानवतावादी नहीं मानते। इस 'आध्यात्मिक मानवतावादियों' के बारे में रॉय का मत है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व को स्वतंत्र मानने की अपेक्षा वे उस पर आध्यात्मिकता प्रतिबंध का लगा देते हैं। रॉय का आरोप है कि गाँधी जैसे विचारकों के चिन्तन में आध्यात्मवाद की के कारण व्यक्ति के स्वतंत्र अस्तित्व की उपेक्षा हो गई है। गाँधी के अनुसार व्यक्ति परमात्मा का अंश' मात्र है, तथा उसके जीवन का अन्तिम लक्ष्य परमात्मा में विलीन हो जाने में ही निहित है।

रॉय मानना है कि ईश्वर और आध्यात्मिक सत्ता के वर्चस्व के कारण गाँधी मनुष्य की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार नहीं करते है।

रॉय का मत है कि उन्होंने पहली बार मानववादी दर्शन में मानव को केन्द्रीय एवं मौलिक स्थान दिया है। रॉय ने मानव पर किसी परा-सत्ता या अति प्रकृतिक सत्ता जैसे किसी बाह्य अधिबन्धन को मान्यता नहीं दी है। उनके अनुसार मानव स्वयं अपना केन्द्र है, वह पूर्ण स्वतन्त्र है और अपने भाग्य का स्वयं ही निर्माता है।

मानवेन्द्र नाथ रॉय के इस नवीन मानववाद की निम्नलिखित विशेषताएं हैं :

(1) मानव सम्पूर्ण जीवन का मूल और प्रत्येक वस्तु का मापदण्ड है:

नवीन मानववाद के अनुसार, 'मनुष्य की मानव जाति का मूल - तथा प्रोटेगोरस के इस विचार को स्वीकार करता है कि 'मनुष्य ही प्रत्येक वस्तु का मापदण्ड।' पहले कथन का आशय है कि मानव जीवन अपने आप में पूर्ण है अत: मानव को किसी बाहरी और' अति प्राकृतिक सत्ता का आश्रय लेने की न तो कोई आवश्यकता है और न ही इसका कोई औचित्य है। दूसरे कथन के अनुसार जो कि विख्यात यूनानी दार्शनिक प्रोटेगोरस का है, रॉय ने माना है कि प्रत्येक वस्तु के मूल्यांकन का आधार यही हो सकता है कि वह मानव जीवन को रूप से प्रभावित करती है। रॉय के अनुसार, मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है और उसमें इतनी क्षमता है कि वह विश्व को आज की तुलना में श्रेष्ठ और सुन्दर बना सके। रॉय का कहना कि हम सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रों और ग्रहों, आदि के अध्ययन में रुचि भले ही लेकिन हमें यह नहीं मानना चाहिए कि ये नक्षत्र हमारे भाग्य के निर्धारक हैं अथवा हमारे चरित्र या क्षमता पर इनका कोई प्रभाव पड़ता है।

मानवेन्द्र नाथ रॉय के अनुसार मानव की दृष्टि से स्वयं मानव ही सर्वश्रेष्ठ है। अत: संसार की अन्य सभी वस्तुओं के महत्त्व को केवल मानव के सन्दर्भ में ही प्रकट किया जा सकता है। एक मानव के रूप में हमारा सम्बन्ध केवल उन वस्तुओं से हो सकता है, जो हमारे जीवन को प्रभावित करती है। रॉय का मत है कि ईश्वर, निरपेक्ष प्रज्ञा, दैवी विधान आदि कोई अस्तित्व नहीं है और इसलिए वे हमारे जीवन को प्रभावित भी नहीं करते हैं। अत: मनुष्य का इनसे कोई सम्बन्ध भी नहीं है और उनका अध्ययन भी नहीं किया जाना चाहिए। मानव किसी बाह्य सत्ता के कारण नहीं अपितु, अपनी स्वयं की प्रकृति से नैतिक प्राणी है। रॉय के अनुसार यह एक ऐसा तथ्य है जिसे विज्ञान की मदद से सिद्ध किया जा सकता है। मानव का स्वयं का महत्त्व है, समाज का या राज्य का नहीं। वास्तव में मानव स्वयं अपना साध्य है, अन्य सभी साधन मात्र है। सभी सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक संस्थाओं की रचना स्वयं मानव ने की है, अत: इनका महत्त्व केवल मानव के ही सन्दर्भ में है; संक्षेप में ये सभी मानव के लिए हैं, मानव इनके लिए नहीं है। मानव स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। उल्लेखनीय है कि 'मानव प्रत्येक वस्तु का मापदण्ड है' - प्रोटेगोरस के इस कथन को विकसित करते हुये ही रॉय ने यह कहा कि 'मानव-मानव जाति का मूल है। इस प्रकार रॉय का सम्पूर्ण ध्यान संसार की वास्तविकता पर है, वे ईश्वर के अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं करते हैं और मनुष्य को भाग्यवाद के स्थान पुरूषार्थ के हाथों समर्पित करते हैं।

2. मानवीय विवेक में विश्वास:

रॉय के अनुसार विवेकशीलता मानव स्वभाव का सहज लक्षण है। मानव का स्वभाव एक विकासशील प्रवृत्ति है। अंधविश्वास, जादू-टोना और प्राकृतिक धर्म के प्रति झुकाव, मनुष्य के स्वभाव की अविकसित अवस्था की ओर संकेत करते हैं। रॉय के अनुसार जैसे-जैसे मनुष्य ने प्राकृतिक तत्वों व विश्व के प्रति अपना ज्ञान बढ़ाया और नवीनतम वैज्ञानिक अनुसंधान होते गये, अंध-विश्वास और लौकिक क्रियाकलाप के पारलौकिक व दैवीय कारण खोजने की प्रवृत्ति कम होती गयी है और मनुष्य के विश्वास की अपेक्षा 'विवेकशीलता प्रबल होती गयी है।

3. मानव स्वभाव से विवेकशील एवं नैतिक प्राणी है:

रॉय ने इस बात का खण्डन किया कि मनुष्य स्वभावत: स्वार्थी है, अथवा वह आध्यात्मिक और सामाजिक बाध्यताओं के अधीन ही नैतिक आचरण करता है। रॉय ने जिस नैतिकता का प्रतिपादन किया उसका आधार आध्यात्मवाद नहीं था और इसलिए उनका कहना था कि नैतिकता कोई अति-मानवीय (Super Human) तथा बाह्य वस्तु न होकर एक आन्तरिक शक्ति है जिसका पालन मनुष्य को ईश्वरीय अथवा प्राकृतिक भय से नहीं अपितु समाज कल्याण की भावना से करना चाहिए। राय ने यह विश्वास प्रकट किया कि नैतिकता के अभाव में हम मनुष्य की कल्पना नहीं कर सकते। समाज का आधार जितना अधिक नैतिकवादी और बुद्धिवादी होगा, मानव व्यक्तित्व के विकास पर लगे हुए प्रतिन्बध उतने ही अधिक शिथिल अथवा समाप्त हो जायेंगे और उसे उतनी ही अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकेगी। समाज का पुनर्निर्माण प्रार्थना, जादू-टोना या अंधविश्वास के आधार पर नहीं किया जा सकता बल्कि बुद्धिवादिता और वैज्ञानिक साधनों के प्रयोग पर ही किया जा सकता है।

रॉय ने मनुष्य के स्वभाव की व्याख्या जीवशास्त्रीय आधार पर की। उनके अनुसार मानव स्वभाव निरन्तर विकासमान है। उसमें निम्न से उच्च स्तर की ओर प्रगति करते हुए पूर्ण मानवीय स्तर तक विकास की प्रवृत्ति सदैव विद्यमान रही है। प्रत्येक जीवित तत्व, जाने-अनजाने अधिकतम संभव स्वतंत्रता प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। उनके शब्दों में 'अस्तित्व के लिये संघर्ष नकारात्मक अर्थ में स्वतंत्रता की खोज ही है। " रॉय के अनुसार विवेक, नैतिकता और स्वतंत्रता मानव स्वभाव की तीन शाश्वत विशेषताएं हैं।

4. मानववाद का आधार तत्व स्वतन्त्रता:

राय के मानववाद का आधार तत्व स्वतन्त्रता है और राय ने स्वतन्त्रता, के तीन आधार स्तम्भ बताए हैं मानववाद, व्यक्तिवाद और विवेकवाद। रॉय ने मनुष्य के और आत्म-सुरक्षा के लिए स्वतन्त्रता को आवश्यक माना है। उनका मानववाद मानव मात्र को का संदेश देता है। मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है, अत: वह स्वतन्त्रता की कामना करता है स्वतन्त्रता के मार्ग में अनेक बाधाएं और कठिनाइयां आती हैं धर्म ने अपना बुद्धिवादी चरित्र अपनी कठोरता और कट्टरता से मानव स्वतन्त्रता और मानव सभ्यता को बड़ा आघात पहुंचाया है।। इसी प्रकार परिवार राज्य और कानून, आदि विभिन्न सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं ने भी रूढ़िवादी और परम्परागत रवैये से हमारे दृष्टिकोण को संकीर्ण और स्वार्थपूर्ण बनाकर स्वतंत्रता के मार्ग में बाधाएं खड़ी की हैं।

रॉय के अनुसार स्वतन्त्रता मानव जीवन का सर्वोच्च सद्गुण है, क्योंकि वस्तुत: स्वतन्त्रता की आकांक्षा ही मानव के अस्तित्व का सार है। रॉय की मान्यता है कि स्वतंत्र मानव की समतामय और न्यायनिष्ठ समाज की स्थापना का आधार बन सकते हैं। मानव की स्वतंत्रता स्वच्छन्दता या स्वतन्त्रता के मर्यादाहीन उपयोग की अनुमति नहीं देता। उनके अनुसार व्यक्ति की स्वतन्त्रता में सामाजिक व्यवस्था की सुदृढ़ता और समुदाय के सदस्यों के हितों की पूर्ति स्वाभाविक रूप से अन्तर्निहित हैं। व्यक्ति की स्वतन्त्रता के दो पक्ष सामने आते हैं- स्वतन्त्रता का वैयक्तिक पक्ष तथा स्वतन्त्रता का सामाजिक पक्ष। मानव विवेक के अनुसार सामाजिक स्वतन्त्रता वेयक्तिक स्वतंत्रता का ही बड़ा रूप है, अत: व्यक्ति का विवेक सामाजिक स्वतन्त्रता के पक्ष में व्यक्ति को अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता को मर्यादित एवं सीमित करने की प्रेरणा देता है। रॉय के अनुसार। नवीन मानववाद एक ऐसी स्वतन्त्र समाज व्यवस्था की स्थापना का विचार है, जिसमें व्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्र हो। उनका मत है कि ऐसे स्वतन्त्र समाज की प्राप्ति केवल मौलिक लोकतंत्र की मदद से ही की जा सकती है।

5. विश्व-बंधुत्व पर आधारित विश्ववाद का समर्थन:

रॉय अपने राजनीतिक चिन्तन के प्रारम्भिक दौर में राष्ट्रवादी थे, किन्तु बाद में वे अर्न्तराष्ट्रवाद से अत्यधिक प्रभावित हुये। उन्होंने अपने चिन्तन के अन्तिम चरण में नव-मानववाद की अवधारणा को प्रस्तुत किया और इसके साथ ही अन्तर्राष्ट्रवाद (Internationalism) के स्थान पर विश्ववाद (Cosmopotitanism) का विचार प्रस्तुत किया।

रॉय ने 'विश्व राज्यवाद तथा अन्तर्राष्ट्रवाद के बीच भेद किया है। अन्तर्राष्ट्रवाद में पृथक् राष्ट्रीय राज्यों के अस्तित्व का विचार निहित है और अन्तर्राष्ट्रवाद इन पृथक् राज्यों के बीच भाई-चारे तथा शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की स्थिति का नाम है, लेकिन विश्व राज्यवाद की स्थापना इन राष्ट्रीय राज्यों का निराकरण करके ही की जा सकती है। विश्व राज्यवाद तो समस्त विश्व के मानवों के साथ सीधे जुड़ा हुआ है। यह तो विश्व के विभिन्न राज्यों के बीच नहीं, वरन् विश्व के समस्त मानवों के बीच बन्धुत्व की स्थिति का नाम है। रॉय के अनुसार राष्ट्रवाद एक संकीर्ण विचारधारा है जो मानव-मात्र की विश्वव्यापी एकता के मार्ग में बाधा है। उन्हेंने राष्ट्रीय राज्यों की सीमाओं से परे, स्वतन्त्र स्त्रियों और पुरूषों के सार्वभौम समुदाय की कल्पना की।। रॉय ने अपने नवीन मानववाद को कठोरता की परिधि में नहीं बाँधा है वरन् उसे बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप विकसित होने वाला सिद्धान्त बताया है।

बोध प्रश्न- 4

प्रश्न: नवीन मानववाद से आप क्या समझते हो?

उत्तर :.....

.....

15.4 सारांश

मानवेन्द्र नाथ रॉय का आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन में विशिष्ट स्थान है। रॉय का राजनीतिक चिंतन लम्बी वैचारिक यात्रा का परिणाम है। वे किसी विचारधारा से बंधे हुए नहीं रहे। उन्होंने विचारों की भौतिकवादी आधारभूमि और मानव के अस्तित्व के नैतिक प्रयोजनों के

मध्य समन्वय करना आवश्यक समझा। जहाँ उन्होंने पूँजीवादी व्यवस्था की कटु आलोचना की, वहीं मार्क्सवाद की आलोचना में भी पीछे नहीं रहे। रॉय ने सम्पूर्ण मानवीय दर्शन की खोज के प्रयत्न के क्रम में यह निष्कर्ष निकाला कि विश्व की प्रचलित आर्थिक और राजनीतिक प्रणालियाँ मानव के समग्र कल्याण को सुनिश्चित नहीं करतीं। पूँजीवाद, मार्क्सवाद, गाँधीवाद तथा अन्य विचारधाओं में उन्होंने ऐसे तत्वों को ढूंढ निकाला जो किसी न किसी रूप में मानव की सत्ता, स्वतंत्रता, तथा स्वायत्तता पर प्रतिबन्ध लगाते हैं।

रॉय ने अपने नवीन मानववादी दर्शन से मानव को स्वयं अपना केन्द्र बताकर मानव की स्वतंत्रता एवं उसके व्यक्तित्व की गरिमा का प्रबल समर्थन किया है। वस्तुत: बीसवीं सदी में फासीवादी तथा साम्यवादी समग्रतावादी राज्य-व्यवस्थाओं ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं व्यक्तित्व का दमन किया और उदारवादी लोकतन्त्र में मानव-कल्याण के नाम पर निरन्तर बढ़ती केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति से सावधान किया। रॉय ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं व्यक्तित्व की गरिमा के पक्ष में जो उग्र बौद्धिक विचार दिये हैं, उनका आधुनिक युग के लिए विशिष्ट महत्त्व है।

15.5 अभ्यास कार्य

1. मार्क्सवाद के प्रति मानवेन्द्र नाथ रॉय के दृष्टिकोण की विवेचना कीजिए।
2. गाँधीवाद के प्रति मानवेन्द्र नाथ रॉय की प्रतिक्रिया एवं दृष्टिकोण स्पष्ट कीजिए।
3. मानवेन्द्र नाथ रॉय की मौलिक लोकतन्त्र की अवधारणा पर प्रकाश डालिए।
4. मानवेन्द्र नाथ रॉय के नवीन मानववाद के सिद्धान्त की विवचेना कीजिए।

15.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डा. विश्वनाथ प्रसाद वर्मा : आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, 1971 ।
2. डा पुरूषोतम नागर : आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1999 (छठा संस्करण) ।
3. एम.एन. रॉय : पोलिटिक्स, पावर एण्ड पार्टीज, अजन्ता, नई दिल्ली, 1981
4. मेहता वी.आर : फाउन्डेशन्स ऑफ इंडियन पोलिटिकल थॉट, मनोहर, नई दिल्ली, 1992 ।
5. एम.एन. रॉय : इंडिया इन ट्रांजिशन, नचिकेता नई दिल्ली, 1971

इकाई- 16

जयप्रकाश नारायण

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 जयप्रकाश नारायण की रचनाएं

16.3 जयप्रकाश नारायण के विचार

16.3.1 समाजवादी विचार

16.3.2 राजनीतिक विचार

16.3.3 लोकनीति

16.3.4 सम्पूर्ण क्रान्ति की अवधारणा

16.3.5 विश्व समाज(जय जगत) की अवधारणा

16.4 सारांश

16.5. अभ्यास प्रश्न

16.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

16.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान पयेंगे-

जय प्रकाश नारायण का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

1. गाँधीवादी विचारधारा के अन्तिम उत्तराधिकारी के विचार
2. समाजवाद की विभिन्न विचारधांएं
3. जयप्रकाश नारायण के राजनीतिक चिंतन, एवं
4. सम्पूर्ण क्रान्ति और विश्व समाज (जय जगत) जैसी अवधारणाएं

16.1 प्रस्तावना

प्रत्येक विचारक अपने समय और परिस्थितियों का शिशु होता है उसी प्रकार जयप्रकाश नारायण के विचारों और कार्यो पर विभिन्न परिस्थितियों, विचारों का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। जयप्रकाश नारायण ने अपनी विचारधारा एक मार्क्सवादी विचारक के में आरम्भ की परन्तु भारतीय परिस्थितियों के लिए लोकतांत्रिक समाजवाद को उचित समझा। गाँधी की मृत्यु के बाद गाँधीवादी विचारधारा से प्रभावित हुए जीवन के अन्तिम चरण में सम्पूर्ण क्रान्ति और विश्व समाज जैसी अवधारणाओं का विकास किया।

जयप्रकाश नारायण का जन्म 11 अकटूबर, 1902 को बिहार के एक गाँव सिताव दयारा (जिला- सारंग) में हुआ था। उनके पिता का नाम हरसूलदयाल और माता का नाम फूलरानी देवी था। हरसूल दयाल नहर विभाग में सरकारी अधिकारी थे, किन्तु शान्त एवं सादगी

स्वभाव के संस्कारवान और राष्ट्रवादी विचारों के व्यक्ति थे। फूलरानी देवी सरल स्वभाव की धार्मिक प्रवृत्ति की घरेलू महिला थी। 1920 में उनका विवाह प्रभावती देवी से हुआ। उनका निधन 08 अक्टूबर 1979 को पटना में हुआ।

16.2 जयप्रकाश नारायण की रचनाएं

1. व्हाई सोशलिज़्म? (Why Socialism?)
2. ट्वर्डस स्ट्रगल (Towards struggle)
3. 3.सोशलिज्य सर्वोदय एण्ड डेमोक्रेसी (Socialism, Sarvodya and Democaracy)
4. फ्रॉम सोशलिज़्म दू सर्वोदय (From socialism to Sarvodaya)
5. माई पिक्चर ऑफ सर्वोदय सोशल आर्डर (My Picture for Sarvodaya social order)
6. स्वराज्य फोर द पीपुल (Swaraj for the People)
7. पीपुल्स वोलिण्ट्री एक्टिविटी (The People voluntary acitivity)
8. ए प्लान फोर रिकन्सट्रक्शन ऑफ इण्डियन पॉलिटी (A Plan for Reconstruction of Indian polity)
9. दी प्रिजन डायरी (The Prison Diary)
10. क्रान्ति का आधुनिक प्रयोग

16.3 जयप्रकाश नारायण के विचार

जयप्रकाश नारायण के विचार तत्कालीन समय एवं परिस्थितियों से प्रभावित थे। कभी सीधी रेखा की तरह विचार एक समान नहीं रहे। उन्होंने अपने जीवन का आरम्भ एक साम्यवादी के रूप में किया परन्तु साम्यवादी विचारधारा से गुजरते हुए लोकतांत्रिक, समाजवादी, गाँधीवादी और सर्वोदयवादी विचारधारा एवं सम्पूर्ण क्रान्ति प्रवर्तक के रूप में उन्होंने अपना जीवन पूरा किया। उनके विचार निम्नलिखित हैं

16.3.1 समाजवादी विचार

समाजवाद के बहुत से रूप हैं - यूटोपियन, फेबियन, गिल्ड समाजवाद, श्रेणी समाजवाद, लोकतांत्रिक समाजवाद, राज्य समाजवाद, विकासवादी समाजवाद एवं वैज्ञानिक समाजवाद। जिनके अलग-अलग रूप और अलग-अलग विचार हैं। सी.ई.एम. जोड का कहना है कि समाजवाद उस टोप की तरह है जिसे इतने व्यक्तियों ने पहना है जिससे उसका स्वरूप ही नष्ट हो गया है।

जयप्रकाश नारायण भारतीय समाजवाद के प्रमुख नेता, प्रचारक और प्रवक्ता माने जाते हैं। महात्मा गाँधी उन्हें समाजवाद का सबसे बड़ा भारतीय विद्वान मानते थे। वे समाजवाद को सामाजिक-आर्थिक पुनर्निर्माण का एक सम्पूर्ण सिद्धान्त मानते थे। समाजवाद व्यापक नियोजन का सिद्धान्त तथा कार्यप्रणाली है। उससे समाज के सम्पूर्ण पुनर्निर्माण की धारणा निहित है।

उसका उद्देश्य सम्पूर्ण समाज का "सामंजस्यपूर्ण तथा सन्तुलित विकास" है। समाजवाद के सम्बन्ध में उनके विचार निरन्तर परिवर्तनशील रहे। उन्होंने समाजवादी विचार की मार्क्सवादी समाजवाद से प्रारम्भ की। उसका भारतीय परिस्थितियों के अनुसार संशोधन और किया। इस परिवर्तन की निरन्तर प्रक्रिया में उन्होंने मार्क्सवाद से लोकतांत्रिक समाजवाद व सर्वोदय के रूप में गाँधीवादी समाजवाद तक की चिन्तन यात्रा पूरी की। इस प्रकार स्पष्ट है जयप्रकाश नारायण के समाजवादी चिन्तन की यात्रा को तीन खण्डों में विभाजित करके देखा जा सकता है।

I मार्क्सवादी समाजवाद

II मार्क्सवाद के प्रति मोह भंग व असहमति

III लोकतांत्रिक समाजवाद।

IV गाँधीवादी समाजवाद या सर्वोदय।

I मार्क्सवादी समाजवाद

जयप्रकाश नारायण के विचारों पर मार्क्सवाद का गंभीर प्रभाव था। उन्हें समाजवाद की प्रेरणा कार्लमार्क्स से मिली और मार्क्सवाद में उनकी अटूट निष्ठा रही क्योंकि जयप्रकाश नारायण ने मार्क्सवाद को ही समाजवाद का वास्तविक रूप माना था। कार्लमार्क्स को आधुनिक समाजवाद का जनक माना जाता है। मार्क्सवादी समाजवाद को उन्होंने न्याय पर सामाजिक-आर्थिक एवं राजनीतिक पुनर्निर्माण का पूर्ण सिद्धान्त माना। उन्होंने के सिद्धान्त-द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या, वर्ग संघर्ष की धारणा, मूल्य का सिद्धान्त, निजी सम्पत्ति का अन्त या सम्पत्ति का समाजीकरण की धारणा का समर्थन किया।

1934 में उन्होंने भारतीय कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना की। मार्क्सवादी सिद्धान्तों को साकार रूप देने के लिए समाजवादी दल की नीतियों और कार्यक्रमों में सिद्धान्त शामिल किये। ये कार्यक्रम निम्नलिखित हैं।:

1. उत्पादक जनता को सारी सत्ता का हस्तान्तरण।
2. देश के आर्थिक जीवन का राज्य द्वारा नियोजित एवं नियंत्रित।
3. उत्पादन, वितरण एवं विनिमय के सभी साधनों के समाजीकरण दृष्टि से, आधारभूत एवं प्रमुख उद्योगों (जैसे- इस्पात, कपास, पटसन, रेलवे, नौवहन, बागवान और खदान, बैंक, बीमा एवं सार्वजनिक सेवाओं का समाजीकरण)
4. विदेशी व्यापार पर राजकीय एकाधिकार की स्थापना।
5. आर्थिक जीवन के समाजीकृत क्षेत्र में उत्पादन, वितरण एवं ऋण सम्बन्धी सहकारी समितियों का संगठन।
6. राजाओं और जमींदारों तथा अन्य सभी शोषक वर्गो का बिना क्षतिपूर्ति उन्मूलन।
7. किसानों के बीच भूमि का पुनर्वितरण।
8. राज्य द्वारा सहकारी एवं सामूहिक कृषि को प्रोत्साहित करना उन्नत बनाना।
9. किसानों और मजदूरों द्वारा लिए गये ऋणों की समाप्ति।
10. श्रम करने या पोषण पाने के अधिकार को राज्य द्वारा मान्यता देना ।

11. 'आवश्यकता' के अनुसार दाम और योग्यता के अनुसार 'काम' के पर अन्ततः आर्थिक वस्तुओं का वितरण और उत्पादन।
12. व्यावसायिक आधार पर वयस्क मताधिकार।
13. राज्य द्वारा किसी धर्म को समर्थन नहीं देना, विभिन्न धर्मो के बीच भेदभाव नहीं करना और न जाति या सम्प्रदाय के आधार पर किसी भेदभाव को मानना।
14. राज्य द्वारा स्त्री- पुरूष के बीच भेदभाव नहीं करना।
15. भारत के तथाकथित सार्वजनिक ऋण की अस्वीकृति।

बोध प्रश्न- 1

प्रश्नः मार्क्सवादी समाजवाद से आप क्या समझते हो ?

उत्तरः .....

.....

I मार्क्सवाद के प्रति मोह-भंग व असहमति -

1940 में जयप्रकाश नारायण को मार्क्सवाद की पुन : समीक्षा करने की आवश्यकता महसूस हुई। उन्होंने राष्ट्रीय और मानवीय आधारों पर मार्क्सवाद की आलोचना की क्योंकि सोवियत संघ में स्टालिन ने जिस साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना की उसका आधार राजनीतिक आर्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण, नौकरशाही तथा हिंसात्मक कार्यवाही थी। इस स्थिति में वर्ग-विहीन एवं राज्यविहीन समाज की स्थापना के लक्ष्य को प्राप्त करना असम्भव हो गया जिसकी कल्पना मार्क्स ने की थी। भारतीय साम्यवादी दल अपनी नीति निर्धारण के मामले में स्वतंत्र नहीं था, अपितु वह तत्कालीन साम्यवादी विश्व के नेता स्टालिन के हाथों की कठपुतली मात्र था। जयप्रकाश नारायण साम्यवादी दल के आचरण एवं व्यावहारिक पक्ष के असन्तुष्ट थे इसलिए उन्होंने साम्यवादी समाजवाद को भारत के लिए उपयोगी नहीं माना।

बोध प्रश्न- 2

प्रश्नः मार्क्सवादी समाजवाद से मोह भंग क्यों हुआ? उत्तर एक लाइन मे देना ।

उत्तरः .....

.....

II लोकतांत्रिक समाजवादः

1940 के आते-आते जयप्रकाश नारायण का मार्क्सवादी समाजवाद के प्रति मोह भंग हो गया, लेकिन समाजवाद में उनका विश्वास बना रहा। उन्होंने समाजवाद को भारत की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों के अनुसार संशोधित करने का प्रयास किया। समाजवाद एक ऐसा जीवन दर्शन है जो स्वतन्त्रता, समानता और न्याय जैसे विवेकपूर्ण नैतिक मूल्यों पर आधारित है।

जयप्रकाश नारायण का मानना है कि लोकतंत्र और समाजवाद एक दूसरे के पूरक हैं। लोकतंत्र के बिना समाजवाद का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। अतः इस समाजवाद की अवधारणा में आर्थिक और राजनीतिक लोकतंत्र की धारणा है। इस प्रकार के समाजवाद में मानव न तो पूँजी का दास है और न किसी पार्टी का, न किसी राज्य का दास है, मानव का स्वतन्त्र

अस्तित्व है। लोकतांत्रिक समाजवाद शान्तिपूर्ण और धीरे-धीरे विकास में विश्वास रखता है। लोकतंत्र और समाजवादी सहगामी हैं।

जयप्रकाश नारायण के अनुसार समाजवाद की स्थापना लोकतंत्र और शान्तिपूर्ण साधनों के माध्यम से ही सम्भव है। लोकतांत्रिक स्वतन्त्रताओं के अभाव में समाजवाद जीवित नहीं रह सकता। लोकतान्त्रिक समाज में ही मानव की स्वतंत्रता, अवसरों की समानता और प्रत्येक नागरिक को अपने व्यक्तित्व के विकास के पूर्ण अवसर मिलेंगे।

जयप्रकाश नारायण के अनुसार समाजवाद में व्यक्ति की स्वतंत्रता सर्वप्रथम है। लोकतांत्रिक समाजवाद में लोकतांत्रिक साधन, शान्तिपूर्ण तकनीक और रचनात्मक कार्यक्रमों के द्वारा ही अपने उद्देश्य की प्राप्ति की जा सकती है। उन्होंने व्यक्ति की स्वतंत्रता और आर्थिक समानता के मध्य विवेक-सम्मत सन्तुलन स्थापित करना महत्वपूर्ण माना। जयप्रकाश नारायण का मानना है कि राष्ट्रीयकृत उद्योगों के प्रबन्ध में कार्मिकों और सामूहिक कृषि के प्रबन्धन में किसानों की भागीदारी होनी चाहिए। जिससे राजनीतिक एवं आर्थिक सत्ता का विकन्द्रीकरण होना चाहिए। भारत भारत में समाजवाद की स्थापना लोकतांत्रिक व शान्तिपूर्ण तरीके से ही सम्भव हो सकती है। उन्होंने समाजवाद की स्थापना के लिए राज्य को एक साधन व उपकरण के रूप में माना और राज्य के यन्त्र पर लोकतांत्रिक साधनों (लोकसत्ता) के माध्यम से नियंत्रण किया जाना चाहिए।

लोकतांत्रिक समाजवाद भारत की स्थितियों के अनुकूल था। भारत को स्वतंत्र कराने के लिए अहिंसक एवं लोकतांत्रिक (लोकशक्ति) तरीके अपनाये जा रहे थे। इन परिस्थितियों में भारत में लोकतांत्रिक प्रक्रिया के माध्यम से ही समाजवाद की स्थापना के को सबसे अच्छा माना। लोकतांत्रिक समाजवाद अपने आप में एवं औचित्यपूर्ण व्यवस्था थी।

बोध प्रश्न -3

प्रश्न: लोकतांत्रिक समाजवाद से आप क्या समझते हो ?

उत्तर: .....

.....

III गाँधीवादी समाजवाद या सर्वोदय

जयप्रकाश नारायण ने चिन्तन की विकास यात्रा में अनुभव किया कि वास्तविक समाजवाद की स्थापना हिंसा की शक्ति या राज्य की वैधानिक के माध्यम से सम्भव नहीं है। समाजवाद को तीसरी शक्ति (लोकशक्ति) जाग्रत करके ही लाया जा सकता है। 1948 में महात्मा गाँधी की मृत्यु के बाद जयप्रकाश नारायण के चिन्तन में पुन: करने का आत्म-अवलोकन की प्रक्रिया शुरू हुई। विनोबा भावे (जिन्हें महात्मा गाँधी का उत्तराधिकारी माना जाता है) के द्वारा संचालित भूदान-यज्ञ आन्दोलन ने जयप्रकाश नारायण चिन्तन का अत्यधिक प्रभावित किया।

प्रथम ऐशियाई समाजवादी सम्मेलन रंगून में जयप्रकाश नारायण ने कहा था कि "गाँधी के प्रेम और शान्ति के रास्ते से ही समाजवाद लाया जा सकता है। समाजवाद हमेशा ही मेरे

लिए जीवन जीने की कला है।" 1957 में उनका दलीय राजनीति के प्रति अविश्वास बढ़ा और राज्य के समाजवाद की जगह जनता के समाजवाद पर विचार करने लगे।

गाँधीवादी समाजवाद का उद्देश्य व्यक्ति और समाज के दृष्टिकोण में परिवर्तन करना, रूपान्तरण करना है। समाज के दृष्टिकोण में नैतिक मूल्यों को शामिल करना चाहते थे। लोकशक्ति का विकास करके समाज में सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक परिवर्तन करना चाहते थे। इस प्रकार के समाजवाद का उद्देश्य वर्ग-विहीन, शोषण विहीन एवं एक समतावादी समाज की स्थापना करना था। जिससे समाज के सभी सदस्यों में स्वतंत्रता, समानता, भाई-चारे की भावना विकसित हो सके।

गाँधीवादी समाजवाद में वर्गो की प्रतियोगिता व प्रतिद्वन्द्वता के लिए कोई स्थान नहीं है। समाज के वर्गो में संघर्ष के स्थान पर विवेकपूर्ण सहयोग और सामंजस्य ही इस समाजवाद में पवित्र साध्य के अनुरूप ही पवित्र साधनों के उपयोग को अनिवार्य मानता है। मानव समाजवाद के इस पवित्र साध्य की प्राप्ति के लिए नैतिक शक्ति के साधन को अपनाता है जो अहिंसा, करूणा, प्रेम तथा सहयोग पर आधारित है। जिसे जयप्रकाश नारायण ने "लोक शक्ति" की संज्ञा दी है। गाँधी का समाजवाद या सर्वोदय, साध्य-साधन की पवित्रता, मानवीय व नैतिक मूल्यों की सर्वोपरिता, सामाजिक, आर्थिक रूपान्तर के लिए लोकशक्ति का विकास तथा विकेन्द्रीकरण पर आधारित है।

जयप्रकाश नारायण के चिन्तन में महात्मा गाँधी एवं विनोबा भावे के विचारों का अद्भुत समन्वय देखने को मिलता है।

बोध प्रश्न- 4

प्रश्न : गाँधीवादी समाजवाद से आप क्या समझते हो ?

उत्तर: .....

.....

16.3.2 राजनीतिक विचार

जयप्रकाश नारायण व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं समानता में विश्वास करते हैं। इसके लिए लोकतंत्रवादी शासन व्यवस्था को उचित मानते हैं। जयप्रकाश नारायण की लोकतन्त्र की धारणा एक नैतिक लोकतंत्र की धारणा है। वर्तमान समय में लोकतंत्र की समस्या नैतिक मूल्यों की समस्या है। लोकतंत्र के लिए संविधान, शासन प्रणाली, राजनीतिक दलों एवं निर्वाचन इत्यादि सभी का अपना महत्व है। परन्तु जब तक नागरिकों में नैतिक एवं आध्यात्मिक गुणों का विकास नहीं हो जाता, तब तक कोई संविधान, शासन प्रणाली लोकतंत्र को सफल नहीं कर सकती।

वर्तमान लोकतंत्र में दलबन्दी सम्बन्धी झगड़े, स्वार्थो की राजनीति, दलों की आन्तरिक अनुशासनहीनता, अवसरवादिता, गठबंधन, भ्रष्टाचार और घूसखोरी का साम्राज्य है।

स्वतंत्रता के बाद भारत में राजनीतिक स्वतंत्रता तो मिल गयी लेकिन जनता की पराधीनता की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। उसका स्वरूप बदल गया है, शासक बदल गये

हैं, पुराने दिनों की भांति आज भी जनता की पराधीनता है। आम जनता के लिए कोई किसी प्रकार का स्वराज्य नहीं आया।

लोकतंत्र की सफलता के लिए आवश्यक है कि जनता नैतिक़ता का पालन करे क्योंकि नैतिकता और लोकतंत्र एक दूसरे के पूरक हैं। नैतिकता के अभाव में लकतंत्र का सफल क्रियान्वयन होना असम्भव है।

I पश्चिमी उदारवादी लोकतंत्र के सम्बन्ध में जयप्रकाश नारायण के विचार:

जयप्रकाश नारायण के अनुसार स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्वता, सहयोग, परोपकार, सेवा इत्यादि नैतिक मूल्य लोकतंत्र की आधारशिला है। पश्चिमी लोकतंत्र मै इन सभी मूल्यों का अभाव है। जयप्रकाश नारायण ने पश्चिमी लोकतंत्र की आलोचना निम्नलिखित आधारों पर की है:

1. पश्चिमी उदारवादी लोकतंत्र में नैतिक मूल्यों का अभाव है।
2. पश्चिमी संसदीय लोकतंत्र का एक मूलभूत दोष यह है कि इसमे व्यक्ति की व्यक्तिगत भूमिका पर बल दिया गया है। जयप्रकाश नारायण के अनुसार राज्य व्यक्तियों का गणितीय योग नहीं है।
3. संसदीय लोकतंत्र में शासन अल्पमत का शासन होता है क्योंकि निर्वाचन में समस्त प्रत्याशियों में से सबसे अधिक मत पाने वाले प्रत्याशी को विजयी घोषित कर दिया जाता है, भले ही वह बहुमत का प्रतिनिधित्व नहीं करता हो। कई बार बहुत कम मतदाताओं का प्रतिनिधि बन कर रहता है इसलिए अल्पमत का शासन होता है।
4. लोकतंत्र की धारणा के अनुसार सत्ता का विकेन्द्रीकरण होना चाहिये परन्तु व्यवहार में सत्ता का केन्द्रीकरण दिखायी देता है। इस केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति के कारण सत्ता पर जनता का कोई प्रभावशाली नियन्त्रण नहीं रहता है। केन्द्रीकरण लोकतंत्र की धारणा के विपरीत है।
5. सिद्धान्त: यह माना जाता है कि राजनीतिक दलों का गठन राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय हितों की रक्षा के लिए करते हैं। किन्तु व्यवहार में प्रत्येक दल सत्ता की राजनीति करता है। चुनाव होने पर जनता का प्रतिनिधि बनने के बजाय यह दल का प्रतिनिधि बन जाता है और वह दलीय नियंत्रण और अनुशासन के अधीन कार्य करता है। इस दलीय व्यवस्था के कारण वह न (जनता का प्रतिनिधि) स्वामी बना जाता है और स्वामी (जनता) पीछे चलने वाली सेवक बन जाती है। जनता की भागीदारी नाममात्र की रह जाती है। दल राज्य के भीतर एक राज्य का रूप ले लेते हैं जिन पर जनता का कोई नियंत्रण नहीं होता है। यह कैसा लोकतंत्र है?
6. संसदीय लोकतांत्रिक प्रणाली के अत्यधिक खर्चीली होने के कारण' साधनहीन, सुयोग्य व्यक्ति जनता का प्रतिनिधि नहीं बन सकता। इसलिए लोकतंत्र वर्ग या बड़े-बड़े संगठनों व दबाव समूहों के हाथों से बंधक बन जाता है। चुनाव को राजनीतिक रूप से जागरूक करने के बजाय सार्वजनिक रूप से नैतिक मूल्यों का अवमूल्यन करते हैं।

उपरोक्त आधारों पर जयप्रकाश नारायण ने पश्चिमी संसदीय लोकतंत्र की आलोचना की है।

II जयप्रकाश नारायण की लोकतंत्र की अवधारणा:

जयप्रकाश नारायण की लोकतंत्र सम्बन्धी धारणा एवं नैतिक धारणा है जिसे उन्होंने 'सर्वोदयी लोकतंत्र' या 'लोक स्वराज्य' कहा है। जिसे अनेक नाम दिये' हैं जैसे- सहगामी लोकतंत्र, दलविहीन लोकतंत्र, सावयवी लोकतंत्र, समुदायवादी लोकतंत्र इत्यादि'।

III सामुदायिक लोकतन्त्र में सत्ता के विकेन्द्रीकरण की संरचना:

जयप्रकाश नारायण ने सत्ता के विकेन्द्रीकरण की ग्राम स्तर से लेकर राष्ट्र स्तर तक पाँच स्तरीय योजना प्रस्तुत की है।

1. **ग्राम-स्तर:** ग्राम सभा सामुदायिक लोकतन्त्र की आधारभूत इकाई होगी। जिसे ग्राम से सम्बन्धित सभी विषयों पर अन्तिम निर्णय लेने का अधिकार होगा तथा कार्यपालिका के रूप में ग्राम पंचायत को चुनने का अधिकार होगा।
2. **क्षेत्रीय-स्तर:-** इस स्तर पर पंचायत समिति प्रमुख संस्था होगी। जिसका चुनाव उस क्षेत्र की ग्राम पंचायतों के सदस्यों के द्वारा किया जायेगा।
3. **जिला-स्तर:-** जिला स्तर पर 'जिला-परिषद्' होगी। जिला परिषद् का गठन उस क्षेत्र में आने वाली पंचायत समिति के द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों के द्वारा होगा।
4. **प्रान्तीय-स्तर:-** किसी प्रान्त में स्थित जिला समुदायों से प्रान्तीय सभा का गठन होगा। प्रान्तीय स्तर पर कार्यपालिका शक्तियों का प्रयोग प्रान्तीय सभा द्वारा गठित समितियों द्वारा सामूहिक रूप से किया जाएगा।
5. **राष्ट्रीय-स्तर:-** सामुदायिक लोकतन्त्र के राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रीय सभा होगी। राष्ट्रीय सभा के प्रतिनिधियों का निर्वाचन प्रान्तीय सभाओं के सदस्यों के द्वारा किया जायेगा। राष्ट्रीय सभा अपनी कार्यपालिका की नियुक्ति करेगी जो उसके प्रति उत्तरदायी होगी।

जयप्रकाश नारायण सामुदायिक लोकतंत्र का आधार पंचायत-राज व्यवस्था को बनाना चाहते थे जिससे पंचायत-राज के माध्यम से लोक-स्वराज्य' की स्थापना की जा सके। जयप्रकाश नारायण की सत्ता के विकेन्द्रीकरण की योजना महात्मा गाँधी के सामुद्रिक तरंगों के सिद्धान्त के समान दिखाई देती है।

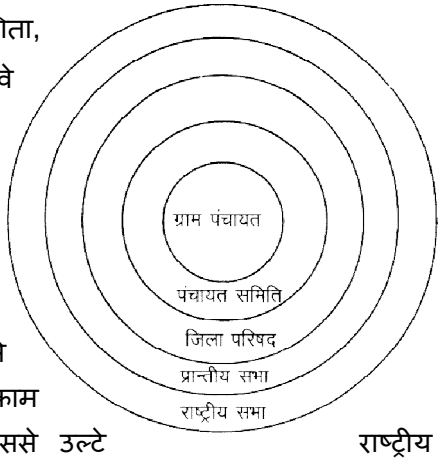

जयप्रकाश नारायण जन सहयोग, जन-सहभागिता, जन-स्वीकृति से लोकतन्त्र की स्थापना करना चाहते हैं। वे शासन हस्तान्तरण का बहाव पश्चिम के पिरामिड की तरह जिसमें सत्ता का केन्द्र सबसे ऊपर व सबसे कम शक्ति सबसे नीचे होती है। जबकि जयप्रकाश नारायण ने 'लोक स्वराज्य' में लिखा है "मेरा मन भी वैसा ही सोचता है जैसा अक्सर गाँधीजी जोर देते रहते थे। जिसमें सरकार को नीचे के स्तर से ऊपर की ओर ले जाना चाहिए। प्रत्येक उच्चतर स्तर पर कम से कम काम और कम से कम शक्ति व सत्ता होनी चाहिए। जिससे उल्टे राष्ट्रीय पिरामिड को सीधा किया जा सके ताकि लोकतंत्र का पिरामिड सही अर्थो में पिरामिड दिखाई दे।

" इस अवस्था में सबसे नीचे वाले स्तर पर सबसे अधिक काम, सबसे अधिक शक्ति व सत्ता होगी। प्रत्येक स्तर के लोग अपने कार्यो को निष्ठा एवं पूरी जिम्मेदारी के साथ पूरा करेंगे। इस प्रकार की व्यवस्था में प्रत्येक को अपने कार्यो को नियन्त्रित एवं नियमित करने का पूरा अवसर मिलेगा। लोकतन्त्र की इस प्रकार की अवस्था स्वराज्य के नजदीक की अवस्था है।

इस प्रकार के सहभागी लोकतन्त्र में सत्ता का बहाव नीचे से ऊपर की चलेगा, न कि ऊपर से नीचे की ओर जयप्रकाश नारायण का सहभागी लोकतन्त्र स्वःशासित, स्व: पर्याप्त, कृषि-औद्योगिक ग्रामीण व्यवस्था पर आधारित है जिसमें जनता की समितियाँ बनाकर काम करना' चाहिए। लोक समितियों के कार्यो पर महत्व देते हुए जयप्रकाश ने कहा था कि एक लोकतन्त्र की सफलता के लिए समितियों का होना आवश्यक है। "लोक समितियों की, उपयोगिता, कार्यविधि और लक्ष्य निम्नवत हैं-

1. लोक समितियाँ जनता और अपने प्रतिनिधियों के बीच कडी का काम करेगी। जनता का यह कर्तव्य है कि वह देखे कि निर्वाचित प्रतिनिधि अपने कर्त्तव्यों पालन निष्ठा एवं ईमानदारी से कर रहे हैं।
2. जनशक्ति को अन्याय के प्रति संगठित एवं विकसित करें।
3. दलित और शोषित वर्ग के हितों की रक्षा करे और जाति, वर्गो के से राजनीति को मुक्त रखे।
4. ग्राम स्तर की जनसमितियों का कार्य लोकतन्त्रीय संस्थाओं को परामर्श और उनका मार्गदर्शन करना है।

जयप्रकाश नारायण ने कहा "राजनीतिक लोगों और लोकसभा तथा ,विधान सभा के हाथों से कामों को छीनकर इन्हें वापस लोगों को सौंपने का काम हमारा उद्देश्य है।

जयप्रकाश नारायण ने सन 1977 में जनता सरकार की स्थापना बाद उन्होंने देश के प्रत्येक गाँव में जनता की समितियाँ बनाने की अपील की इनका विश्वास कि नागरिक अधिक से अधिक कार्य करे और सरकार के कार्यो पर नियंत्रण रखे। जो कि लोकतन्त्र की आधारशिला है।

इस प्रकार लोक समिति अपने प्रतिनिधियों के कार्यो की निगरानी, एक प्रहरी की तरह कार्य करेगी। लोक समितियों द्वारा लोगों का विश्वास प्राप्त किया जायेगा रचनात्मक कार्यो में जनता की साझेदारी बढ़ाये और उन्हें अहिंसक कार्यवाही का प्रशिक्षण देना समितियों का काम है। ये समितियाँ आम जनता के द्वारा चुनी जानी चाहिए। "लोक समितियों द्वारा ये सब काम होंगे तभी गाँव की जनता समझेगी कि स्वराज्य का सच्चा सुख गरीब के घर भी पहुंच रहा है।

जयप्रकाश नारायण व्यक्ति का सन्तुलित एवं समन्वित विकास करना चाहते हैं। वे वर्ग-विहीन, जाति-विहीन, दल-विहीन समाज की स्थापना करना चाहते थे। उनका राजनीतिक पार्टियों में कोई विश्वास नहीं था क्योंकि उनका मानना है कि ये सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था को नष्ट भ्रष्ट कर देती है जयप्रकाश नारायण आशावादी है। उनका सहभागी लोकतंत्र का विश्वास, जनता को स्वःशासित होने की क्षमता पर आधारित हैं। उन्होंने कहा है कि में प्रशासन की कार्यवाही पर

जनता द्वारा निगरानी रखना, न केवल अधिकार बल्कि उनका कर्त्तव्य भी है। इस समिति में लोक प्रतिनिधि अपने को जनता का स्वामी नहीं वरन जनता सेवक समझेंगे।

जयप्रकाश नारायण ने यह माना है कि राजनीतिक विकेन्द्रीकरण आर्थिक विकेन्द्रीकरण के बिना प्रभावहीन ही है, बेकार है। उनके सामुदायिक लोकतन्त्र में "अर्थव्यस्था' सहयोगी और सहभागी होगी। " वे एक आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था बनाना चाहते हैं, कृषि और उद्योग में सन्तुलन रहेगा। "अत: अर्थव्यवस्था का उद्देश्य समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करना हैं, न कि व्यक्तिगत लाभ कमाना।"

लोकतन्त्र को भ्रष्ट होने से रोकने के लिए जयप्रकाश ने निम्नलिखित सुझाव दिये हैं:

1. निर्वाचनों का राष्ट्रीयकरण।
2. चलते फिरते मतदान केन्द्र की व्यवस्था की जाय।
3. निर्वाचन पद्धति के स्थान पर जनगणना पद्धति का प्रारम्भ हो।
4. काम धन्धे एवं संख्या के अनुसार व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था हो।
5. सशक्त विरोधी दल का विकास हो।
6. निर्वाचन का सम्पूर्ण व्यय सरकार को वहन करना चाहिए।
7. व्यापारिक प्रतिष्ठानों, समितियों से धन लेने की अपेक्षा दलों की सदस्यता शुल्क पर निर्भर रहना चाहिए।
8. विकेन्द्रीकरण राजनीतिक एवं आर्थिक दोनों क्षेत्रों में होना चाहिए।
9. ग्राम पंचायतों को प्रमुख इकाई माना जाय उनमें सभी निर्णय सर्व सम्मत ढंग से होने चाहिए।
10. ग्राम पंचायत ब्लाक पंचायतों के सदस्यों को चुने। उनके सदस्य जिला पंचायती एवं जिला पंचायतें राज्यों के विधान मण्डलों को चुनने एवं केन्द्रीय विधान मण्डल को चुने।
11. राजनीतिक दलों के दोषों के कारण जयप्रकाश नारायण निर्दलीय लोकतन्त्र के समर्थक थे। यदि पूरी तरह से दलों का उन्मूलन सम्भव नहीं है तो उनकी भूमिका कम से कम होनी चाहिए।

जयप्रकाश नारायण के सपनों का लोकतन्त्र एक सहभागी लोकतन्त्र, सामुदायिक लोकतन्त्र,सावयवी लोकतन्त्र और निर्दलीय लोकतन्त्र है जिसमें सबसे नीचे ग्राम पंचायत है। उनके ऊपर खण्ड, जिला प्रदेश, राज्य पंचायत एवं केन्द्रीय पंचायत संसद है।

श्री सच्चिदानन्द जी के शब्दों में "लोकतन्त्र के सम्बन्ध में जयप्रकाश नारायण की धारणा है कि उसमें लोक की प्रधानता हो और तन्त्र गौण हो। वर्तमान लोकतन्त्र में तन्त्र प्रधान और लोक गायब हो गया है इसलिए जयप्रकाश चाहते हैं कि जनता संगठित होकर अपना काम काज स्वयं चलाये। जनता संगठित होकर स्वयं शासन करे। ऐसा लोकतन्त्र विकेन्द्रित राज्य व्यवस्था में ही सम्भव है।"

बोध प्रश्न -5

प्रश्न: जयप्रकाश नारायण के लोकतंत्र की अवधारणा को स्पष्ट करें।

उत्तर: .....

.....

16.3.3 लोकनीति

जयप्रकाश नारायण राजनीतिक शक्ति का पूरी तरह विकेन्द्रीकरण करना चाहते हैं। राजनीतिक विकेन्द्रीकरण की मूल इकाई गाँव है। सबसे अधिक काम, शक्ति, सत्ता के नीचे स्तर पर होगी और सबसे कम काम, शक्ति, सत्ता ऊपर पर होगी। उनका सहभागी लोकतन्त्र, सावयव लोकतन्त्र या सामुदायिक लोकतन्त्र एक सर्वोदय कार्यक्रम है।

इसमें मानव के लिए शक्ति और समृद्धता है। यदि हम आपनी आवश्यकताओं को कम कर दें, तो समानता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व से एक साथ रह सकते हैं। जीवन मे एक अनुशासन जरूरी है। जब मानव अपने व्यवहार को नियमित, नियन्त्रित, शासित करने में सक्षम हो जायेगा तब किसी बाहरी सत्ता का उस पर कोई नियंत्रण नहीं रहेगा। सभी जगह राज्य के शासन की जगह लोगों का शासन, राज्य के कानून की जगह जनता का कानून है, राज्य कीं शक्ति की जगह जनता की शक्ति है। अर्थात् राजनीति की जगह लोकनीति और राज्य शक्ति की जगह लोक शक्ति का विकास होगा।

इसलिए जयप्रकाश नारायण राजनीति का विकल्प, लोकनीति या तीसरी शक्ति का विकास करना चाहते हैं। "इस प्रकार की वैकल्पिक शक्ति स्वाभाविक रूप से हिंसा शक्ति की विरोधी होगी एवं दण्ड शक्ति से भिन्न होगी। इसीलिए इसको स्वावलम्बी नैतिक शक्ति या तीसरी शक्ति मानते हैं।

लोकनीति और लोकशक्ति के बिना राजनीतिक व्यवस्था व सामाजिक परिवर्तन निरर्थक हो जायेंगे। लोगों का सामाजिक, मानसिक, नैतिक, बौद्धिक, राजनीतिक व समाज में सामाजिक न्याय, समानता, स्वतंत्रता के लिए लोक शक्ति आवश्यक है जिससे वर्ग-हीन, राज्य-हीन व्यवस्था की स्थापना हो सकती है। यह हिंसा शक्ति और दण्ड-शक्ति से सम्भव नहीं है।

जयप्रकाश नारायण ने बताया कि सर्वोदय की राजनीति भी राजनीति है परन्तु यह राजनीति अलग प्रकार की है। यह जनता की राजनीति है, लोक नीति है। जनता शक्ति है। इसका लक्ष्य सत्ता प्राप्ति करना नहीं, सत्ता के सभी केन्द्रों को तोड़ना है। यह गाँव की शक्ति है। आज 'डेलीगैटेड डैमोक्रेसी' है, पार्टीसिपेटिंग डेमोक्रेसी नहीं है।

राज्य की हिंसा शक्ति और दण्ड शक्ति दोनों ही मानव समाज को समस्याओं से मुक्त कराने में असफल रही हैं। दण्ड शक्ति जो कि राज्य शक्ति की प्रक्रिया है। ऐसी स्थिति में मानव को अपनी समस्याओं से मुक्ति दिलाने के लिए एक तीसरी शक्ति की आवश्यकता है। यह वही शक्ति है जिसको महावीर, बुद्ध, ईसा ने बनायी यानी प्रेम, अहिंसा, करूणा की शक्ति। हमें राजसत्ता से अलग रहकर तीसरी शक्ति का विकास करना है। इसीलिए गाँधीजी ने कहा था कि जो अहिंसा में विश्वास करता है, उसे राजनीति में नहीं जाना चाहिए। इसीलिए विनोबाजी ने लोक सेवकों को राजनीति में जाने की सलाह नहीं दी और राजनीति के बदले लोकनीति की कल्पना की। जयप्रकाश नारायण ने विनोबाजी के साथ लोकशक्ति व लोकनीति बनाने के लिए, व्यापक प्रयोग किये, इन प्रयोगों में काफी हद तक सफलता भी मिली थी।

16.3.4 सम्पूर्ण क्रान्ति की अवधारणा:

देश की सम्पूर्ण व्यवस्था-संरचना को बदलने के लिए अपने जीवन' के उत्तरार्द्ध में उन्होंने सम्पूर्ण क्रान्ति का आहवान किया। उन्होंने इस क्रान्ति का वाहक युवा, जाग्रत, शैक्षिक एवं बौद्धिक वर्ग को बनाया। इस क्रान्ति में रचनात्मक कार्यक्रम और विघटनात्मक या कार्यक्रमों में एक अनुपम अद्‌वितीय समन्वय देखने को मिलता है। उस समय देश शासन एवं प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार, मंहगाई, बेरोजगारी, शासन में उभरती हुई अधिनायकवादी प्रवृत्तियां एवं सामाजिक जीवन में असमानता, अन्याय और समस्त सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक बुराइयों को समाप्त कर वे एक न्यायपूर्ण संतुलित, समतावादी और जागरूक समाज गठन करना चाहते थे।

पहली स्वतंत्रता की लड़ाई राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने लड़ी और दूसरी स्वतंत्रता व नागरिक अधिकारों की लडाई जयप्रकाश नारायण ने लड़ी। पहली स्वतंत्रता की लड़ाई में भारत को ब्रिटिश साम्राज्य से मुक्ति दिलायी और दूसरी लड़ाई भी उसी की तरह महत्वपूर्ण है। इसने भारत में लोकतांत्रिक मूल्यों को बनाए रखने के लिये आवाज उठाई और गृह शासकों की तानाशाही से मुक्ति दिलायी जो कि कई तरह से ब्रिटिश साम्राज्य की तानाशाही से बुरी थी। गाँधीजी ने भारत को ब्रिटिश साम्राज्य की अधिनायकता से मुक्ति दिलायी जबकि जयप्रकाश नारायण जो कि भारत के दूसरे मुक्ति दाता है, ने राष्ट्र को घरेलू निरंकुशता से मुक्ति दिलायी। उन्होंने शान्तिपूर्ण तरीके से भारत में एक स्वतंत्र समाज और लोकतांत्रिक प्रक्रिया को स्थापित करने का प्रयास किया।

बिहार आन्दोलन एक छात्र आन्दोलन था परन्तु उसमें ग्रामीण और शहरी लोगों ने भी भाग लिया और एक समग्र जनता का आन्दोलन बन गया। जय प्रकाश नारायण ने यह माना कि बिहार का आन्दोलन एक ऐसा संघर्ष है, जिसमें एक तरफ छात्र शक्ति जन-शक्ति व दूसरी तरफ राज्य शक्ति है। यह एक तरह से सम्पूर्ण क्रान्ति का सूक्ष्म परीक्षण था यह राज्य शक्ति और लोकशक्ति के बीच संघर्ष था। यह बिहार आन्दोलन केवल बिहार तक ही सीमित नहीं बल्कि देश के अनेक भागों में भी फैल गया। कांग्रेस सरकार के प्रबल विरोध के बावजूद भी यह आन्दोलन पंजाब, राजस्थान, दिल्ली, हरियाणा, मध्य प्रदेश, उत्तरप्रदेश इत्यादि राज्यों में फैल गया।

उन्होंने सम्पूर्ण क्रान्ति का अर्थ बहुत व्यापक बताया जो अजीत भट्टाचार्य मानते हैं- 'यह सम्पूर्ण क्रान्ति एक निरन्तर प्रक्रिया है जो नैतिक सिद्धांतों से प्रेरित है, न कि भौतिक सिद्धान्तों से। " इसमें मुख्यत: दो (निरन्तर और नैतिक) शब्दों पर जोर दिया गया है। सम्पूर्ण क्रान्ति की अवधारणा लोक युद्ध के समान दिखायी देती है। क्योंकि माओ निरन्तर लोक युद्ध की बात करते हैं। इस तरह सम्पूर्ण क्रान्ति को नैतिक एवं शान्ति पूर्ण साधनों पर आधारित निरन्तर लोक युद्ध मान सकते हैं।

यह सम्पूर्ण क्रान्ति समस्त जनता की क्रान्ति है। इस क्रान्ति का मोर्चा केवल राजधानियों में नहीं, बल्कि गाँव- गाँव, शहर -शहर, हर एक कार्यालय, विद्‌यालय और कारखाने में है। यहाँ तक कि प्रत्येक घर में है। यह मोर्चा हर एक व्यक्ति के अन्दर भी है क्योंकि हमें अपने पुराने और गलत संस्कारों से लड़ते रहना है। हम एक नया समाज बनाना चाहते हैं इसके

लिए हमें सरकार, समाज, शिक्षा, चुनाव, बाजार और विकास योजनाओं इत्यादि एक-एक क्षेत्र में परिवर्तन लाना होगा।

सम्पूर्ण क्रान्ति में मानसिक मनोवृति, दृष्टिकोण, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, नैतिक एवं शैक्षिक व्यवस्था में क्रान्ति कर और उन्हें जनता की शक्ति (लोक शक्ति) पर आधारित करना है। जयप्रकाश नारायण का मानना है कि सात प्रकार की क्रान्तियों (सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, शैक्षणिक, मानसिक या नैतिक एवं बौद्धिक् या वैचारिक) से मिलकर एक सम्पूर्ण क्रान्ति बनती है।

सम्पूर्ण क्रान्ति के विविध आयाम इस प्रकार हैं :-

1. सम्पूर्ण क्रान्ति के माध्यम से ऐसे समाज की स्थापना करने का प्रयास करते हैं जो न्यायनिष्ठ संतुलित और समतावादी हो। समाज में विद्यमान ऐसी संस्थाऐं, परम्पराएं और मान्यताएं एवं रीतिरिवाज जो शोषणमूलक अनैतिक और अमानवीय मान्यताओं पर आधारित हों, उन्हें समाप्त किया जाए। सम्पूर्ण क्रान्ति में समाज की ऐसी सभी कुरीतियों एवं कुसंस्कारों (जैसे- अस्पृश्यता, छूआछूत, ऊँच-नीच का भेदभाव, दहेज, मृत्यु-भोज, पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन में स्त्री व पुरूष की परम्परागत असमानता) इत्यादि सामाजिक बुराइयों के विरूद्ध संघर्ष की आवश्यकता है।
2. जयप्रकाश नारायण सम्पूर्ण क्रान्ति के माध्यम से अर्थ-व्यवस्था के क्षेत्र में क्रान्ति करके शोषण मूलक, असमानता, वर्ग भेद, प्रदूषण बढ़ाने वाली पूंजीवादी केन्द्रीकृत अर्थ-व्यवस्था में सुधार कर एक ऐसी अर्थ-व्यवस्था बनाना चाहते है जिससे अहिंसक विकेन्द्रीकृत और आत्मनिर्भर व्यवस्था की स्थापना हो सके।
3. सम्पूर्ण क्रान्ति के माध्यम से एक ऐसा परिवेश एवं वातावरण बनाने का प्रयास किया गया जिसमें भारत की भारतीयता, संस्कृति-मूल्य और परम्पराएं पुन: प्रतिष्ठित हो सके। सदियों से भारत का मानवतावादी और आध्यात्मिक दृष्टिकोण रहा है। उन्होने सम्पूर्ण क्रान्ति की प्रक्रिया में उदारता तथा सभी के हित में अपना हित खोजने की समृद्धि भारतीय सांस्कृतिक परम्परा की पुन: प्रतिष्ठा की आशा प्रकट की सत्य, अहिंसा, करूणा, त्याग, सहयोग एवं सदाचार इत्यादि भारत की सांस्कृतिक परम्परा रही है।
4. सम्पूर्ण क्रान्ति से राजनीतिक क्षेत्र में भी क्रान्ति करनी होगी जिसका उद्देश्य एक नयी राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना करना है जिसमें लोगों की पूर्ण एक सक्रिय सहभागिता हो। जिसका प्रत्येक सदस्य यह महसूस करेगा कि इस राजव्यवस्था में मेरा भी महत्वपूर्ण स्थान है। इस नवीन राज व्यवस्था में व्यक्ति साध्य है, साधन नहीं। जयप्रकाश नारायण राजनीतिक सत्ता को, राजनीतिक शक्ति को पूरी तरह से विकेन्द्रित, करना चाहते हैं क्योंकि उनके लोकतंत्र में शक्ति जनता के पास होगी। जयप्रकाश लोगों में 'राजनीति' की जगह 'लोकनीति' और राज शक्ति' की जगह 'लोक शक्ति' करने पर जोर देते हैं। उनके लोकतंत्र का यही आधार है। लोकतंत्र में शक्ति और सत्ता नीचे के लोगों के पास होनी चाहिए।

5. शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो व्यक्ति को आत्मनिर्भर एवं स्वावलम्बी बना सके जो जीवन के लिए उपयोगी हो। आज की शिक्षा में तो केवल डिग्री मिलती है। बाद में डिग्री लेकर नौकरी की तलाश में भटकना पड़ता है और नौकरियां सबको कहां मिलती। हैं। शिक्षा में क्रान्ति का उद्देश्य तब तक पूरा नहीं हो पायेगा जब तक शिक्षा रोजगार नहीं बनेगी इसलिए उन्होंने डिग्री और रोजगार के सम्बन्ध को समाप्त करने की आवश्यकता बताई और कहा डिग्री व रोजगार का सम्बन्ध विच्छेद किये बिना कोई मौलिक परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

6. जयप्रकाश नारायण की सम्पूर्ण क्रान्ति का केन्द्र बिन्दु 'व्यक्ति है। व्यक्ति साध्य है, साधन नहीं। उनके अनुसार व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करने के लिए भौतिक एवं आध्यात्मिक तथा नैतिक आवश्यकता होती है। जयप्रकाश नारायण भौतिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति एक साथ सुनिश्चित करना चाहते हैं। सच्चिदानन्द सिन्हा ने कहा है व्यक्ति और समाज में परिवर्तन की प्रक्रिया साथ-साथ चलेगी। क्रान्ति एक दोहरी प्रक्रिया है जिसमें एक तरफ व्यक्ति का बौद्धिक, नैतिक,, सांस्कृतिक परिवर्तन दूसरी तरफ राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक संरचना व व्यवस्था व प्रक्रिया में परिवर्तन होना चाहिए।

7. महात्मा गाँधी की तरह जयप्रकाश नारायण यह मानते हैं कि विचारों' में क्रान्ति का सूत्रपात किये बिना समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन सम्भव नहीं है। अपने में, पड़ोस में, समाज में, राज्य में, देश में विद्यमान व्याप्त बुराइयों के विरूद्ध संघर्ष कर नव–निर्माण की स्थिति, विचार सम्पूर्ण क्रान्ति के माध्यम से बनाये जा सकते हैं। 'बौद्धिक क्रान्ति व्यक्ति की सामाजिकता पर बल देती है।

सम्पूर्ण क्रान्ति में तीन मुख्य तत्व हैं- व्यापक, सम्पूर्ण, सामुदायिक (3सी)। सम्पूर्ण क्रान्ति व्यापक और सम्पूर्ण परिवर्तन, सम्पूर्ण समाज की सहभागिता से शान्तिपूर्ण निरन्तर प्रक्रिया के संघर्ष और रचनात्मक कार्यो से ही सम्भव हो सकती है। जयप्रकाश नारायण का मानना है मैंने इसे सम्पूर्ण क्रान्ति कहा है, यह कोई गद्दी की लडाई नहीं है, सत्ता हथियाने की लडाई नहीं बल्कि यह सम्पूर्ण व्यवस्था परिवर्तन, प्रक्रिया परिवर्तन और नव-निर्माण की लड़ाई है। यह क्रान्ति कोई किसी अभिजन वर्ग की क्रान्ति नहीं है, यह समग्र जनता की क्रान्ति है।

जयप्रकाश नारायण सम्पूर्ण क्रान्ति का नेतृत्व नव-युवकों को सौंपना चाहते थे क्योंकि नव-युवकों में अन्याय का विरोध करने की क्षमता अधिक होती है। यदि वे अन्याय का विरोध नहीं करेंगे तो उनका भविष्य अन्धकार में होगा। नव-युवकों में दूसरे लोगों की अपेक्षाकृत चरित्र शुद्ध होता है। वे शारीरिक और मानसिक रूप से अधिक शक्तिशाली व उत्साही होते हैं। इसलिए क्रान्ति का नेतृत्व युवकों को ही करना चाहिए।

सिद्धराज ढड्डा के अनुसार सम्पूर्ण क्रान्ति एक शान्तिमय आन्दोलन है, क्रान्ति के साधन शान्तिमय है। इसका कवच सच्चाई है, अहिंसा और सत्य जनता के लडाई के हथियार और ढाल हैं। निर्भयता उसकी प्राण वायु है। निर्दलीय भावना इस आन्दोलन का पथ्य है। जनता का हित सर्वोपरि होना चाहिए, यह सम्पूर्ण जनता की मुक्ति का आन्दोलन है कार्यकर्त्ताओं को

सत्ता के लालच में कोई काम नहीं करना चाहिए। इस आन्दोलन के दो पहलू हैं- सहयोग और संघर्ष।

यह सम्पूर्ण क्रान्ति तभी सफल होगी जब समस्त जनता का सहयोग मिलेगा। हमें किसी व्यक्ति से भेदभाव नहीं करना चाहिए। भले ही वे सत्ताधारी के पक्ष में हो या विरोध में। कोई व्यक्ति दल और संगठन अछूता नहीं है। हमें तो सभी का सहयोग प्राप्त करना है

हमें संघर्ष में अहिंसक साधनों की जगह शान्तिपूर्ण साधनों को अपनाना चाहिए क्योंकि अहिंसा में गुप्त संगठनों और गुप्त साधनों तथा भूमिगत साधनों के लिए कोई जगह नहीं है। अहिंसा में सब कुछ खुला हुआ है। कुछ भी छिपा हुआ नहीं है। जयप्रकाश नारायण ने सम्पूर्ण क्रान्ति के समय नारा दिया- "हमला चाहे जैसा हो, हाथ हमारा नहीं उठेगा'। अत: इस नारे से प्रतीत होता है उनका सम्पूर्ण क्रान्ति का आन्दोलन एक शान्तिपूर्ण आन्दोलन था।

जयप्रकाश नारायण की सम्पूर्ण क्रान्ति की तकनीक न तो पूरी तरह से हिंसात्मक है और न ही पूरी तरह से अहिंसात्मक है यह जनता के शान्तिपूर्ण कार्यो की व्यवहारिक तकनीक है। उनके लिए क्रान्ति एक लगातार चलने वाली प्रक्रिया है जिसमें धीरे-धीरे पूर्णता प्राप्त किया जा सकता है। उनकी तकनीक के अनुनय, विनय, विचार-विमर्श, सलाह मुख्य साधन है। अत: इसमें व्यावहारिकता, मानवतावादी और राष्ट्रवादिता और नैतिकता के स्पष्ट दर्शन होते हैं।

बोध प्रश्न- 6

प्रश्न : सम्पूर्ण क्रान्ति से आप क्या समझते हैं?

उत्तर: .....

.....

16.3.5 विश्व-समाज (जय जगत्) की अवधारणा:

जय प्रकाश नारायण विश्व समाज के सिद्धान्त को आदर्श मानते थे। उनका मानना था कि संगठित सैनिकवाद और समग्रवादी व्यवस्थाओं ने जो विनाश का ताण्डव मचा रखा है उसके मुकाबले में विश्व समाज ही एशिया तथा अफ्रीका की दलित मानवता के साथ न्याय कर सकता है तत्कालीन समय में विश्व में शीतयुद्ध अपनी चरम सीमा पर था। सम्पूर्ण विश्व दो शक्ति गुटों में बंटा हुआ था। प्रत्येक गुट अपनी सर्वोच्चता सिद्ध करने में लगे हुए थे। शक्ति की राजनीति व कूटनीति की पूजा हो रही थी, उसे व्यवहार में भी लाया जा रहा था, उस राजनीति में आदर्श और सिद्धान्त की कोई जगह नहीं थी। जय प्रकाश नारायण का मानना था कि इस संकट की घड़ी में सम्पूर्ण मानवता को बचाने का दायित्व बुद्धिजीवी वर्ग का है उसे विश्व समाज (जय जगत) की भावनाओं का प्रसार करना चाहिए। आज विश्व को शक्ति राजनीति का सामना करने के लिए एक मानसिक क्रान्ति (लोक शक्ति) का विकास करने की आवश्यकता है जिससे सम्पूर्ण विश्व को भय और आंतक से बचाया जा सके।

16.4 सारांश

आधुनिक भारतीय राजनीतिक विचारकों में महात्मा गाँधी और विनोबा भावे के बाद जयप्रकाश नारायण का नाम आता है। जनता ने अपने इस लोकप्रिय नेता को 'लोक नायक' की

उपाधि से सम्मानित किया। जयप्रकाश नारायण जीवन भर भारत की सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक व्यवस्था में रूपान्तर के लिए नये-नये प्रयोग करने का प्रयास करते रहे। इसलिए उनकी विचार-यात्रा एक सीधी रेखा की तरह नहीं रही। उनकी विचार यात्रा तत्कालीन परिस्थितियों से प्रभावित रही। उन्होंने तत्कालीन भारत की राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक व्यवस्थाओं में गाँधीवादी मूल्यों व नैतिक मान्यताओं को लाने का प्रयास किया। वे अपने जीवन के आरम्भिक दिनों में समाजवादी रहे। उन्होंने भारतीय राजनीति एवं समाज में समाजवाद कै अनेक प्रयोग करे। वे भारतीय राजनीति को बुराइयों से मुक्त करके पुन: संरचना (Re-construction) करना चाहते थे। वे राजनीतिक व्यवस्था की शक्ति की राजनीति, सत्ता लोलुपता की राजनीति, हिंसा की राजनीति को लोकसत्ता और लोकनीति पर आधारित करना चाहते थे। उनका मानना था, कि सत्ता एवं शक्ति का पिरामिड अपने सिर के बल खड़ा है जिसमें सत्ता व शक्ति नीचे के स्तर पर कम है और ऊपर के स्तर पर अधिक है। जयप्रकाश नारायण उसे सीधा खड़ा करना चाहते थे जिसमें नीचे के स्तर पर सत्ता और शक्ति अधिक हो और ऊपर के स्तर पर सत्ता व शक्ति कम हो।

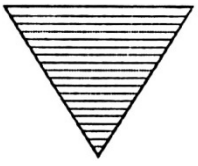

उल्टा पिरामिड

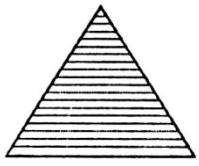

सीधा पिरामिड

जयप्रकाश नारायण लोकतात्रिक मूल्यों, स्वतंत्रता, समानता, बन्धुत्व की भावना, न्याय के पक्षधर थे। सन 1975 में आपातकाल के समय सम्पूर्ण क्रान्ति का आहवान इन लोकतांत्रिक मूल्यों को पोषित करने का प्रयास किया। स्वतंत्रता, समानता, बन्धुत्व की भावना, न्याय इत्यादि मूल्यों का व्यावहारिक प्रयोग होना चाहिए। स्वतंत्रता मेरे लिए आकाशदीप के समान है जो सबसे ऊपर है। जयप्रकाश नारायण इस प्रकार जीवन भर चिन्तन करते रहे।

16.5 अभ्यास प्रश्न

1. मार्क्सवाद तथा लोकतांत्रिक समाजवाद के विषय मे जय प्रकाश नारायण के विचारों की समीक्षा कीजिये।
2. जयप्रकाश नारायण के राजनीतिक विचार' विषय पर एक टिप्पणी लिखिये।
3. लोकनीति से क्या अभिप्राय है? लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के विषय में जयप्रकाश नारायण की क्या वैचारिक संकल्पनाएं हैं? समझाइये।
4. सम्पूर्ण क्रांति क्या है? सम्पूर्ण क्रांति के विविध आयामों की चर्चा कीजिये।

16.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. नारायण, जयप्रकाश : समाजवाद, सर्वोदय और लोकतंत्र, बिहार हिन्दी अकादमी, पटना, 1973।

2. वर्मा, वी.पी. : दि पोलिटिकल फिलोसोफी ऑफ महात्मा गांधी एण्ड सर्वोदय, लक्ष्मीनारायण, आगरा, 1959।

3. वर्मा, वी.पी. : मॉडर्न इंडियन, पोलिटिकल थॉट, लक्ष्मीनारायण, आगरा, 1967।

4. गुप्ता, आर.सी. : सोशियलिज़्म, डेमोक्रेसी एण्ड इंडिया, रामप्रसाद एण्ड संस आगरा, 1965।

ISBN - 13/978-81-8496-089-1